

मानस-चरितावली

रामकिंकर उपाध्याय

मानस-
चरितावली



मानस

बिरला अकादमी आफ

१

चरितावली

रचयिता
रामकिंकर उपाध्याय

आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

समर्पण

मानस चतुःशती के अवसर पर 'मानस-मुक्तावली' के लेखन के पश्चात् संभव है निष्क्रियता की ओर अभिमुख मेरा स्वभाव लम्बी अवधि तक लेखन से छुट्टी ले लेता। किन्तु प्रभु को यह अभीष्ट नहीं था। इसीलिए परम प्रेरक ने श्री घनश्याम दास जी बिरला के सुझाव के माध्यम से मानस-चरितावली के लेखन में लगा दिया। मानस-मुक्तावली के प्रकाशन से श्री बसन्त कुमार जी तथा श्रीमती सरला जी का आनन्दित होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि मानस चतुःशती के सन्दर्भ में बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर की ओर से श्रीरामचरितमानस जैसी कालजयी कृति के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये जायं उनकी ऐसी इच्छा थी। पर मानस-चरितावली के शीघ्र प्रकाशन के लिए इन दोनों की उत्सुकता कम नहीं थी। क्योंकि यह उनके लिए अपने पूज्य पिताजी के संकल्प और सुझाव को साकार रूप देने का प्रश्न था। अस्वस्थता के कारण जब कभी लेखन में अवरोध की स्थिति आई भी तो दम्पत्ति के सौजन्यमय विनत जिज्ञासा ने मुझे प्रेरित किया कि मैं इस कार्य को यथासाध्य शीघ्र पूरा करूं। फिर भी विलम्ब तो हुआ ही। संशोधन परि-वर्धन का क्रम भी चला। सच तो यह है कि किसी भी कृति को पूरा कर पाना मुझे सर्वदा कठिन प्रतीत होता है। लेखन के पश्चात् पुनः पढ़ते हुए भावों का नूतन प्रवाह मुझे पुनर्लेखन की प्रक्रिया में लगा देता है। पर मैं यह भी जानता हूं कि इस तरह तो कभी भी किसी कृति का पूरा हो पाना सम्भव ही नहीं है। भगवान् और भक्तों के चरित्र-लेखन में यह अपूर्णता भी इन चरित्रों की अनन्तता का ही संकेत है। इस अपूर्ण वृत्ति को पूर्ण के चरणों में अर्पित करते हुए यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता हूं कि 'कहत नसाइ होय हिइ नीकी। रीझहि राम जानि जन जी की ॥'

—रामकिंकर

संवत् २०३४ प्रथम संस्करण

चरितावली-क्रम

।। श्री रामः शरणं मम ।।

भूमिका

पिछले कुछ वर्षों में श्री राम और श्री कृष्ण, रामायण और महाभारत के काल-क्रम को लेकर अन्तहीन विवाद चलता रहा है। एक ओर राम एवं कृष्ण के सम्वन्ध में हमारी आस्तिक धारणा है तो दूसरी ओर पुरातत्त्व और इतिहास-वेत्ताओं की दृष्टि। इन दोनों में कभी सामंजस्य हो भी नहीं सकता। इसे मैं संग्रहालय और मन्दिर की दृष्टि कहना चाहूंगा। संग्रहालय और मन्दिर में स्थित प्रतिमाओं में कितना साम्य, पर कितनी दूरी। संग्रहालय की मूर्ति पर दृष्टि जाते ही काल, कलाकार और कला की स्मृति आती है। वहुधा इन प्रतिमाओं के साथ परिचय-पट्ट प्राप्त होता है, उसे हम ध्यान से देखते हैं। उसे पढ़कर हमारी काल-सम्वन्धी जिज्ञासा तृप्त होती है। कलाकार की कलागत सूक्ष्मताओं को देखकर व्यक्ति चकित हो जाता है। शिल्पकार के कौशल की सराहना करता है। वहां से संग्रहालय देखने का गर्व लेकर लौटता है। कभी-कभी इन मूर्तियों का वर्तमान मूल्य भी आंका जाता है और मूल्य के आंकड़े विस्मय की सृष्टि करते हैं। मन्दिर में प्रतिष्ठापित प्रतिमा के समक्ष पहुंचकर दर्शनार्थी श्रद्धा से नत हो जाता है। उसके समक्ष उसका आराध्य इष्टदेव होता है। उसकी जिज्ञासा काल, कलाकार और कला को लेकर नहीं होती क्योंकि मन्दिर में स्थित देवता उसके लिए भूत नहीं वर्तमान होता है। उसकी दृष्टि में वह जड़ पाषाण या धातु न होकर चैतन्य तत्त्व है। इसी-लिए उसका सारा व्यवहार भी चैतन्य की भांति होता है। वह अपने इष्ट का शृंङ्गार करता है। उसके समक्ष पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य अर्पित करता है। वह कभी नहीं पूछता कि इसका निर्माता कौन-सा कलाकार है क्योंकि वह अपने इष्ट को ही सृष्टि का रचयिता मानता है, और मूल्य पूछने की धृष्टता तो वह कर ही नहीं सकता। वह देवता के चरणों में द्रव्य अर्पित करता है पर उसका सम्वन्ध मूल्य से न होकर उसकी सामर्थ्य की सीमाओं से है। इसलिए उसके समर्पण में साधारण धातु की मुद्रा से लेकर स्वर्ण-मुद्रा या हीरक हार तक हो सकता है। वह मन्दिर से गर्व लेकर नहीं, उसे खोकर लौटता है। संग्रहालय में हमें वह दिखाई देता है जो दृष्टिगोचर हो रहा है। मन्दिर अगोचर को गोचर वनाने के लिए है।

व्यावहारिक दृष्टि से मन्दिर में जो कुछ भी है, वह काल, कलाकार और कला से ही सम्बन्धित है। इसे ही बुद्धिवादी सत्य कहेगा। पर आध्यात्मिक दृष्टि से यह खण्ड सत्य है। शिल्पकार मूर्ति का निर्माता है, यह सर्वथा स्थूल और अधूरा सत्य है। शिल्पकार स्वयं ही किसी अज्ञात रचयिता की कृति है उसमें जो चेतना और सामर्थ्य दिखाई देती है उसका मूल स्रोत कहां है? निर्माण से पहले उसके मन में जो भावमयी मूर्ति प्रकट होती है उसकी सृष्टि कौन करता है? वस्तुतः मूर्तिकार

अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। इन समस्त अभिव्यक्तियों के पीछे जो एक चिन्मय तत्त्व है वह अखण्ड सत्य है। वह चैतन्य तत्त्व शाश्वत है इसलिए वह कब व्यक्त दिखाई देता है इसका बहुत महत्त्व नहीं है। कालातीत ही काल विशेष में दिखाई देता है। सीमित में असीम को, जड़ में चैतन्य को तथा काल में कालातीत को खोज लेना ही आस्तिक दृष्टि है। मन्दिर इसी दृष्टि का प्रतीक है।

जिनकी दृष्टि संग्रहालयपरक है, उनके लिए यह सब समझना कठिन है। मन्दिर हमारी आस्तिक दृष्टि के प्रतीक हैं। हमारी आस्तिकता की परिधि कितनी व्यापक है इसका पता देव मन्दिरों में दिखाई देने वाली विविधता से लगता है। अलगाव से एकत्व का यह अनोखा दृष्टान्त है। मन्दिर के बहिरंग और अंतरंग रूपों में साम्य का तो प्रश्न ही नहीं है। उसमें स्थापित प्रतिमाएं भी सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न रूप में सामने आती हैं और यह भिन्नता भी यदि इष्ट के अलग-अलग रूपों को लेकर होती तो उसमें कुछ विशेष अटपटापन न होता, पर जब एक ही नाम वाले इष्ट भी प्रत्येक मन्दिर में भिन्न रूप में दिखाई देते हैं तब आस्था के अभाव में व्यक्ति का मन संशयग्रस्त हो सकता है.। किन्तु हमारी उपासना-पद्धति की विलक्षणता यही है कि अपने उपास्य को ऐतिहासिक मानते हुए भी हम उसे इतिहास के साधारण मानदण्डों से नहीं नापते हैं। राम और कृष्ण हमारी दृष्टि में इतिहास के पुरुष तो हैं ही पर इसके साथ ही हम यह जोड़ देते हैं कि वे साक्षात् ईश्वर हैं, जो काल-विशेष में मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं। उनके रूप-रंग का वर्णन करते हुए भी हम उनको अमित रूप धारण करने वाला स्वीकार करते हैं। इसलिए रूप की भिन्नता से हम भ्रमित नहीं होते। ऐतिहासिक व्यक्तियों के चित्र और चरित्रों की प्रामाणिकता को लेकर बहुधा विवाद छिड़ जाया करता है पर राम और कृष्ण के चित्र और चरित्र को लेकर इस प्रकार का विवाद व्यर्थ है। उनका ऐसा कोई प्रामाणिक चित्र प्राप्त नहीं है जिसे हाथ में लेकर हम मन्दिर की प्रतिमाओं से मिलाकर उनको प्रामाणिकता का प्रमाण-पत्र दे सकें। इसलिए एक ही इष्टदेव के अलग-अलग मन्दिरों में भिन्न रूप देखकर हम सभी के समक्ष श्रद्धा से नत होकर स्तुति-पाठ करने लगते हैं। विविध ग्रन्थों में कथाओं की भिन्नता का समाधान हम कल्पभेद में ढूंढ़ लेते हैं। प्रभु बार-बार अवतरित होते हैं इसलिए प्रत्येक कल्प के चरित्र में कुछ न कुछ भिन्नता होगी ही, इसे श्रद्धालु सहजभाव से स्वीकार कर लेता है। कठिनाई उन लोगों के समक्ष आती है जो श्रद्धा और विश्वासके तत्त्व को भुला कर केवल बौद्धिक और तार्किक आधार पर इसकी प्रामाणिकता के विवाद में उलझ जाते हैं। कभी न समाप्त.होने वाला यह विवाद हमें उस दिव्य आनन्द से वंचित कर देता है जो आस्तिक और श्रद्धालुओं को सहज प्राप्त हो जाता है।

पुराण, इतिहास और काव्य के अगणित मन्दिरों में शब्द-शिल्पियों के द्वारा भगवान् राम और उनके पार्षदों की अनेक अद्भुत प्रतिमाएं प्रतिष्ठापित हैं। उनमें कुछ साम्य है तो कुछ भिन्नताएं भी हैं। ये सभी हमारी श्रद्धा की केन्द्र हैं, वन्दनीय

हैं और इनके दर्शन से हमारे मन में श्रद्धा और सद्भाव का संचार होता है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति से लेकर तुलसीदास जैसे महान् शब्द-शिल्पियों के द्वारा जिन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ है, उनमें शिल्पियों की भावना और संस्कार की भिन्नता से जिस पार्थक्य की अनुभूति होती है, वह अलग-अलग भक्तों की भावनाओं की पूर्ति करती हुई अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। किसी प्रतिमा के मुख पर गम्भीरता छायी हुई है तो किसी के होंठों पर मन्द-मन्द हास्य है। किसी की आंखों में करुणा है तो कहीं अंग-अंग में शौर्य का साम्राज्य है। किस श्रद्धालु भक्त को कौन-सी भंगिमा आकृष्ट कर लेगी, इसे दावे से कौन कह सकता है! फिर भी मन्दिरों के आकर्षण में कुछ तारतम्य तो दिखायी देता ही है। किसी में अधिक भीड़ है तो किसी में कम। इस लोकप्रियता का क्रम भी बदलता रहता है। कुछ मन्दिर अपनी पुरातनता से श्रद्धा की सृष्टि करते हैं तो कुछ अपनी नवीनता से आकृष्ट कर लेते हैं। कहीं शृंगार की विशेषता भी आकर्षण का कारण बन जाती है। राम-चरित्र के अगणित मन्दिर होते हुए भी आज जनमानस के आकर्षण का केन्द्र वह मन्दिर है जिसके निर्माता तुलसी हैं। इस मन्दिर के केन्द्र में स्थापित है भगवान् राम की वह वाङ्मयी मूर्ति जिसमें सौन्दर्य और शौर्य का अद्भुत सामंजस्य है। धनुर्धर होते हुए भी जिनकी आंखों से करुणा बरस रही है। प्रत्येक अंग-प्रत्यंग ऐसा सांचे में ढला हुआ है कि 'जहां जाइ मन तहंइ लोभाई' की उक्ति सर्वथा सार्थक सिद्ध होती है। वे अनन्त गुणों के केन्द्र हैं। पर इस मन्दिर में और भी अनेकों वाङ्मयी मूर्तियां स्थापित की गई हैं। मन्दिर का सारा भित्ति-फलक रंग-बिरंगे चित्रों से सुसज्जित है। ऐसा लगता है कि इन मूर्तियों और चित्रों में जीवन अपनी समग्रता में साकार हो उठा है। जो हड़बड़ी में केवल इष्ट मूर्ति के सामने सिर झुकाकर भाग खड़े होते हैं, वे इस दिव्यमन्दिर के दर्शन का सच्चा आनन्द नहीं ले पाते हैं। इस लिए जो दर्शन का सच्चा आनन्द और फल प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इष्ट दर्शन के पश्चात् भित्ति-फलक पर निर्मित रंग-बिरंगी मूर्तियों को निकट से देखना चाहिए। मानस-चरितावली का उद्देश्य श्रद्धालु पाठकरूपी दर्शनार्थियों को इन मूर्तियों और चित्रों से परिचित कराना है। इनमें उन पात्रों और चरित्रों का साक्षात्कार होता है जो चिर पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन हैं। तुलसी ने इन चित्रों में जिन रंगों का प्रयोग किया है उनकी विशेषता यही है कि वे कभी धूमिल नहीं पड़ते। किन्तु इन मूर्तियों और चित्रों का अवलोकन करते हुए यह नहीं भूल जाना चहिए कि ये किसी पुरातन राजभवन की भित्ति पर अंकित चित्र नहीं हैं जहां व्यक्ति केवल पुरातन कला का साक्षात्कार करने के लिए जाता है। ऐसे महलों में प्रविष्ट होने के लिए मर्यादा का कोई विशेष बन्धन नहीं होता। वहां आप जूते पहने हुए भी चले जा सकते हैं और जहां से लौटकर उसकी चित्रकला का विश्लेषण करते हुए अपनी मित्र-मण्डली को प्रभावित कर सकते हैं। पर यह तो वह देव मन्दिर है कि जहां प्रविष्ट होने के कुछ विशेष नियम हैं। यहां प्रविष्ट होने के पहले बुद्धिवाद के जूते

को उतार देना आवश्यक है। यह बुद्धिवाद की निन्दा नहीं है क्योंकि जीवन के कण्टकाकीर्ण पथ पर यह व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है, इसलिए यह अनुपयोगी और अनावश्यक नहीं है। पर इसकी उपयोगिता की भी सीमाएं हैं। आस्तिकता के मन्दिर-प्रांगण में यह सर्वथा अनावश्यक है। भावना और उपासना के क्षेत्र से लौटकर व्यावहारिक जगत् में आते ही आप इसे पुनः धारण कर लें, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। पर यदि आप इसे लेकर मन्दिर के प्रांगण में जाना चाहते हैं तो यह आपकी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्ति और चित्र केवल कलात्मकता की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। उनका उद्देश्य चमत्कृत करना भी नहीं है। वे तो हमारे अन्तःकरण में श्रद्धा और सद्भाव की सृष्टि करने के लिए निर्मित हुए हैं। वे समालोच्य नहीं, पूज्य हैं। मानस के इन पात्रों का जो चरित्र-चित्रण किया गया है उसका उद्देश्य न तो काव्य-कला से चमत्कृत करना है और न उसमें वह तटस्थ विश्लेषण ही है जिसे श्रेष्ठ समालोचना का प्रतीक माना जाता है। देव-दर्शन में केवल पादत्राण ही नहीं, और भी अन्य ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें मन्दिर के प्रांगण के बाहर ही छोड़ दिया जाना चाहिए। इन त्याज्य वस्तुओं में से एक दण्ड भी है। दण्ड में अनेक गुण हैं पर देवता के समक्ष उसे लेकर जाना अशिष्टता है। प्रतीकात्मक अर्थों में तर्क की तुलना दण्ड से की जा सकती है। तर्क की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर भावना के पवित्र प्रांगण में तर्क-वितर्क सर्वथा अनावश्यक है। इसीलिए मानसाचार्य भगवान् शिव दर्शनार्थी पार्वती को प्रारम्भ में ही समाधान कर देते हैं :

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।
मत हमार अस सुनहु भवानी॥

जिनके लिए बुद्धि और तर्क ही सब कुछ है, उनका इस भव्य मन्दिर में कभी वास्तविक प्रवेश हो ही नहीं सकता। इसीलिए तुलसी मानस की सुगमता ही नहीं, उसकी अगमता की भी चर्चा करते हैं। ऐसा लगता कि देवभाषा से जनभाषा में रामकथा को लाकर उन्होंने उसे सुगम बना दिया है। इस सुगमता को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर इसके मानस नाम की सार्थकता में सन्देह होने लगता है। क्योंकि कैलास में स्थित मानसरोवर की यात्रा अत्यन्त दुर्गम है। अतः कवि से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इस सुगम ग्रन्थ की अगम मानस से तुलना सार्थक है ? गोस्वामी जी इसका उत्तर देते हुए यह स्वीकार कर लेते हैं कि यह अब भी अगणित व्यक्तियों के लिए अगम है। नगरों से दूर अरण्य और पर्वत के दुर्गम पथ को पार करता हुआ जब कोई यात्री चलता है तब वह यह आशा नहीं कर सकता कि वह पाथेय के अभाव में इस यात्रा को पूरा कर लेगा। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए राह खर्च रख लेता है। कुछ सामान तथा साथियों के साथ ही इस यात्रा की दूरी को पार करना सम्भव होता है। फिर सबसे बड़ी बात है यात्री के मन में आराध्य तीर्थ तक पहुंचने की ललक। तीर्थ का यह आकर्षण ही यात्री को

अपने निकट खींच लेता है। गोस्वामी जी मानस तीर्थ तक पहुंचने के लिए भी इन्हीं तीन वस्तुओं की आवश्यकता पर बल देते हैं, जिनके अभाव में इस मानस-सर की यात्रा सर्वथा अगम हो जाती है। वे तीनों वस्तुएं हैं—श्रद्धा, सत्संग और प्रेम :

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ।।

काव्य की भाषा में इसकी तुलना चाहे मन्दिर से की जाय अथवा तीर्थ से, दोनों के दर्शन के अपने कुछ विशिष्ट नियम होते हैं और उनके अभाव में इससे सच्चा लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में आधुनिक युग का एक संस्मरण याद आता है जिसका सम्बन्ध राजा जी (चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य) और घनश्याम दास जी से है। यह संस्मरण घनश्यामदास जी से ही सुनने को मिला था। घनश्याम दास जी ने राजा जी के समक्ष कभी रामायण के किसी पात्र को लेकर तर्क-वितर्क करने की चेष्टा की। राजा जी ने उन्हें टोकते हुए कहा कि 'इन ग्रन्थों का अध्ययन श्रद्धा बुद्धि से ही किया जाना चाहिए।' घनश्यामदास जी के मुख से यह संस्मरण सुनकर अच्छा लगा था। आधुनिक युग के राजनेताओं में राजा जी एक प्रखर बुद्धिवादी के रूप में प्रसिद्ध थे। पर इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने श्रद्धा और तर्क के क्षेत्र को अलग करना सीखा था। घनश्यामदास जी इससे प्रभावित हुए थे और आज भी वे इसे दोहराते रहते हैं।

मानस को श्रद्धा और विश्वास के माध्यम से ही हृदयंगम किया जा सकता है। इसी को दृष्टिगत रखकर मानस-चरितावली में सबसे पहले भगवान् शिव के चरित्र की व्याख्या की गई है। यद्यपि उनका चरित्र श्री राम के चरित्र से उस रूप में सम्बन्धित नहीं है जिस रूप में मानस के अन्य पात्रों का चरित्र है। पर यह अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी इतना प्रगाढ़ है कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में सर्वप्रथम शिव-चरित्र का ही वर्णन किया है। मानस-चरितावली में भी इसी क्रम का पालन किया गया है।

मानस-चरितावली में भगवती सीता और भगवान् राम के चरित्र की चर्चा नहीं की गई है या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनका वर्णन नेति-नेति की पद्धति से किया गया है। इस नेति पद्धति की प्रतीक पंक्तियां हैं जिनमें कागभुशुण्डि ने भगवान् राम की महिमा और उनके गुणों के ज्ञापन के लिए एक विचित्र गणित प्रस्तुत किया है। साहित्य में कुछ व्यक्तियों और पदार्थों को सद्गुणों के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है। काम जहां सौन्दर्य का प्रतीक है वहीं दुर्गा संहारात्मकता की प्रतीक हैं। इन्द्र वैभव और विलास के देवता हैं तो आकाश निस्सीमता का प्रतीक है। वायु, सूर्य और चन्द्रमा क्रमशः बल, प्रकाश और शीलता के परिचायक हैं। इस तरह प्रतीकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की गई है। बहुधा नायक के विशिष्ट गुणों की प्रशंसा के लिए इन प्रतीकों का स्मरण किया जाता है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध है। देवर्षि नारद से मुनि

वाल्मीकि ऐसे नायक के विषय में प्रश्न करते हैं जिसमें सभी दुर्लभ गुण एक साथ विद्यमान हों। उनकी जिज्ञासा इन पंक्तियों में प्रकट होती है। इन्हीं के साथ देवर्षि नारद का वह उत्तर भी है जिसमें वे श्री राम में एक साथ इन दुर्लभ गुणों की अवस्थिति का वर्णन करते हैं। इन दुर्लभ गुणों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए वे भी कुछ प्रतीकों से उनकी तुलना करते हैं :

ॐ तपः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ।।१/१/१
को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः ।।१/१/२
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रिय दर्शनः ।।१/१/३
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽन सूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ।।१/१/४
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षेत्वं समर्थोऽसि ज्ञातु मेवं विधं नरम् ।।१/१/५

अर्थ : तपस्वी वाल्मीकि ने तपस्या और स्वाध्याय में लगे हुए विद्वानों में श्रेष्ठ मुनिवर नारद जी से पूछा, "मुने ! इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता और दृढ़प्रतिज्ञ कौन है ? सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है ? मन पर अधिकार रखने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान और किसी की भी निन्दा नहीं करने वाला कौन है ? तथा संग्राम में कुपित होने पर जिससे देवता भी डरते हैं। महर्षे ! मैं यह सुनना चाहता हूं। इसके लिए मुझे बड़ी उत्सुकता है। और आप ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं।"

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ।।१/१/६
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्‌ध्वातैर्युक्तः श्रूयतां नरः ।।१/१/७
इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ।।१/१/८
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्री मञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बु ग्रीवो महाहनुः ।।१/१/९
महोरस्को महेष्वासो गूढ़जत्रु ररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ।।१/१/१०
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीन वक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ।।१/१/११

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञान सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥१/१/१२
प्रजापति समः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥१/१/१३
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेद वेदाङ्ग तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥१/१/१४
सर्व शास्त्रार्थ तत्वज्ञः स्मृतिवान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥१/१/१५
सर्वदाभिगत सद्भिः समुद्रइव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्व समश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥१/१/१६
स च सर्व गुणोपेतः कौशल्यानन्द वर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिम वानिव॥१/१/१७
विष्णुना सदृशोवीर्ये सोमवत्प्रिय दर्शनः।
कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवी समः॥१/१/१८
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवा परः।
तमेवंगुण सम्पन्नं रामं सत्य पराक्रमः॥१/१/१९

अर्थ : महर्षि वाल्मीकि के इस वचन को सुनकर तीनों लोकों का ज्ञान रखने वाले नारदजी ने उन्हें सम्बोधित करके कहा—"अच्छा सुनिए," और फिर प्रसन्नता-पूर्वक बोले, "मुने ! आपने जिन बहुत से दुर्लभ गुणों का वर्णन किया है उनसे युक्त पुरुष को मैं विचार करके कहता हूं, आप सुनें। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं जो लोगों में राम-नाम से विख्यात हैं। वे ही मन को वश में रखने वाले, महाबलवान, कान्तिमान, धैर्यवान और जितेन्द्रिय हैं। वे बुद्धिमान, नीतिज्ञ-वक्ता, शोभायमान तथा शत्रु संहारक हैं। उनके कन्धे मोटे और भुजाएं बड़ी-बड़ी हैं। ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी मांसल (पुष्ट) है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। गले से नीचे की हड्डी (हंसली) मांस से छिपी है। वे शत्रुओं का दमन करने वाले हैं। भुजाएं घुटने तक लम्बी हैं। मस्तक सुन्दर है। उनका शरीर मध्यम और सुडौल है। देह का रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्ष-स्थल भरा हुआ है, आंखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभ लक्षणों से सम्पन्न हैं। धर्म के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजा के हित साधन में लगे रहने वाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। प्रजापति के समान पालक, श्री सम्पन्न, वैरी-विध्वंसक, और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद-वेदांगों के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं। वे अखिल शास्त्रों के तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्ति से युक्त और प्रतिभा-सम्पन्न हैं। अच्छे विचार और उदार हृदय वाले वे श्री रामचन्द्र-जी बातचीत करने में चतुर तथा समस्त लोकों के प्रिय हैं। जैसे नदियां समुद्र में मिलती हैं उसी प्रकार राम से सदा

साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य एवं सबमें समान भाव रखने वाले हैं। उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणों से युक्त वे श्री रामचन्द्र जी अपनी माता कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। गम्भीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान हैं। वे विष्णु भगवान् के समान बलवान हैं। उनका दर्शन चन्द्रमा के समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा में पृथ्वी के सदृश हैं। त्याग में कुबेर और सत्य में द्वितीय धर्मराज के समान हैं। इस प्रकार वे उत्तम गुणों से युक्त तथा सत्य पराक्रम वाले हैं।"

मानस और वाल्मीकि रामायण के प्रतीकों में कुछ भिन्नताएं तो हैं ही पर इसके साथ-साथ मानस में प्रतीकों की सूची भी बड़ी लम्बी है। इस तरह जहां देवर्षि नारद श्री राम में इन प्रतीकात्मक गुणों में सादृश्य का वर्णन करते हैं वहीं दूसरी ओर कागभुशुण्डिजी को इस सादृश्य से संतोष नहीं होता है। देवर्षि नारद राम के गाम्भीर्य की तुलना यदि समुद्र से करते हैं तो धैर्य में वे उन्हें हिमालय के सदृश दिखाई देते हैं। पर कागभुशुण्डि इन प्रतीकों से सौ करोड़ गुना करने के बाद ही काम में लाते हैं :

हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा।
सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।।

केवल साहित्यिक दृष्टि से देखने वालों को जहां महर्षि वाल्मीकि का वर्णन स्तुतिपरक जान पड़ेगा वहीं रामचरितमानस का वर्णन तो अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा ही प्रतीत होगा। किन्तु जहां तक भक्त के दृष्टिकोण का सम्बन्ध है वह 'सतकोटि' गुणित करने के पश्चात् भी संकोच का अनुभव करता है। इसीलिए अनेक प्रतीकों को 'सतकोटि गुणित' करने के पश्चात् भी राम से इनके सादृश्य की तुलना करने के बाद क्षमा-याचना करता हुआ दिखाई देता है। उसे मुनियों से लेकर स्वयं तक किए गए वर्णन में केवल बुद्धि विलास की ही अनुभूति होती है। बुद्धि से अतीत ईश्वर को मति विलास के माध्यम से वर्णन करने का प्रयास उसे सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। फिर भी वह यह सोचकर स्वयं को संतुष्ट करता है कि 'भावगाहक' राम केवल अपने स्वभाव से इसे सुनकर सन्तुष्ट हो जाएंगे। वह कहता है कि जैसे सूर्य के प्रकाश की तुलना के लिए सौ करोड़ जुगनुओं से उसके सादृश्य की कल्पना सूर्य का अनादर ही है, उसी प्रकार श्री राम की इन 'सतकोटि' प्रतीकों से तुलना भी उचित नहीं है। फिर भी वर्णन के लिए इस पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है :

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।।
एहि भांति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।।

सारे रामचरित्र का वर्णन करने के पश्चात् इन पंक्तियों के माध्यम से जिस

असमर्थता का ज्ञापन किया गया है उसका मुख्य उद्देश्य राम की ईश्वरता की ओर श्रोता का ध्यान आकृष्ट करना है। मानस के राम अनुकरणीयता की तुलना में उपास्य और आराध्य ही अधिक हैं। साधारणतया राम और रावण के चरित्र के माध्यम से यह उपदेश देने की चेष्टा की जाती है कि व्यक्ति को राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं। "रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न तु रावणादिवत्" कहकर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु गोस्वामीजी इससे आगे बढ़कर एक प्रश्न और उठाते हैं। जहां तक राम की नर-लीला का सम्बन्ध है उनके चरित्र में प्रेरणा के अनगिनत सूत्र विद्यमान हैं। पर साथ ही वे साक्षात् ईश्वर हैं इसलिए व्यक्ति उनके समग्र अनुकरण का दावा नहीं कर सकता है। असमर्थता और अभाव की यह अनुभूति ही हमारे अन्तःकरण में भक्ति का संचार करती है। गोस्वामी जी को यही अभीष्ट है। वे समाज को केवल सद्गुण सम्पन्न ही नहीं, भक्ति रस में ओत-प्रोत भी देखना चाहते हैं। इसलिए वे ऐसे व्यक्ति की कल्पना करते हैं कि जिसमें श्रेष्ठता के प्रतीक अनेक सद्गुण विद्यमान हैं। वह काम के समान सुन्दर है, सूर्य जैसा प्रताप उसमें विद्यमान है, चन्द्रमा जैसा शीलवान और गणेश जैसा जगद्वंद्य है। इतना ही नहीं हरिश्चन्द्र जैसी दान-निष्ठा, ब्रह्मा जैसा बड़प्पन, इन्द्र जैसा वैभव, शुक जैसी मननशीलता, शारदा जैसा वक्तृत्त्व और लोमश जैसा दीर्घजीवन भी उस व्यक्ति को प्राप्त हो; पर इतने सद्गुणों के एकत्रीकरण के पश्चात् भी वे इन्हें व्यर्थ मानते हैं यदि उस व्यक्ति के जीवन में राम-भक्ति का उदय नहीं हुआ है :

काम से रूप प्रताप दिनेस से सोम से सील गनेस से माने।
हरिचंद से दानी बड़े बिधि से मघवा से महीप बिषै सुख साने।।
सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
एते भए तो कहा तुलसी जौ पै जानकी जीवन राम न जाने।।

उनकी दृष्टि में श्री राम अगणित ऐतिहासिक महापुरुषों में से एक नहीं हैं, वे साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। इसलिए व्यक्ति को उनसे सादृश्य की धृष्टता नहीं करनी चाहिए। चरित्र की कुछ घटनाओं का अनुगमन करने के पश्चात् स्वयं को श्री राम के समान मान लेना धृष्टता और अहंकार की पराकाष्ठा है। इसलिए वे निरन्तर राम की आराधना पर ही बल देते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए प्रतापभानु के उपाख्यान पर दृष्टि डाली जा सकती है। प्रतापभानु और राम के सद्गुणों में बहिरंग दृष्टि से अनेक साम्य दिखाई देते हैं। राम और लक्ष्मण के बन्धुत्व के समान ही प्रतापभानु और अरिमर्दन में भी अत्यन्त अनुराग है। उन्हीं के समान ये दोनों बन्धु भी राक्षसों के विरोधी हैं। और प्रतापभानु के द्वारा जिस धर्मराज्य की स्थापना होती है उसका भी राम-राज्य से बड़ा साम्य है। पर इतना सब होते हुए भी वह केवल एक व्यक्ति है जिसमें पूर्णता नहीं है। उसके जीवन की अपूर्णता, बाध्यता और सीमाएं तब सामने आ जाती हैं जब वही अगले जन्म में रावण बन

जाता है। अतः केवल बहिरंग सादृश्य से ही सन्तुष्ट हो जाना आत्मघाती है। इसलिए रामचरितमानस के अनेक उत्कृष्ट पात्र समस्त सद्‌गुणों के होते हुए भी भक्ति का आश्रय लेते हैं। इस अर्थ में मानस के राम अनुकरण से अधिक आराधना के केन्द्र हैं।

इस सन्दर्भ में चतुश्शती वर्ष की एक घटना का स्मरण आता है। अवसर 'मानस-मुक्तावली' के विमोचन का था। उस समय भगवान राम के प्रति अपनी विनत श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए घनश्यामदास जी ने एक ऐसा वाक्य कहा था जिसे सुनकर अनेक लोग चौंक पड़े थे क्योंकि वह प्रचलित परम्परा से कुछ हटकर था। उन्होंने कहा था कि "मानस में एक ही ऐसे पात्र हैं जिनका अनुगमन नहीं किया जा सकता है—वे हैं भगवान राम।" वस्तुतः यह कथन श्री राम के सद्‌गुणों की निस्सीमता के प्रति श्रद्धा का ज्ञापन है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें उनके चरित्र से प्रेरणा नहीं लेनी चाहिए। अपितु इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि उनके सद्‌गुणों का प्रसाद लेते हुए भी हमें उनकी निस्सीमता और अनन्तता को भुला नहीं देना चाहिए। अगाध जलराशि की प्रशंसा करते हुए किसी कवि-हृदय व्यक्ति ने कहा कि इसे पिया नहीं जा सकता है। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि कोई भी व्यक्ति उस विशाल जलराशि को पूरा नहीं पी सकता। हां अपने पात्र और अपनी प्यास की क्षमता के अनुकूल अनगिनत व्यक्ति उससे तृप्ति प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् राम के अनन्त गुणों में से किसी एक के यत्किंचित अंश का उदय ही एक व्यक्ति के जीवन को धन्यता प्रदान करने के लिए यथेष्ट है। गुरु वशिष्ठ राम के नाम की व्याख्या करते हुए इसी तथ्य को इस रूप में प्रकट करते हैं। "राम वह आनन्द सिन्धु हैं जिनके बिन्दु मात्र से सारा त्रैलोक्य सुखी हो जाता है।"

जो आनंद सिंधु सुख रासी।
सीकर ते त्रैलोक सुपासी।।
सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोकदायक बिश्रामा।।

गुरु वशिष्ठ कह सकते थे कि राम वह सिन्धु हैं जिनके एक ही बिन्दु से एक व्यक्ति तृप्त हो सकता है पर वे इसे स्वीकार नहीं करते। वे दावा करते हैं कि इस सिन्धु का एक बिन्दु अनादिकाल से अनन्तकाल तक सारे ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों को तृप्त करने के लिए यथेष्ट है। वस्तुतः यह स्तुति अथवा अतिशयोक्ति न होकर तथ्य की स्वीकृति मात्र है। पर इसका भान ब्रह्म की निस्सीमता पर ध्यान जाने पर ही हो सकता है। राम को अपनी दृष्टि से देखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। कुछ लोगों की दृष्टि में वे एक अद्वितीय महापुरुष हैं, तो कुछ लोगों की दृष्टि में उनमें अनेक गुणों के साथ-साथ दोष भी विद्यमान हैं। कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें उनमें दोष ही अधिक दिखाई देते हैं। इसके लिए "जिन्ह कै रही भावना

जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।।" को ही दोहराया जा सकता है। पर जहां तक तुलसी का सम्वन्ध है उनके राम का वही स्वरूप है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसी का सांकेतिक परिचय देने के लिए मानस-चरितावली के प्रारम्भ में भगवान राम से सम्वन्धित वे पंक्तियां उद्धृत की गई हैं जिनमें राम की अनन्तता का सांकेतिक वर्णन किया गया है। भगवती सीता भी उनकी ही अन्तरंगा शक्ति के रूप में वन्दनीया हैं। अतः इन दोनों का वर्णन नेति की पद्धति से किया गया है। यों दूसरी दृष्टि से देखें तो सारी मानस-चरितावली में उन्हीं का वर्णन है। इन सारे बहुरंगे पुष्प-पात्रों में सौरभ तो उन्हीं का है। रामचरितमानस में भले ही अगणित पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया हो और साधारण दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता हो कि रामायण के प्रारम्भ में शिव-चरित्र है, अन्त में भुशुण्डि-चरित्र से समापन किया गया है और मध्य में भगवान राम और सीता के साथ-साथ अनेक चरित्रों का चित्रण किया गया है। पर तात्त्विक दृष्टि से तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए मानस में यह दावा किया गया है कि इसमें आदि, मध्य और अन्त में एकमात्र भगवान राम ही प्रतिपाद्य हैं :

एहि मंह आदि मध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।।

मानस-चरितावली में वर्णित चरित्रों को भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यों व्यावहारिक दृष्टि से चरितावली के प्रथम खण्ड में मुख्य रूप से उन पात्रों की झांकी प्रस्तुत की गई है जो भगवान राम की अभिव्यक्ति और उपलब्धि के मुख्य माध्यम हैं। इनके विश्लेषण में आध्यात्मिक प्रतीकों के स्थान पर मुख्य रूप से चरित्र की घटनाओं को केन्द्र बनाकर चर्चा की गई है। इन पात्रों को आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टियों से देखा जा सकता है। पर व्यापक विवेचन तभी सम्भव है जब कि इनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाए। किन्तु यह तो एक ही ग्रन्थ सूत्र में अनेक पुष्पों को पिरोने का प्रयास है। इसलिए अत्यन्त सीमित रूप में ही इन पात्रों के चरित्र की चर्चा की जा सकी है।

अस्वस्थता के कारण इस ग्रन्थ के लेखन में अत्यधिक विलम्ब हुआ, फिर भी जिस रूप में यह पाठकों के समक्ष जा रहा है उसके निर्माण और सज्जा में अनेक लोगों का हाथ है। लेखन का मुख्य भार श्री उमाशंकर जी पर था। पुनर्लेखन का परिश्रमसाध्य कार्य श्री विष्णुकान्त तथा श्री श्रीकान्त पाण्डेय बन्धुद्वय के द्वारा सम्पन्न हुआ। इसके पुनरीक्षण एवं त्रुटि परिमार्जन का भार प्रिय श्री जगदीश गुप्त ने उठाया। श्रीमती शीला कोचर, श्रीमती प्रेम तथा गोविन्दप्रसाद दुबे की सेवाओं का स्मरण किए बिना कृतज्ञता-ज्ञापन का यह कार्य अधूरा रह जायेगा।

—लेखक

।। श्री रामः शरणं मम ।।

भगवान श्री राम

निज मति सरिस नाथ मैं गाई।
प्रभु प्रताप महिमा खगराई।।
कहेउं न कछु करि जुगुति बिसेषी।
यह सब मैं निज नयनन्हि देखी।।
महिमा नाम रूप गुन गाथा।
सकल अमित अनन्त रघुनाथा।।
निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं।
निगम सेष सिव पार न पावहिं।।
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।
नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता।।
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा।
तात कबहुं कोउ पाव कि थाहा।।
राम काम सत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।।
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा।
नभ सत कोटि अमित अवकासा।।
मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल समन सकल भव त्रास।।
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम दुराधरष भगवंत।।
प्रभु अगाध सत कोटि पताला।
समन कोटि सत सरिस कराला।।
तीरथ अमित कोटि सम पावन।
नाम अखिल अघ पूग नसावन।।
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा।
सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।।
कामधेनु सत कोटि समाना।
सकल कामदायक भगवाना।।
सारद कोटि अमित चतुराई।
बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।।

बिष्णु कोटि सम पालन कर्ता।
रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
धनद कोटि सत सम धनवाना।
माया कोटि प्रपंच निधाना॥
भार धरन सत कोटि अहीसा।
निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥
निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भांति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥
राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउं तुम्हहि सुनायउं सोइ॥
भाव बस्य भगवान सुखनिधान करुणा भवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीता रवन॥

अर्थ :—देखिए गरुड़जी ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार प्रभु श्री राम के प्रताप की कुछ महिमा आपको सुनाई। मैंने इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं की है। यह सब मैंने अपनी आंखों से देखा है। श्री राम की महिमा, नाम, रूप, गुण और उनकी कथाएं सब अपार और अनन्त हैं, तथा प्रभु स्वयं भी अनन्त हैं। मुनि लोग श्री हरि के उन गुणों का वर्णन अपनी-अपनी बुद्धि की उड़ान के अनुसार ही करते हैं। प्रभु की अपार लीला का पार वेद, शेष और शिव भी नहीं पा सकते हैं। जैसे कि पक्षियों में आप से लेकर मच्छर तक सभी आकाश में उड़ते हैं पर उसका अन्त आज तक कोई भी नहीं जान पाया, इसी प्रकार श्री राम की महिमा भी इतनी अथाह है कि क्या कभी कोई उसकी थाह पा सकता है ? श्री राम का श्री विग्रह अरबों कामदेवों के समान सुन्दर है। वे शत्रुओं का नाश करने में अनन्त कोटि दुर्गा के समान समर्थ हैं। उनका ऐश्वर्य अरबों इन्द्रों के समान है, तथा उनमें अरबों आकाश समा सकते हैं। अरबों पवनों के समान उनमें महान् बल है, अरबों सूर्यों के समान उनमें प्रकाश है। अरबों चन्द्रमाओं के समान वे शीतल हैं। वे संसार के सारे क्लेश दूर कर सकते हैं। वे अरबों कालों के समान अत्यन्त कठोर, दुर्गम और भयंकर हैं। वे अरबों धूमकेतुओं (पुच्छलतारों) के समान अपराजेय हैं।

प्रभु अरबों पातालों के समान अथाह हैं। अरबों यमराजों के समान भयावह हैं, वे असंख्य कोटि तीर्थों के समान पवित्र हैं तथा उनका नाम समस्त पाप-समूहों को विनष्ट करने वाला है। वे करोड़ों हिमालयों के समान अचल हैं, अरबों समुद्रों के समान गम्भीर हैं। समस्त कामनाओं को पूरा करने में अरबों कामधेनुओं के समान समर्थ हैं। करोड़ों सरस्वतियों के समान उनमें बुद्धि का अपार चातुर्य है। अरबों विधाताओं के समान वे सृष्टि रचने की कला में निपुण हैं। करोड़ों विष्णुओं

के समान वे पालन तथा अरबों रुद्रों के समान संहार कर सकते हैं। वे अरबों कुबेरों के समान धनवान हैं, करोड़ों मायाओं के समान रचना कर सकते हैं। अरबों शेषों के समान भार धारण कर सकते हैं। जगदीश्वर प्रभु राम की सभी बातों की न कोई सीमा है और न किसी से उनकी उपमा ही दी जा सकती है। प्रभु की उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। वेद भी यही कहते हैं कि श्री राम के समान तो राम ही हैं। जैसे सूर्य को अरबों जुगनुओं के समान बताकर सूर्य को बहुत छोटा बता देना होगा वैसे ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार मुनीश्वरों ने हरि का कुछ-कुछ वर्णन तो कर डाला है पर प्रभु राम इतने कृपालु हैं कि वे भक्त का भाव ही देखते हैं। वे बड़े प्रेम से वही थोड़ा-सा वर्णन सुनकर रीझ उठते हैं। राम में कितनें गुण हैं इसकी क्या कोई थाह पा सकता है? मैंने तो आपको वही सब बताया है जैसा कुछ मैं सन्तों-महात्माओं से सुन पाया हूं। सुख के घनीभूत रूप कृपालु भगवान राम तो भाव के भूखे हैं, इसलिए ममता, मद और मान छोड़कर सीता के पति श्री राम का ही सर्वदा भजन करना चाहिए।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

भगवती श्री सीता

उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

अर्थ :—जो सृष्टि का उद्‌भव, पालन और संहार करने वाली हैं, जो दुःखों का हरण कर समस्त श्रेय देने वाली हैं, उन रामप्रिया भगवती सीता के चरणों में मैं नमन करता हूं।

जनकसुता जग जननि जानकी ।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥
ताके जुग पद कमल मनावौं ।
जासु कृपा निरमल मति पावौं ॥

अर्थ :—जनक की पुत्री जगत् की माता और करुणानिधान श्री राम की अतीव प्रिया श्री सीता के दोनों चरण कमलों की मैं प्रार्थना करता हूं जिनकी कृपा से मुझे निर्मल मति प्राप्त होगी।

बाम भाग सोभति अनुकूला ।
आदि सक्ति छबि निधि जगमूला ॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी ।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई ।
राम बाम दिसि सीता सोई ॥

अर्थ :—श्री राम के वाम भाग में उनके अनुकूल अन्तःकरण वाली आद्याशक्ति, शोभा की खान तथा संसार की कारण श्री सीता सुशोभित हो रही हैं। जिनके अंश से अगणित गुणों की खान, लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं। जिनकी भृकुटि-विलास मात्र से संसार की उत्पत्ति होती है, वे ही श्री सीता श्री राम के वाम भाग में सुशोभित हो रही हैं।

उमा रमा ब्रह्मानि बंदिता ।
जगदम्बा संतत मनिंदिता ॥
जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहिं खोइ ॥

अर्थ :—उमा, लक्ष्मी तथा सरस्वती आदि सभी देवियां जिन जगत् की माता और अनिन्दित श्री सीता जी की वंदना करती हैं, जिन श्री सीता की कृपादृष्टि पाने के लिए सब देवता तरसते रहते हैं, वे ही श्री सीता अपने ऐश्वर्य को विस्मृत कर श्री राम के चरण कमलों की टहल करती हैं।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

भगवान शिव

रामचरितमानस के मूल रचयिता भगवान शंकर का व्यक्तित्व इतना विराट् है कि उसका समग्र चित्र प्रस्तुत कर पाना असम्भव है। एक व्यक्ति के रूप में प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः वे समष्टि चेतना के साकार विग्रह हैं। फिर भी उनके सम्मोहक व्यक्तित्व का जो स्वरूप रामचरितमानस में प्रस्तुत किया गया है उसका बहुरंगापन व्यक्ति को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। उनके इंद्रधनुषी व्यक्तित्व के कुछ रंग अंकित करने का प्रयास इस लेख में किया जा रहा है।

भगवान शिव के आंतरिक स्वरूप की विलक्षणता उनके बाह्यरूप और वेष में भी प्रतिबिम्बित होती है। काव्य की भाषा में उन्हें सृष्टि पर साकार व्यंग्य कह सकते हैं। उनकी वेष-भूषा हास्य और भय दोनों का ही सृजन करती है। शिव की वेश-भूषा का वर्णन पढ़कर बरबस होंठों पर हंसी आ जाती है। पर यह हास्य उस समय भय में परिणत हो जाता है जब हम उनके इस स्वरूप को सन्निकट से देखने की कल्पना करें। इसीलिए दूल्हे के रूप में ससुराल की दिशा में जाने वाला यह वर देवललनाओं के लिए विनोद की सामग्री बन जाता है, और वे परस्पर विनोद करती हुई व्यंग्य भरे स्वर में कह उठती हैं, "इस विलक्षण वर के लिए उपयुक्त दुलहिन का मिलना सारी सृष्टि में असम्भव है।"

देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं।
बर लायक दुलहिन जग नाहीं॥

एक ओर जहां वे व्यंग्य-विनोद की सामग्री प्रतीत होते हैं, वहीं उन्हें सन्निकट से देखते ही मैना भय से संत्रस्त होकर भाग खड़ी होती हैं। वर के स्वागत के लिए सजाया गया स्वर्ण-थाल हाथ से छूटकर धरती पर आ गिरता है। भयभीत होकर घर में छिप जाने वाली महिलाओं में वे देवियां भी थीं जो कुछ ही समय पहले शिव पर हंस रही थीं :

मैंना सुभ आरती संवारी।
संग सुमंगल गावहिं नारी॥
कंचन थार सोह बर पानी।
परिछन चलीं हरहि हरषानी॥
बिकट वेष रुद्रहि जब देखा।
अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा।
गए महेस जहां जनवासा॥

इस तरह एक ही प्रक्रिया के माध्यम से हास्य और भय की सृष्टि करने वाले

शिव विरोधाभासों के पुंज प्रतीत होते हैं। श्मशान निवासी, वस्त्र रहित शिव को देखकर एक विरक्त अवधूत का चित्र आंखों के समक्ष आ जाता है। किन्तु विरक्त प्रतीत होने वाला यह अवधूत प्रिया पार्वती को गोद में लेकर जब आनन्दोल्लास में डूबा हुआ दिखायी देता है तब उसे समझ पाना सरल नहीं प्रतीत होता। वह स्वयं भिखारी है। भिक्षा-पात्र लेकर याचना करता हुआ यह भोलानाथ उस समय सर्वथा भिन्न रूप में दिखायी देने लगता है जब उसके समक्ष कोई याचक आ खड़ा होता है। कवितावली में एक चित्र प्रस्तुत किया गया है जिसमें शिव याचक को आश्वस्त करते हैं। लगता है यह याचक कहीं से शिव की दानशीलता की ख्याति सुनकर उसके समक्ष आ खड़ा हुआ था। पर इस नग्न दाता को देखते ही मांगने का सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया। शिव उसकी व्याकुलता देखकर मुस्कराते हैं और उसे आश्वासन देते हैं, 'तुम्हें जो कुछ चाहिए प्राप्त होगा किन्तु मुझसे किसी छुद्र पदार्थ की याचना न करना।'

नागो फिरै, कहै मागतो देखि 'न खागो कछू', जनि मागिये थोरो।
रांकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥
नाक संवारत आयो हौं नाकहि, नाहिं पिनाकिहि नेकु निहोरो।
ब्रह्म कहै, गिरिजा! सिखवो पति रावरो, दानि है बावरो भोरो॥

समष्टि चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाला यह देवाधिदेव सचमुच ही सर्वेश कहलाने का अधिकारी है। उनके चरित्र को समझ पाना कभी-कभी विशिष्ट व्यक्तियों के लिए भी कठिन हो जाता है। सामाजिक मर्यादाओं के सन्दर्भ में व्यक्ति की धारणाएं इतनी सीमित हो जाती हैं कि वह उन्हीं के आधार पर किसी को श्रेष्ठता और कनिष्ठता की उपाधि दे बैठता है। समाज अपनी सुरक्षा के लिए प्राचीरों का निर्माण करता है। वह परिवार के संरक्षण के लिए भवन का निर्माण करता है और स्वयं को गृहपति मानकर गर्वीला हो जाता है। वह वस्त्रों की विविधता के द्वारा शरीर को सजाता है और इसे सौन्दर्य और कला का प्रतीक मानकर आनन्दित होता है। वह अनुशासन का नाम लेकर विधि संहिताओं का सृजन करता है और बड़े ही आत्मविश्वास से इसे सभ्य समाज का चिह्न मानकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है। सत्य तो यह है कि सामाजिक मान्यताओं का यह अतिरेक व्यक्ति को विराट् के स्थान पर छुद्र बनाकर रख देता है।

वह प्राचीर के द्वारा विशाल पृथ्वी में सीमाओं की सृष्टि करता है, और सीमा-सुरक्षा के नाम पर दूसरों के द्वारा निर्मित प्राचीरों को विनष्ट करने में वह विजेता के गर्व का आनन्द लेता है। उसका गृह-निर्माण छुद्र राग-द्वेष की सृष्टि कर अपने और पराए का न समाप्त होने वाला चक्र चला देता है, जिसमें पिसकर व्यक्ति अपनी मानसिक शान्ति की हत्या कर बैठता है। वस्त्र के द्वारा वह जिस सौन्दर्य और कला की सृष्टि करता है, वह आन्तरिक सौन्दर्य का कितना अवमूल्यन कर देता है, इसपर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। शिव के द्वारा सामाजिक मर्यादाओं की अस्वी-

कृति का तात्पर्य व्यक्ति को अखण्ड सत्य का साक्षात्कार कराना है। प्राचीर, गृह और वस्त्र व्यक्ति की बाध्यता हो सकती है पर उसमें गर्व करने जैसी कोई बात नहीं है। अनिकेत शिव का स्वरूप व्यक्ति को मूढ़ता भरे आग्रह से मुक्त बनाता है। इसीलिए जिनकी आग्रह में प्रबल आसक्ति है वे शिव को समझ पाने में असमर्थ रह जाते हैं। पौराणिक उपाख्यानों के कई पात्र इसी भ्रान्ति के कारण शिव की कटु आलोचना और निन्दा करते हुए देखे जाते हैं। भृगु, चित्ररथ और दक्ष जैसे पात्र इसी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे शिव की निन्दा करते हुए विष्णु की सराहना करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में विष्णु लोक मर्यादा के संरक्षक हैं। रामचरितमानस में इस मत को रंचमात्र समादर नहीं दिया गया है। अपितु स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के द्वारा भगवान भूतभावन शिव की आराधना एक सन्तुलित और समन्वयी जीवन-दर्शन का स्वरूप उपस्थित करती है। शिव मर्यादाओं के विरोधी नहीं हैं, वे तो मर्यादा के नाम पर जिस पाश की सृष्टि की जाती है, उसे विनष्ट कर व्यक्ति को घेरों से मुक्त कर देते हैं। बहुधा शिव को मुक्तिदाता के रूप में स्मरण किया गया है। किन्तु ऐसा कहते समय व्यक्ति के मन में ऐसा चित्र उपस्थित होता है जैसे मुक्ति कोई स्थूल पदार्थ हो और शंकर उसे भौतिक पदार्थ के रूप में उठाकर दान के रूप में दे देते हैं। सत्य तो यह है कि बन्धन के स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही इस प्रकार की भ्रान्ति का उदय होता है।

जीव किसी स्थूल रज्जु के द्वारा बन्दी नहीं बनाया गया है। वह स्वयं अपनी ही मान्यताओं का बन्दी है। जो कुछ वह नहीं है उसे अपने आप में आरोपित कर दुःख की सृष्टि करने वाला स्वयं व्यक्ति ही है। सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंश होते हुए भी वह स्वयं को शरीर मानकर विनाश की आशंका से संत्रस्त रहता है। जाति, कुल आदि की अवास्तविक धारणाओं को शाश्वत सत्य मानकर स्वयं में श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना आरोपित करता हुआ वह अगणित संघर्षों में उलझ जाता है। बड़प्पन के मिथ्या मापदण्ड को यथार्थ स्वीकार करता हुआ वह कल्पित बड़प्पन को प्राप्त करने के लिए दिन-रात प्रयत्नशील रहता है। इन अवास्तविक धारणाओं से स्वयं को अलग कर लेना ही वास्तविक मुक्ति है। भगवान शिव का समग्र जीवन-दर्शन इन मिथ्या मान्यताओं पर प्रहार करता है। अपनी वेष-भूषा और व्यवहार के द्वारा वे व्यक्ति को झकझोर देते हैं। कल्पना के स्थान पर वे शाश्वत सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। इसी अर्थ में वे मुक्ति के दाता हैं।

मृत्यु से भयभीत रहने वाला व्यक्ति जब यह सुनता है कि शिव श्मशान में निवास करते हैं तब उसका चौंक पड़ना स्वाभाविक है।

जिनके अन्तःकरण में श्मशान के प्रति अपवित्रता की भावना बद्धमूल हो गयी है वे शिव को ही आराधना के लिए अनुपयुक्त मान लेते हैं। उन्हें लगता है कि यह तो तमोगुणी देवता है क्योंकि न केवल श्मशान में रहते हैं अपितु चिता की राख को शरीर में मलकर आनन्द का अनुभव करते हैं। यह वे लोग हैं जिनकी दृष्टि में

चन्दन की पवित्रता और श्मशान की राख की अपवित्रता तात्त्विक है। वे मस्तिष्क को सोचने का कष्ट देने के अभ्यस्त नहीं है। जीवन-काल में जिस शरीर को मलय चन्दन से सुशोभित किया गया, वह शरीर चन्दन की तुलना में अपवित्र क्यों है। चन्दन की उत्पत्ति कैसे होती है ? मृत्तिका से जन्म लेने वाला चन्दन पवित्र है और चिता की राख में परिणत होकर पृथ्वी से एकाकारता प्राप्त कर लेने वाला शरीर अपवित्र क्यों है, यह प्रश्न जिनके मन में नहीं उठता उनका विवेक पूरी तरह सुषुप्त है, यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है। रामचरितमानस की दृष्टि में शिव चिता की राख लगाकर अपवित्र नहीं होते अपितु वह राख ही विभूति के रूप में परिणत होकर आनन्द और मंगल को जन्म देने वाली बन जाती है :

सुकृति संभु तनु बिमल बिभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥

इस तरह वेष-भूषा से विलक्षण प्रतीत होने वाले शिव अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। उल्वण सत्य के प्रस्तोता होते हुए भी भगवान शिव का हृदय अत्यन्त कोमल है। उनकी कोमलता के कुछ मधुर शब्द-चित्र मानस में प्रस्तुत किए गए हैं।

वन-पथ में श्री राम को रुदन करते देखकर शिव-प्रिया सती का हृदय संशय से आच्छन्न हो जाता है। इस दृश्य को देखकर उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ होता यदि देवाधिदेव ने 'जय सच्चिदानन्द' कहकर उनका अभिवादन न किया होता :

जय सच्चिदानंद जग पावन।
अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥
चले जात सिव सती समेता।
पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥
सती सो दसा संभु कै देखी।
उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुं प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

भगवान शिव उन्हें संशय से मुक्त करने का प्रयास करते हैं किन्तु वे इसमें असफल रहते है। किन्तु स्वाभाविक सहिष्णुता के कारण वे सती पर क्रुद्ध नहीं होते

अपितु परीक्षा लेकर संशय से मुक्त होने का आदेश देते हैं :

जौं तुम्हरे मन अति संदेहू।
तौ किन जाइ परीक्षा लेहू॥
तब लगि बैठि अहउं बट छाहीं।
जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥

सती ने परीक्षा के लिए सीता का रूप ग्रहण कर लिया और लौटकर आने पर शंकर से साफ झूठ बोल गयीं।

कछु न परीछा लीन्ह गोसाईं।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥

सर्वज्ञ शिव के लिए सती का असत्य पकड़ लेना स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में भगवान शिव यदि झुंझला पड़ते अथवा क्रुद्ध हो जाते तो यह अस्वाभाविक न होता। किन्तु इस प्रसंग में शालीनता से भरा हुआ उनका औदार्य सामने आ जाता है। वे अपनी अन्तर्व्यथा से व्याकुल हो उठते हैं पर उसे अपनी वाणी में प्रकट नहीं होने देते। अपितु सती के इस कार्य में भगवान की माया की प्रेरणा देखते हुए वे उन्हें एक तरह से दोषमुक्त कर देते हैं :

तब संकर देखेउ धरि ध्याना।
सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥
बहुरि राम मायहि सिरु नावा।
प्रेरि सतिहि जेहिं झूंठ कहावा॥

किन्तु सती को अपराध-मुक्त कर देने पर भी उनकी स्वयं की व्याकुलता कम नहीं हो जाती। सती सीता का वेष बना चुकी हैं, ऐसी स्थिति में प्रिया के रूप में उन्हें स्वीकार कर पाना, भक्ति मर्यादा के सर्वथा विपरीत जान पड़ता है। उस समय उनके अन्तर्द्वन्द्व को गोस्वामीजी ने इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है :

परम पुनीत न जाइ तजि कएँ प्रेम बड़ पापु।
प्रगट न कहहिं महेसु कछु हृदय अधिक संतापु॥

सर्वेश्वर के इस अन्तर्द्वन्द्व को आज भी अनेकों व्यक्ति हृदयंगम नहीं कर पाते। वेष परिवर्तन में उन्हें कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता है। वे कहते हैं कि नाटक में तो ऐसा नित्य ही हुआ करता है और नाट्यमंच पर किए गये अभिनय का कोई प्रभाव व्यक्ति के पारिवारिक और सामाजिक जीवन पर पड़े, ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। ऐसी साधारण घटना के लिए सती का परित्याग अनौचित्य और अतिरेक से भरा हुआ प्रतीत होता है। शिव के अन्तर्हृदय और भावराज्य को न समझ पाने के कारण ही ऐसे तर्क किए जाते हैं।

ईश्वर के सगुण साकार स्वरूप की आराधना शुद्ध भावराज्य की वस्तु है।

इस भाव राज्य के संविधान में बौद्धिक तर्क और स्थूल क्रिया-कलापों को महत्त्व प्राप्त नहीं है। सर्वव्यापक ब्रह्म को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लेना केवल तार्किक आधार पर ही सम्भव नहीं है। यहां शिव भगवत्ता में स्थित न होकर भावुक भक्त की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। जगज्जननी सीता स्वयं उनके भाव राज्य में मातृस्वरूपा हैं। सती ने सीता का रूप ग्रहण कर रस-भंग की स्थिति उत्पन्न कर दी है। सती को देखते ही उनकी स्मृति में वह स्वरूप आ जाता है जिनमें वे राघवेन्द्र के समक्ष जाती हैं। ऐसी स्थिति में उनसे शृंगारिक सम्बन्ध की कल्पना भी उनके लिए असह्य है। अत: वे एक निश्चय पर पहुंचते हैं जिसका संकेत उन्हें अन्तर्यामी प्रभु श्री राम की प्रेरणा से प्राप्त हुआ था :

तब संकर प्रभु पद सिरु नावा।
सुमिरत राम हृदयं अस आवा॥
एहि तन सतहि भेंट मोहि नाहीं।
सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥

किन्तु यह परित्याग भी सर्वदा विलक्षण प्रकार का ही था। त्याग का ऐसा दृष्टान्त सारे पौराणिक उपाख्यानों में कहीं उपलब्ध नहीं होता, ऐसी मेरी धारणा है। भगवान् शिव बहिरंग दृष्टि से सती का परित्याग नहीं करते हैं। वे उनसे वार्तालाप करते हैं, उन्हें सुखी और संतुष्ट बनाने का प्रयास करते हैं। किन्तु इतना सब होते हुए भी उनके और सती के बीच व्रत की एक लक्ष्मण रेखा खिंची हुई है। वे सती को प्रिया के रूप में स्वीकार नहीं करते। साधारण व्यक्ति के लिए इस प्रकार का त्याग सर्वथा असम्भव है। साधक जब किसी वस्तु का परित्याग करता है तब सर्वप्रथम इन्द्रिय समूह से उसे दूर कर देता है। यदि किसी रुग्ण व्यक्ति को कुपथ्य से दूर रखना है तो उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह कुपथ्य की वस्तुओं को शैया के समीप रखकर संयमित बना रहे। ऐसी स्थिति में रोगी कुपथ्य की वस्तु ग्रहण कर ले यही अधिक स्वाभाविक है। सती के परित्याग की सहज प्रक्रिया भी यही होती कि भगवान् शिव उनसे दूर चले जाते। किन्तु उनका आत्मनियन्त्रण उनके सिद्ध स्वरूप के अनुरूप था। सती का सामीप्य उनके अन्तर्मन में एक क्षण के लिए भी अन्तर्विकृति को जन्म नहीं देता। अनगिनत वर्षों से शृंगारिक सम्बन्ध होते हुए भी उसकी एक क्षण के लिए स्मृति न आना आत्मसंयम की पराकाष्ठा है। ऐसा मनोनिग्रह देवाधिदेव को छोड़कर दूसरे के लिए संभव नहीं है।

आकाशवाणी से भी सराहना का जो स्वर अभिव्यक्त हुआ, उसमें यही स्वर था कि आप जैसे समर्थ भगवान् को छोड़कर इस प्रकार का व्रत और कौन ले सकता है :

चलत गगन भै गिरा सुहाई।
जय महेस भलि भगत दृढ़ाई॥

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।
राम भगत समरथ भगवाना॥

त्याग और वैराग्य की मनःस्थिति में बहुधा व्यक्ति भावुकता से दूर चला जाता है। किन्तु त्याग और वैराग्य की समग्रता में भी शिव में जिस कोमलता का परिचय प्राप्त होता है वह सर्वथा अनुपमेय है। आकाशवाणी से भगवान् शिव की की जाने वाली सराहना सती को सशंक बना देती है। उन्हें अपने अपराध का परिज्ञान था इसीलिए उन्हें यह लगना स्वाभाविक था कि इस व्रत का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उनसे ही होगा। वे व्याकुलता भरे स्वर में उनसे प्रश्न करती हैं "कृपालु महादेव ! आपने कौन-सा व्रत लिया है आप इसे सच-सच बताने की कृपा करें।"

मुनि नभ गिरा सती उर सोचा।
पूछा सिवहि समेत संकोचा॥
कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।
सत्यधाम प्रभु दीन दयाला॥

यहां फिर भगवान् शिव के अद्भुत आत्मसंयम का परिचय प्राप्त होता है। अभी कुछ क्षण पहले सती भगवान् शिव से झूठ बोल चुकी हैं, फिर भी शिव को सत्यधाम कहकर उनसे सत्य की आशा करती हैं।

सती के द्वारा किया जाने वाला असत्य सम्भाषण अपनी त्रुटि को छिपाने का प्रयास मात्र था। किन्तु सत्यधाम की दुहाई देकर सती ने महादेव के मुख से तथ्य को जानने का भले ही प्रयास किया हो पर वे इस प्रशंसा से क्षण भर के लिए भी प्रभावित नहीं होते। उन्होंने व्रत के विषय में मौन रहकर अपने 'शील सिन्धुत्व' की सार्थकता सिद्ध कर दी। शील रहित सत्य केवल अहंकार का प्रदर्शन मात्र रह जाता है, ऐसी मानस की मान्यता है। धर्मरथ के प्रसंग में सत्य और शील दोनों को एक ही साथ दृढ़ ध्वजा और पताका के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

प्रतिपक्ष के योद्धा ध्वजा और पताका को विनष्ट कर योद्धा और उसके सैनिकों का मनोबल तोड़ना चाहते हैं। इसीलिए धर्मरथ में ध्वजा और पताका के साथ दृढ़ शब्द का प्रयोग किया गया है। सत्य और शील का एक साथ संरक्षण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सत्यवादी को बहुधा संकोच और शील का परित्याग करना पड़ता है। सत्य बहुत कटु होता है। इसलिए उसका प्रयोग सामने वाले को मर्माहत करे यह स्वाभाविक ही है। शीलवान व्यक्ति दूसरों की भावना का ध्यान रखकर जब वाणी का प्रयोग करता है तब उसमें सत्य से यत्किंचित अपलाप की संभावना बनी रहती है। इसलिए सत्य और शील का समन्वय आदर्श होते हुए भी व्यावहारिक जगत में कम ही सम्भव देखा जाता है। मानस के विविध प्रसंगों में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पात्रों के चरित्र में भी यह समस्या सामने आती है। और तब अधिकांश

पात्रों ने इन दोनों में से एक को स्वीकार कर लिया।

इसका अपवाद केवल भगवान् शिव और श्री रामभद्र की वाणी में प्राप्त होता है। भगवान् शिव के परित्याग की प्रक्रिया में भी शील और सत्य के समन्वय का दर्शन होता है। परित्याग न करते हुए अन्तर्मन से सम्बन्ध का परिसीमन उसके समन्वय दर्शन का ही परिचायक है। सती के द्वारा बार-बार प्रश्न किये जाने पर भी वे मौन रह जाते हैं। मानस के शब्दों में सती ने विविध प्रकार से इस प्रश्न को दुहराया किन्तु 'त्रिपुर आराति' मौन ही रहे :

जदपि सती पूछा बहु भाँती।
तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती॥

प्रस्तुत पंक्ति में भगवान् शिव के लिए 'त्रिपुर आराति' शब्द का प्रयोग प्रसंग के सर्वथा अनुरूप है। पुराणों में त्रिपुरासुर का जो उपाख्यान आता है उसमें यह बताया गया है कि इस दैत्य ने अपनी तपस्या के द्वारा अन्तरिक्ष में 'त्रिपुर' की याचना की। स्वर्ण, चांदी और लौह के द्वारा निर्मित यह तीनों पुर अन्तरिक्ष में परस्पर विरोधी दिशा में चक्कर काटते रहते थे, और वह इन तीनों पुरियों में विहार करता था। अपनी मृत्यु के विषय में उसने यह वरदान मांग लिया था कि उसकी मृत्यु तभी हो जब एक बाण से एक साथ तीनों अन्तरिक्ष पुर विनष्ट हो जाएं। उसकी यह धारणा थी कि यह सर्वथा असम्भव है, इसलिए वह अमर बनकर अन्तरिक्ष में विहार करता रहेगा। किन्तु भगवान् शिव ने इस असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया, और एक ही बाण से त्रिपुरासुर को विनष्ट कर दिया।

प्रस्तुत प्रसंग में भी वे मौन रहकर व्रत, सत्य और शील के संरक्षण में सफल होते हैं। व्रत और पुण्य को गुप्त रखना चाहिए, ऐसा कहकर वे सती-परित्याग के व्रत को वाणी से प्रकट नहीं होने देते हैं। यदि वे वाणी का प्रयोग करते तो सत्य सुनकर सती संत्रस्त हो जातीं अथवा शील के संरक्षण के लिए उन्हें सत्य का अपलाप करना पड़ता। मानो त्रिपुरारि ने एक ही मौनास्त्र से आत्मप्रशंसा, असत्य और निष्ठुरता के त्रिपुर को समाप्त करने में सफलता पाई। पर सती स्वयं के अपराध से परिचित होने के कारण तीव्र आत्मग्लानि का अनुभव करती हैं। उस दूरी को समझ पाना भी उनके लिए कठिन न था जो उनके और भगवान् शिव के बीच उपस्थित हुई थी। फिर भी उनका हृदय भगवान् शंकर के औदार्य की स्मृतियों से भीग उठा। उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि यद्यपि महेश्वर ने मेरा परित्याग कर दिया है फिर भी मुझे आत्मग्लानि की लज्जा से मुक्त करने के लिए वे मौन धारण किये हुए हैं :

जदपि सती पूछा बहु भाँती।
तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती॥
सती हृदय अनुमान किअ, सब जानेउ सर्वज्ञ।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ॥

जल पय-सरिस विकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होत रस जाइ, कपट खटाई परत ही॥
हृदय सोच समुझत निज करनी।
चिंता अमित जाइ नहि बरनी॥
कृपा सिंधु सिव परम अगाधा।
प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥

शिव का औदार्य और शील तब और भी अभिव्यक्त हो जाता है जब वे सती की पीड़ा को दूर करने के लिए विविध कथाओं के माध्यम से उन्हें आनन्दित करने का प्रयास करते हैं :

सतिहि ससोच जानि वृषकेतू।
कहीं कथा सुंदर सुख हेतू॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा।
बिस्वनाथ पहुंचे कैलासा॥
तहं पुनि संभु समुझि पन आपन।
बैठे बट तर करि कमलासन॥
संकर सहज सरूपु सम्हारा।
लागि समाधि अखंड अपारा॥

समाधि की स्थिति में प्रविष्ट होने का तात्पर्य भी सती को उस अस्वाभाविक मन:स्थिति से उबारना था जो उनके महामौन से उत्पन्न हुई थी। भगवान् शिव के इस अगाध हृदय और कृपालुता ने सती को इतना सम्मोहित किया कि मृत्यु का वरण करते हुए भी उन्होंने जन्म-जन्मान्तर में महेश्वर को ही पति रूप में प्राप्त करने की याचना की :

सतीं मरत हरि सन बरु मागा।
जनम जनम सिव पद अनुरागा॥

प्रस्तुत प्रसंग में जहां भगवान् शंकर के चरित्र का वह पक्ष आता है जिसमें न्याय, कृपा, सत्य, शील और निष्ठा का अद्भुत साक्षात्कार होता है, वहीं पार्वती-विवाह के प्रसंग में आत्मसंयम के साथ उनके कौतुकी रूप का भी दर्शन होता है।

सती-वियोग के पश्चात् शिव की चर्या सर्वथा भिन्न रूप में सामने आती है। वे कैलास के वटवृक्ष के स्थान पर तीर्थयात्री के रूप में जहां-तहां भ्रमण करते हुए दिखाई देते हैं। इस यात्रा में वे ज्ञान और कथा का वितरण ही करते हैं। सती-वियोग ने उनको दुर्लभ से सुलभ बना दिया। कथा-श्रवण और ज्ञानोपलब्धि के लिए अब कैलास-शिखर की कठिन यात्रा की आवश्यकता न थी, वे स्वयं ही भ्रमण करते हुए मुनि-मण्डलियों के बीच पहुंच जाते और उन्हें रामकथा से रसप्लावित कर देते :

अब तें सती जाइ तनु त्यागा।
तब तें सिव मन भयउ बिरागा ॥
जपहिं सदा रघुनायक नामा।
जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा ॥
चिदानंद सुखधाम सिव, बिगत-मोह-मद-काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल-लोक-अभिराम ॥
कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना।
कतहुँ राम-गुन करहिं बखाना ॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना।
भगत-बिरह-दुख-दुखित सुजाना ॥

शिव के इस वैराग्य भरे स्वरूप में भी परम्परा से भिन्न रूप का साक्षात्कार होता है। बहुधा वैराग्य से अन्तःकरण में जिस उदासीनता का उदय होता है, वह व्यक्ति को आत्म-केन्द्रित बना देती है। राग का अभाव व्यक्ति के अन्तःकरण को शुष्क बना देता है। सर्वेश्वर शिव में इन दोनों का अभाव है। वे विराग की इस स्थिति में भी निरन्तर लोक-कल्याण में संलग्न दिखायी देते हैं। वेदान्त की वैराग्य भरी गाथा की अपेक्षा उन्हें रामकथा की रसवन्ती धारा का अवगाहन अधिक प्रिय है।

इसी यात्रा में उन्होंने अपने प्रिय शिष्य कागभुशुण्डि को सुमेरु शिखर पर कथा सुनाते हुए देखा और स्वयं भी हंस बनकर कथा-श्रवण का आनन्द लेते हुए दिखाई देते हैं। पार्वती को अपना संस्मरण वे इन शब्दों में सुनाते हैं :

प्रथम दच्छ गृह तव अवतारा।
सती नाम तब रहा तुम्हारा ॥
दच्छ जग्य तब भा अपमाना।
तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना ॥
मम अनुचरन्ह कीन्ह मख भंगा।
जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा ॥
तब अति सोच भयउ मन मोरें।
दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें ॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा।
कौतुक देखत फिरेउँ बेरागा ॥
गिरि सुमेर उत्तर दिसि दूरी।
नील सैल एक सुंदर भूरी ॥
तासु कनकमय सिखर सुहाए।
चारि चारु मोरे मन भाए ॥
तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला।
बट पीपर पाकरी रसाला ॥

सैलोपरि सर सुंदर सोहा।
मनि सोपान देखि मन मोहा॥
सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुंजत मंजुल भृङ्ग॥
तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई।
तासु नास कल्पांत न होई॥
मायकृत गुन दोष अनेका।
मोह मनोज आदि अबिबेका॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं।
तेहि गिरि निकट कबहुं नहिं जाहीं॥
तहं बसि हरिहि भजइ जिमि कागा।
सो सुनु उमा सहित अनुरागा॥
पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकरि तर करई॥
आँव छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥
बट तर कह हरि कथा प्रसंगा।
आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥
रामचरित बिचित्र बिधि नाना।
प्रेम सहित कर सादर गाना॥
सुनहिं सकल मति बिमल मराला।
बसहिं निरन्तर जे तेहिं ताला॥
जब मैं जाइ सो कौतुक देखा।
उर उपजा आनंद बिसेषा॥
तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास॥

आत्म-परिचय दिए बिना अपने ही शिष्य से कथा-श्रवण करते हुए शिव का यह चित्र उनके अभिमान शून्य सरल हृदय का परिचय देता है।

ऐसे अवसरों पर सम्मान पाने की आकांक्षा का उदय त्यागी और तपस्वियों में भी देखा जाता है, पर अमानी शिव इसके अपवाद हैं।

इसी बीच सती हिमांचल के घर में पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं और देवर्षि की प्रेरणा से आशुतोष शिव को पाने के लिए तपस्या में संलग्न हो जाती हैं। सती के प्रति शिव के मन में अनुराग का अभाव हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु सती के मानसिक संस्कार कुछ ऐसा रूप ग्रहण कर चुके थे जिसके कारण वे स्वयं को शिव की मन:स्थिति से एकाकार नहीं कर पाती थीं। वे एक लोकपूज्य पिता की

पुत्री थीं जिन्हें समृद्धि, सम्मान सभी कुछ प्राप्त था। बड़े बाप की इस बेटी का विवाह एक ऐसे देवता के साथ हुआ जो लोक से सर्वथा भिन्न लीक पर चलने वाला था। सती ने अपने पारिवारिक वातावरण में जिन वस्तुओं को कर्मकाण्ड की पद्धति में परम पवित्र मान रखा था, शिव के यहां उससे सर्वथा भिन्न दृष्टि परिलक्षित होती थी। चिता, भस्म, मुण्डमाल जैसी वस्तुओं को वे सर्वथा अपवित्र मानती आई थीं। यहां ऐसी वस्तुओं को ही शिव का सामीप्य प्राप्त था। फिर शिव जहां अनुभूति को प्रधानता देते थे वहां दक्ष पुत्री परम्परा, तर्क-वितर्क पर विश्वास रखती थीं। सती-परित्याग के प्रसंग में भी यही प्रवृत्तियां प्रेरक रूप से विद्यमान थीं। इस लिए सती के पार्वती रूप में जन्म लेने पर भी शिव के अन्त:करण में एक प्रकार की हिचकिचाहट विद्यमान थी। यही मनोविज्ञान उन्हें पार्वती को स्वीकार करने से रोकता है। इस हिचकिचाहट को दूर करने के लिए श्री रामभद्र को उनके समक्ष प्रकट होकर पार्वती से विवाह का अनुरोध करना पड़ा। इसके लिए वे पार्वती की कथा सुनाने का भी कार्य स्वीकार करते हैं। रामभद्र के आदेश को शिव स्वीकार कर लेते हैं :

नेमु प्रेमु संकर कर देखा।
अविचल हृदय भगति कै रेखा॥
प्रगटे राम कृतग्य कृपाला।
रूप सील निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा।
तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥
बहुबिधि राम सिवहि समुझावा।
पारबती कर जनमु सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी।
बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जों मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

आदेश को स्वीकार करते हुए भी वे कुछ समय के लिए आज्ञा भुला देते हैं ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी विद्यमान था। जहां वे पार्वती की प्रशंसा सुनकर उससे प्रभावित हुए, वहीं प्रभु के शील ने उन्हें भावाभिभूत कर लिया। उन्हें स्मरण हो आया जब सती ने अगस्त्य आश्रम तक जाकर भी राम-कथा की उपेक्षा कर दी थी। बिना कथा-श्रवण किए ही लौटकर चले आने में स्वयं में गर्व का अनुभव कर रहीं थीं। उन्हें लगा था कि एक पतिव्रता को अपने पति को छोड़कर किसी अन्य के विषय में सुनने की क्या आवश्यकता है।

उन्हीं सती की कथा सुनाकर जब प्रभु शिवजी से विवाह का आग्रह करते हैं तब वे राम के शील-सिन्धु में डूबकर उनकी आज्ञा को भुला बैठे। यह उन जैसे भक्त के

लिए आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। इस विस्मृति का रहस्य न समझ पाने के कारण ही लोक पितामह ब्रह्मा काम का आश्रय लेकर शिव के अन्तःकरण में विवाह की वासना उत्पन्न करना चाहते हैं। इसी प्रयास में काम को दण्डित होकर भस्मसात् हो जाना पड़ा। किन्तु वहां भी शिव की सन्तुलित करुणा रति को आश्वस्त करती हुई दिखाई देती है। ब्रह्मा भी उनके इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं :

काम जारि रति कहुं बर दीन्हा।
कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा॥

विवाह-प्रसंग में वे विनोद के मूर्तिमान विग्रह ही जान पड़ते हैं। परिणय की स्वीकृति देने के बाद भी दूल्हे के पारम्परिक वेष-भूषा के स्थान पर वे अपने सहज शृंगार को ही स्वीकार करते हैं। भूतभावन देवाधिदेव के अन्तःकरण में विवाह के समाचार का भले ही प्रभाव न पड़ा हो, किन्तु उनके गणों के लिए यह परमानन्द की बेला थी। उत्साह भरे अन्तःकरण से वे शिव के शृंगार में संलग्न हो जाते हैं। पर उन गुणों के द्वारा किया गया शृंगार उनके ही स्वरूप के अनुरूप था। अपनी विलक्षणताओं के लिए रुद्रगण विश्व-विश्रुत हो चुके थे। कहा जाता है कि बैकुण्ठ में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का स्वरूप भगवान् विष्णु के रूप के समान होता है, यहां तक कि उनके द्वारपाल जय और विजय भी विष्णु रूप ही हैं।

किन्तु शिव के कैलास में इससे सर्वथा भिन्न दृश्य दिखाई देता है। उनका प्रत्येक गण अपना रूप आप ही हैं। आकृति, वेष, वाहन सभी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनके गणों का एक अनोखा चित्र मानस में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

नाना बाहन नाना बेषा।
बिहंसे सिव समाज निज देखा॥
कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू।
बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना।
रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना॥
तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें॥
खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष अगनित को गनै॥
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥
नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥

बैकुण्ठ की एकरूपता उसकी महिमा के अनुरूप ही है। किन्तु बैकुण्ठ लोक में वितरित होने वाली सारूप्य मुक्ति तो शरीर त्याग के बाद ही सुलभ होती है। शिव द्वारा प्रदत्त मुक्ति का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। किसी बहिरंग परिवर्तन के

बिना भी मुक्ति-सुख का अनुभव शिव-दृष्टि के द्वारा ही संभव है। यह विराट् विश्व विविधता का आगार है। यहां सर्वत्र भिन्नता का ही दर्शन होता है। इस विविधता और भिन्नता में एकत्व का साक्षात्कार ही ज्ञान है :

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं।।

प्रेत-योनि को निकृष्टतम योनियों में माना जाता है। पितरों को प्रेत-योनि से मुक्त करने के लिए शास्त्र में अनेक विधियों का उल्लेख है। गया, श्राद्ध, सप्ताह-श्रवण की परम्परा का व्यापक प्रसार इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। किन्तु मुक्ति-दाता शिव के यहां एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। उनके गणों में भूत, प्रेत, पिशाच सभी का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः सच्चे ज्ञान की उपलब्धि के कारण उन गणों के अन्तःकरण से बाह्य परिवर्तन की आकांक्षा मिट चुकी है। मुक्ति के लिए उन्हें योनि-परिवर्तन की आकांक्षा का अनुभव नहीं होता। परिवर्तन की आकांक्षा स्वयं भेद-बुद्धि की परिचायक है। यह भेद-बुद्धि शिव-लोक में सर्वथा समाप्त हो चुकी है। इसलिए इन गणों के द्वारा किया जाने वाला शृंगार भी उनकी तात्त्विक दृष्टि के ही अनुरूप था। उन्हें यह बताया गया था कि दूल्हे का मुख्य चिह्न उसके सिर पर धारण कराये जाने वाला मौर है। किन्तु मौर के निर्माण में वस्तु-विशेष का आग्रह नहीं होता। पुष्पों से लेकर स्वर्ण और मणियों से निर्मित मौर देखे जा सकते हैं। प्रत्येक परिवार अपनी सामर्थ्य के अनुकूल मौर का निर्माण करवा लेता है। शिव गणों को लगा कि मौर के निर्माण में किसी बहिरंग वस्तु के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है। शिव तो निरन्तर सर्पों को ही आभूषण के रूप में धारण करते हैं। क्यों न उन सर्पों को ही मौर की आकृति प्रदान कर दी जाय। यही उन्होंने किया भी। सर्प किसी के लिए भय की वस्तु हो सकते हैं, इसकी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते। उनके द्वारा किये जाने वाला शृंगार अन्य लोगों की दृष्टि में उपहास और भय की वस्तु हो सकता था किन्तु भगवान शिव के गणों के लिए यह उनके आनन्दोल्लास की अभिव्यक्ति थी। उनके गण यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वात्सल्य से ओत-प्रोत शिव परिणय की मांगलिक बेला में अपने आश्रित-जनों को स्वयं से दूर कर सकते हैं, यह उनके कारुणिक स्वरूप के अनुरूप न होता। अतः आज के शृंगार में वस्तुगत परिवर्तन न होकर केवल क्रम परिवर्तन ही दृष्टिगोचर हो रहा था। सर्पों के द्वारा निर्मित आभूषण अद्भुत दृश्य उपस्थित कर रहे थे। दूल्हे की झांकी दर्शनीय थी। मानस में वर्णित यह शब्द-चित्र मनश्चक्षुओं के समक्ष एक दिव्य दृश्य उपस्थित कर देता है :

सिवहि संभु गन करहिं सिंगारा।
जटा मुकुट अहि मौरु संवारा।।
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला।
तन बिभूति पट केहरि छाला।।

सखि ललाट सुंदर सिर गंगा।
तनय तीन उपबीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर सिर माला।
असिव बेष सिवधाम कृपाला॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा।
चले बसहं चढ़ि बाजहिं बाजा॥

देव ललनाएं इस अनोखे दूल्हे को देखकर हंस पड़ीं और व्यंग्य भरे स्वर में बोल पड़ीं, "इस वर के योग्य दूल्हन का प्राप्त होना असम्भव है।"

देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं।
बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥

सुकुमारी उमा के साथ इस दूल्हे का परिणय उन्हें अटपटा प्रतीत हो, इसमें आश्चर्य ही क्या था? आगे चलकर स्वयं मैना ने व्यथा भरे स्वर में यही तो कहा था, 'जो फलु चहिहि सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई'। उन्हें शिव बबूल के वृक्ष जैसे प्रतीत हुए थे। जिनके विवाह के लिए उन जैसी रौद्र रूपा कन्या ही उपयुक्त हो सकती थी। रोष और उपहास में एक ही जैसी भावना की अभिव्यक्ति इस सत्य को प्रकट करती है कि इस परिणय को समझ पाना अधिकांश व्यक्तियों के लिए सर्वथा दुरूह था। यों देवपत्नियों और मैना की यह धारणा बहुत सुसंगत प्रतीत नहीं होती। सृष्टि का यह यथार्थ चित्र भी नहीं है। वृक्ष और फल की अनुरूपता का गणित यथार्थ नहीं प्रतीत होता। गुलाब की कटीली डालियों को देखकर यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि इसमें सुकुमार और सौरभ से पूर्ण पुष्प प्रस्फुटित होने वाला है। वह प्रसिद्ध कहानी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है जिसमें यह बताया गया है कि एक बुद्धिमान पथिक प्रकृति के विरोधाभासों को देखकर ब्रह्मा की बुद्धि को कोसने लगा। वह देख रहा था कि कुम्हड़े का विशाल फल एक ऐसी लता में निकला हुआ है जो स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने में भी समर्थ नहीं है, दूसरी ओर आम्र के सुदृढ़ वृक्ष में नन्हें और रसीले फल निर्माता की बुद्धि का उपहास कर रहे थे। यों इस प्रचलित गाथा में एक समाधान भी प्रस्तुत किया गया है जिससे तथाकथित बुद्धिमान का समाधान हो गया। कहानीकार बतलाता है कि यह पथिक आम्र-वृक्ष के नीचे ही लेटकर यह सब कुछ सोच रहा था।

अचानक आम का फल उसके सिर पर टपक पड़ा और तब वह ब्रह्मा की बुद्धिमत्ता की दाद देने लगा कि यदि कहीं यह फल विशाल होता तो उसकी खोपड़ी चकनाचूर हो जाती। कहानीकार का यह पथिक इस समाधान से सन्तुष्ट भले ही हो गया हो किन्तु आज का तार्किक मन इस समाधान को सर्वथा उपहासास्पद ही मानता है। वह कह सकता है कि आम्र-फल यदि इतना विशाल होता तो कोई पथिक उसके नीचे लेटता ही क्यों? फिर क्या निर्माता के लिए यह आवश्यक था कि आम्र-फल को टपकने वाला ही बनाता। वस्तुतः सृष्टि में ऐसे अनगिनत प्रश्न

हैं कि जिनका समाधान सर्वथा असम्भव है। यहीं आकर व्यक्ति या तो नास्तिक हो जाता है अथवा "अति-विचित्र भगवंत गति को जग जानन जोग" कहकर मौन हो जाता है। जिसका समाधान हमारी बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है उसमें सिर खपाने से लाभ ही क्या? इसलिए सृष्टि में जैसा है उसे समग्र रूप में वैसा ही स्वीकार कर लेना सच्ची विवेक बुद्धि का परिचायक है। उसे अस्वीकार करना दुःख को निमंत्रण देना है। जिसे हम पुरुषार्थ के द्वारा परिवर्तित कर सकें, उसे बदलने का प्रयास करते हुए भी बहुत कुछ ऐसा बचा रहेगा कि जिसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में ही शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। इसी को चिन्तकों ने नियति और भाग्य कहकर पुकारा है। जब नियति और भाग्य व्यक्ति को निष्क्रिय बनाते हैं तब वे हमारे लिए घातक सिद्ध होते हैं। किन्तु जब वह यथार्थ को सहन करने की शक्ति देता है तब उसे वरदान रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। मैना की व्यथा को हल्का करने के लिए पार्वती ने इसी तर्क-प्रणाली का आश्रय लिया था। उन्होंने मां को आश्वस्त करते हुए यह कहा:

जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुख-सुख जो लिखा लिलार हमारे जाब जहं पाउब तहीं॥

शिव अपने स्वरूप के द्वारा इसी यथार्थ को सहज रूप से ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। उनके गण भी किसी वाह्य परिवर्तन पर विश्वास नहीं करते। वे जिस योनि में हैं अथवा जो रूप उन्हें उपलब्ध है, उसी में परमानन्दमय मुक्ति का अनुभव करते रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा किये जाने वाला दूल्हे का श्रृंगार भी उसके आनन्दीस्वरूप के अनुरूप ही है।

भगवान विष्णु भी इस बारात में सम्मिलित थे। हरि और हर प्रगाढ़ मित्र हैं। तात्त्विक दृष्टि से एक होते हुए भी विश्व में वे दो भिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रतीत होते हैं। यह भिन्नता इतनी अधिक व्यापक है कि दोनों में एकत्व ढूंढ़ पाना कठिन प्रतीत होता है। नाम, रूप, लीला और जीवन-दर्शन इन सभी में दोनों एक दूसरे के सर्वथा प्रतिद्वंद्वी प्रतीत होते हैं। दोनों मित्र कभी-कभी झगड़ भी पड़ते हैं, ऐसा अनेक उपाख्यानों से प्रतीत होता है। कभी शिव जीतते हैं, तो कभी विष्णु। किन्तु सारे संघर्षों का समापन प्रीति भरे सम्भाषणों से ही होता है। झगड़े का मुख्य कारण देवता और दैत्यों का संघर्ष होता है। विष्णु देवताओं के संरक्षक हैं।

देवता और दैत्यों के संघर्ष में वे सर्वदा देवताओं का ही पक्ष लेते हैं। शिव का मत इस विषय में उनसे भिन्न है। देवता और दैत्यों में वे समान रूप से लोकप्रिय हैं। दैत्य उनकी ही पूजा करते हैं। शिव भक्तों की संख्या बड़ी विशाल है। इसी को दृष्टिगत रखकर मानस में उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की गई है:

असुर नाग सुर नर मुनि देवा।
सकल करहिं पद पंकज सेवा॥

विष्णु की दृष्टि में देवपक्ष का समर्थन ही लोक-कल्याण के लिए आवश्यक है क्योंकि देवता मर्यादा को स्वीकार करते हैं। देवत्व की उपलब्धि पुण्य का परिणाम है। सत्कर्म के प्रति लोगों की आस्था तभी रह सकती है जब संघर्ष में देवत्व की विजय हो। देवाधिदेव शंकर भगवान विष्णु के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उन्हें देवता और दैत्यों में बहुत भेद प्रतीत नहीं होता। उनकी दृष्टि में देवता और दैत्य दोनों ही भोगों में आसक्त हैं। उनके समस्त कर्म भोग को दृष्टिगत रखकर ही होते हैं। देवता सत्कर्म के माध्यम से भोग प्राप्त करना चाहता है किन्तु दैत्य उसे प्राप्त करने के लिए पाप और पुण्य दोनों का आश्रय लेते हैं। पर यह विभाजन भी केवल शाब्दिक और बहिरंग मात्र है। देवता सत्कर्म का आश्रय लेते हुए भी अनेक अवसरों पर इससे सर्वथा भिन्न रूप में आते हैं। वे स्वार्थ सिद्धि के लिए कभी असद्मार्ग का आश्रय न लेते हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पुराणों के सैकड़ों उपाख्यान इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर देवता और दैत्यों में बहुत भेद सिद्ध नहीं होता है। इसलिए देवता और दैत्य जो भी उनके निकट आता है, वे समान रूप से उसकी आकांक्षा पूर्ण करते हैं। कभी वे देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार कर स्वयं भी असुरों का संहार करते हैं, तो कभी अपने आश्रित असुर का पक्ष लेकर अपने मित्र विष्णु को चुनौती देने में नहीं घबराते। इस संघर्ष में हार-जीत की चिन्ता उन्हें नहीं होती। वे निष्काम कर्मयोग के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उनके आश्रित असुर इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवान विष्णु भी यदा-कदा अपनी पराजयों को मैत्री भाव से ही ग्रहण करते हैं। इन संघर्षों से उन दोनों के मैत्री रस में वृद्धि होती है। दोनों ऐसे अवसरों पर अपने एकत्व की चर्चा अवश्य करते हैं। अतः विवाह की इस मांगलिक वेला में भगवान विष्णु सोल्लास सम्मिलित होते हैं। इस विवाह का एक विनोद भरा पक्ष यह भी था कि पार्वती के समक्ष शिव के स्थान पर विष्णु के वरण का प्रस्ताव रखा गया। प्रस्तावक सप्तर्षियों ने शिव-निन्दा और विष्णु की सराहना में कोई कसर न छोड़ी। किन्तु निष्ठामयी उमा के एक ही उत्तर से सप्तर्षियों की योजना पर पानी फिर गया, उन्होंने कहा :

महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम।
जाकर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥

यद्यपि स्वयं भगवान विष्णु इस विवाह के प्रस्तावक नहीं थे और सप्तर्षि भी शिव की प्रेरणा से परीक्षा लेने के लिए ही आए हुए थे। किन्तु इस प्रेम-प्रसंग में शिव की ही विजय हुई, ऐसा स्वीकार करना होगा।

मित्र की इस विजय से विष्णु आनन्दित ही हुए। वे न केवल बारात में ही सम्मिलित हुए, अपितु अपने व्यंग्य-विनोदों से वातावरण को रसमय बनाने लगे। शायद वे भविष्य के दृश्य की कल्पना कर मन ही मन हंसे हों। सर्वज्ञ विष्णु को यह जानने में क्या कठिनाई होती कि उनके मित्र का ससुराल में कैसा सम्मान होने

वाला है। भागते हुए हाथी और घोड़ों पर आसीन बालकों की भीड़ उनके मनश्चक्षुओं के सामने साकार हो रही थी। इसीलिए वे व्यंग्य करने से न चूके। उन्होंने देवताओं से कहा, "दूल्हे के योग्य बारात कहां है? क्या दूसरे के नगर में जाकर उपहास के पात्र बनना चाहते हो? यदि भला चाहते हो तो अपने-अपने समाज को अलग-अलग ले करके चलो।"

बिष्नु कहा अस बिहंसि तब बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज॥
बर अनुहार बरात न भाई।
हंसी करैहहु पर पुर जाई॥

इस व्यंग्य में भगवान शिव के जीवन-दर्शन की मीठी चुटकी ली गई थी। शिव समत्व के साकार विग्रह हैं। वे लोक-मर्यादा का यदि अतिक्रमण करते हैं तो उसके द्वारा उपलब्ध होने वाले सम्मान की भी उपेक्षा करते हैं। मर्यादा का अतिक्रमण करना अत्यन्त सरल है; किन्तु अधिकांश व्यक्ति अतिक्रमण से उत्पन्न होने वाले अपमान को सहने के लिए प्रस्तुत नहीं होते। गरल में अमृतत्त्व का साक्षात्कार तो केवल शिव के लिए ही सम्भव है। इसीलिए उनके आचरण का बहिरंग अनुकरण साधारण व्यक्ति के लिए घातक है। सम्मान और पूजा की आकांक्षा रखने वाले देवताओं को इस व्यंग्य के द्वारा उन्होंने सावधान किया। देवता अपने स्वार्थ के लिए इस विवाह की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बारात में सम्मिलित होकर अपने आनन्दोल्लास का प्रदर्शन कर रहे थे। देवताओं में आज शिव को सन्तुष्ट करने की होड़ लगी हुई थी। वे शिव से अपने सामीप्य का परिचय देने के लिए बार-बार उनके पास जाकर चाटुकारिता भरी वाणी से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास कर रहे थे। रुद्रगण अपने स्वामी के प्रति देवताओं का यह स्नेह देखकर प्रसन्न हो रहे थे। इसीलिए उन्होंने शिव का सामीप्य छोड़कर देवताओं के लिए देवाधिदेव का सामीप्य सुलभ बना दिया था। विष्णु देवताओं की इस दुर्बलता से परिचित हैं। इसीलिए वे कटाक्ष करना नहीं चूकते। 'बिलग-बिलग होइ चलहु' में यही संकेत था; साथ ही अपने मित्र पर कटाक्ष था, "दूल्हा महोदय! प्रत्येक बारात ले जाने वाला यह चाहता है कि बाराती सम्मानित हों पर आप तो अपना स्वभाव छोड़ने से रहे। दूल्हे के विकट बेष से होने वाले अपमान में भी आप आनन्दित ही होंगे, यह मैं जानता हूं। किन्तु बारातियों की दुर्दशा की कल्पना तो कीजिये। आपके गण ही आपके दर्शन का अनुगमन कर सकते हैं। आपका पथ लोक से सर्वथा भिन्न है। इसलिए आप अपने गणों के मध्य ही सुशोभित होते हैं। भोलानाथ! इन देवताओं पर तो कृपा कीजिये।" मित्र के इस व्यंग्य में शिव ने पूरा रस लिया। मन ही मन वे मुस्कराते हुए सोचने लगे, लक्ष्मीपति विष्णु व्यंग्य का कोई अवसर नहीं चूकते हैं:

मन ही मन महेस मुसुकाहीं।
हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं॥

साधारण व्यक्ति व्यंग्य से वचना चाहता है क्योंकि स्वयं को उपहासास्पद वनाना किसी को अच्छा नहीं लगता। पर शिव तो अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप से व्यंग्य का अवसर प्रदान करते हैं। स्तुति और प्रशंसा तो सभी को प्रिय है किन्तु व्यंग्य और उपहास का आनन्द तो भुजंग-भूषण विषपायी शिव ही ले सकते हैं।

शंकर को मानस में 'सुकवि' की उपाधि दी गयी है। काव्य में वक्रोक्ति व्यंग्य का वड़ा महत्त्व है। काव्य रसिक शिव को विष्णु के वाक्य में काव्यानन्द की अनुभूति हुई। वे जानते थे कि विष्णु के द्वारा 'बिलग बिलग होइ चलहु' का आदेश देवताओं को संकोच में डाल देगा। यदि विष्णु के वाक्य को सुनकर देवता शिव से दूर हो जाते तो यह अशोभन प्रतीत होता। शिव ने स्वयं ही अपने गणों को सन्निकट बुला लिया और फिर अपने गणों को देखकर खूब हंसे। उनका प्रत्येक गण व्यंग्य, वक्रोक्ति और हास्य का साकार स्वरूप ही तो था। उनके लिए सारी सृष्टि ही मूर्तिमती कविता है। जिसमें प्रत्येक रस विद्यमान है। काव्य में व्यक्ति प्रत्येक रस का आनन्द लेता है। वीभत्स और रौद्र को भी वह रस कहकर ही पुकारता है। किन्तु जीवन में वीभत्स और रौद्र को देखकर उसे रसानुभूति नहीं होती। यह विरोधाभास भगवान शिव में विद्यमान नहीं है। इसलिए उनके विग्रह और गणों में मानो प्रत्येक रस ही मूर्तिमंत हो रहा है। न केवल काव्य में अपितु जीवन में भी वे सारे रसों को स्वीकार करते हैं। गणों से घिरे हुए शिव को देखकर प्रतीत होने लगा कि अब दूल्हा और बारात एक दूसरे के अनुरूप हैं :

अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।
भृङ्गिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥
सिव अनुसासन सुनि सब आए।
प्रभु पद जलज सीस तिन्ह नाए॥
नाना बाहन नाना बेषा।
बिहँसे सिव समाज निज देखा॥

× × ×

जस दूलहु तसि बनी बराता।
कौतुक बिबिध होहिं मग जाता॥

यह विलक्षण बारात लक्ष्य के सन्निकट पहुंच गयी। हिमांचल नगर के स्वागतकर्ता वड़े उत्साहपूर्वक बारात का स्वागत करने के लिए उमड़ पड़े। देवताओं को देखकर सभी बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि जहां बाराती इतनी भव्य वेषभूषा में सौन्दर्य के मूर्तिमंत विग्रह प्रतीत हो रहे हैं, वहां वर न जाने कितना सुन्दर और समृद्धि से पूर्ण होगा। सभी की दृष्टि अचानक भगवान हरि पर टिक गई। लोगों को लगा कि सम्भवतः दूल्हा यही होगा। उनका आनन्दोल्लास सौ गुना बढ़ गया।

विनोदी विष्णु ने उनके भ्रम का निराकरण करते हुए कहा कि दूल्हा बारात के पृष्ठ भाग में है। नगरवासियों का उत्साह रुद्रगणों को देखते ही समाप्त हो गया। दूल्हे का दर्शन कर वे आतंकित हो उठे। बच्चों के तो प्राण ही सूख गए। स्वागत-कर्ता जिन वाहनों पर आरूढ़ होकर आए थे, वे भाग खड़े हुए। उथल-पुथल के इस दृश्य ने भविष्य के स्वागत का पूर्वाभास दे दिया :

नगर निकट बरात सुनि आई।
पुर खरभरु सोभा अधिकाई॥
करि बनाव सजि बाहन नाना।
चले लेन सादर अगवाना॥
हियं हरषे सुर सेन निहारी।
हरिहिं देखि अति भए सुखारी॥
सिव समाज जब देखन लागे।
बिडरि चले बाहन सब भागे॥

यदि कोई दूसरा वर होता तो इस पूर्वाभास से सावधान हो जाता। शिव क्षण भर में स्वयं को कोटि कन्दर्प कमनीय के रूप में परिणत कर सकते थे। किन्तु वे जीवन के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कराने के लिए बद्ध परिकर थे। जीवन के यथार्थ से भागकर कल्पित लोक में रहने वाला, शिव की दृष्टि में बाल-बुद्धि का है। बाल-बुद्धि से प्रेरित होकर हिमांचल और मयना उन्हें अपनी श्रद्धारूपा पार्वती अर्पित करें, यह स्वीकार नहीं है। स्वयं को श्रद्धालु समझने वाले अनगिनत व्यक्ति बहुधा मिथ्या-धारणाओं के विनष्ट होने पर संशय, दुःख और द्वेष की प्रवृत्तियों से घिर जाते हैं। जो दम्भी व्यक्ति श्रद्धा के माध्यम से दूसरों का शोषण करना चाहता है वही इन मिथ्या धारणाओं को बढ़ावा देता है। शिव को इस मिथ्या लोक श्रद्धा की आवश्यकता नहीं है। वे चाहते हैं कि जीवन के यथार्थ को समझ कर ही श्रद्धा समर्पित की जाए। श्रद्धा का तात्पर्य भौतिक सुख-साधनों की उपलब्धि नहीं है।

जीवन, मृत्यु, ऐश्वर्य और दरिद्रता, सौन्दर्य और वीभत्सता में एकरस रहने वाली श्रद्धा ही श्रद्धा पद की अधिकारिणी है। पार्वती का स्वरूप और स्वभाव इसी प्रकार का है। शिव के प्रति उनके मन में कोई भ्रान्ति नहीं है। प्रारम्भ में देवर्षि नारद और बाद में सप्तर्षियों के मुख से शिव पर लगाए जाने वाले अगणित आक्षेप वे सुन चुकी हैं। इससे उनकी श्रद्धा में रंचमात्र परिवर्तन नहीं हुआ था। किन्तु हिमांचल-पत्नी मयना की मनःस्थिति इससे भिन्न थी। देवाधिदेव शिव के विषय में वे भी बहुत कुछ सुन चुकी थीं। पर उन्होंने इन सबको इतना महत्त्व नहीं दिया था। उन्होंने यह समझ कर स्वयं को भुलावा देने की चेष्टा की थी कि शिव संसार के समक्ष चाहे जिस रूप में आते हों, विवाह की मांगलिक वेला में हमारे समक्ष एक भिन्न रूप में ही आवेंगे। किन्तु उनकी कल्पनाएं चकनाचूर हो गईं। शिव अपने सहज स्वरूप में ही हिमांचल के घर आ उपस्थित हुए। उत्साह और

उमंग से भरी हुई मयना वर की आरती उतारने के स्थान पर आतंक, दुःख और रोष में भरी हुई घर में लौट आती हैं। व्याकुलता और रोष में वे देवर्षि को दोष देने लग जाती हैं, जिन्होंने इस पागल वर की उपलब्धि के लिए उमा को तप करने का आदेश दिया था। बुद्धि विचलित हो गई, सत्संग के प्रति उनकी आस्था जाती रही। निराशा की चरम सीमा पर पहुंचकर वह आत्म-हत्या के लिए व्यग्र हो उठीं :

मैना सुभ आरती संवारी।
संग सुमंगल गावहिं नारी।
कंचन थार सोह बर पानी॥
परिछन चलीं हरहि हरषानी॥
बिकट बेष रुद्रहि जब देखा।
अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा।
गए महेसु जहां जनवासा॥
मैनां हृदयं भयउ दुखु भारी।
लीन्ही बोलि गिरीस कुमारी॥
अधिक सनेहं गोद बैठारी।
स्याम सरोज नयन भरे बारी॥
जेहिं बिधि तुम्हहि रूप अस दीन्हा।
तेहिं जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥
कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुन्दरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुं परौं।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥
भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति सुता सनेहु संभारि॥
नारद कर मैं काह बिगारा।
भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥
अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा।
बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा॥
सांचेहुं उन्ह कें मोह न माया।
उदासीन धनु धामु न जाया॥
परघर घालक लाज न भीरा।
बांझ कि जान प्रसव कै पीरा॥

समदर्शी शिव की दृष्टि में इन घटनाओं का कोई महत्त्व न था। वे सहज भाव से जनवासे में जाकर टिक गए। उन्हें यह विश्वास था कि ममत्व के कारण बुद्धि

रूपा मयना यथार्थ का साक्षात्कार कर विचलित हो गई हैं। सत्संग के माध्यम से ही इसका परिष्कार होगा। लज्जा और पश्चात्ताप से परिशोधन होकर पुनः समर्पण की वृत्ति का उदय होगा। वे बुद्धि (मयना) को यह अवसर प्रदान करते हैं। स्वार्थ-परायण देवता अवश्य ही कुछ समय के लिए विचलित हो उठे होंगे। किन्तु अन्त में शिव की धारणा ही सत्य निकली। देवर्षि और सप्तर्षियों के सत्संग से मयना की भ्रान्ति का निराकरण हो गया। परिष्कृत बुद्धि श्रद्धा के समर्पण के लिए व्यग्र हो उठी। यह समाचार नगर में चारों ओर फैल गया, विषाद का क्षणिक वातावरण दूर होकर नगर में पुनः उल्लास का वातावरण उमड़ पड़ा। जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब अपनी कल्पना के प्रतिकूल चित्र देखकर बुद्धिमान व्यक्ति भी व्यथित हो जाते हैं। किन्तु सत्संग के माध्यम से उनकी डगमगाती हुई आस्था पुनः सुस्थिर हो जाती है। शिव की यह अटपटी लीला साधना के इस सत्य को प्रकट कर देती है।

आनन्दित मयना और हिमांचल अपनी पुत्री के ही चरणों में नत हो जाते हैं। सप्तर्षियों के सत्संग से उन्हें यह ज्ञात हो चुका था कि उमा शिव की शाश्वत संगिनी हैं। यह तो देवाधिदेव की अनुकम्पा थी कि उन्होंने अपनी ही शक्ति को उनके घर में जन्म देकर उन्हें समर्पण का श्रेय प्रदान किया। समर्पण का सात्त्विक अभिमान विनष्ट हो चुका था और उन्होंने कर्तृत्वशून्यता की मनःस्थिति में कन्यादान की विधि सम्पन्न की। जहां दान, दाता और प्रतिगृहीता तीनों दिखाई दे रहे थे। किन्तु इनमें निहित दोषों का सर्वथा अभाव था। दाता में देने का गर्व होता है, प्रतिगृहीता में स्वयं के प्रति हीनता की वृत्ति होती है। देय वस्तु में जड़ता होती है। उसे यह ज्ञात नहीं होता कि उसकी क्या उपयोगिता है। किन्तु हिमांचल के मण्डप में होने वाला यह समर्पण यज्ञ इन दोषों से सर्वथा शून्य था। दाता में अधिकार वृत्ति का अभाव हो चुका था। प्रतिगृहीता पूर्णकाम था और देय (पार्वती) चैतन्य आनन्द से परिपूर्ण थी। इसी विलक्षण विवाह का मधुर चित्र मानस की इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

सुनि नारद के बचन तब सब कर मिटा बिषाद।
छन महुँ ब्यापेउ सकल पुर घर घर यह संबाद॥

तब मैना हिमवंतु अनंदे।
पुनि पुनि पारबती पद बंदे॥
नारि पुरुष सिसु जुबा सयाने।
नगर लोग सब अति हरषाने॥
लगे होन पुर मंगल गाना।
सजे सबहिं हाटक घट नाना॥

× × ×

बेदी बेद बिधान संवारी।
सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥

सिंघासनु अति दिब्य सुहावा।
जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिरु नाई।
हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥
बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई।
करि सिंगारु सखीं लै आई॥
देखत रूप सकल सुर मोहे।
बरनै छबि अस जग कबि को है॥
जगदंबिका जानि भव भामा।
सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा॥
सुंदरता मरजाद भवानी।
जाइ न कोटिहुं बदन बखानी॥
कोटिहुं बदन नहिं बनै बरनत जग जननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनीं मध्य मंडप सिव जहां।
अवलोकि सकहिं न सकुच पति पद कमल मधुकरु तहां॥
मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि॥
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियं जानि॥
जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई।
महामुनिन्ह सो सब करवाई॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी।
भवहि समरपी जानि भवानी॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा।
हियं हरषे तब सकल सुरेसा॥
बेद मंत्र मुनिबर उच्चरहीं।
जय जय जय संकर सुर करहीं॥
बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना।
सुमन बृष्टि नभ भै बिधि नाना॥
हर गिरिजा कर भयउ बिबाहू।
सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥
दासी दास तुरग रथ नागा।
धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥
अन्न कनक भाजन भरि जाना।
दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥

दाइज दियो बहु भांति पुनि कर जोरि हिम भूधर कह्यो।
का देउं पूरन कामसंकर चरन पंकज गहि रह्यो॥
सिवँ कृपा सागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहिं कियो।
पुनि गहे पद पाथोज मयनां प्रेम परिपूरन हियो॥
नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बरु देहु॥

इसके पश्चात् हर और गिरिजा के विलक्षण शृंगार का सांकेतिक वर्णन मानस में प्राप्त होता है। व्यक्ति सृष्टि में यथार्थ से इसीलिए घबराता है क्योंकि उसमें उसे रसाभाव की अनुभूति होती है। किन्तु शिव तो रसस्वरूप हैं। रौद्र, वीभत्स, भयानक ही उनके अंग नहीं हैं। शृंगार की रसवन्ती धारा भी उनमें प्रवाहित हो रही है। शिव-शिवा की शृंगार लीला में इसी रहस्य की झांकी दिखाई देती है। रामचरितमानस में शृंगार को सर्वदा मर्यादित रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। शृंगार की वह वेगवती नदी जो मर्यादा के कूल-कगारों को तोड़ती हुई समाज को विनष्ट करने पर तुल जाती है, उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसलिए उन्होंने इस विलास लीला को इतने सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया है जो पहाड़ से प्रवाहित होने वाले झरने के रूप में तृषावंत पथिक की प्यास बुझाने के लिए यथेष्ट हो :

जबहिं संभु कैलासहिं आए।
सुर सब निज निज लोक सिधाए॥
जगत मातु पितु संभु भवानी।
तेहिं सिंगारु न कहउं बखानी॥
करहिं बिबिधि बिधि भोग बिलासा।
गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥
हर गिरिजा बिहार नित नयऊ।
एहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा।
तारकु असरु समर जेहिं मारा॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।
षन्मुख जन्मु सकल जग जाना॥
जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं बृषकेतु सुत कर चरित संछेपहि कहा॥
यह उमा संभु बिबाहु जे नर नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिबाह मंगल सबंदा सुख पावहीं॥

कुमार कार्तिक के जन्म से देवताओं की समस्या का समाधान हुआ। उनकी अपहृत सुख-सम्पत्ति उन्हें पुनः प्राप्त हो गई। शिव और शिवा के मिलन का यह फल तो प्राप्त हुआ ही, पर सबसे बड़ा लाभ रामचरितमानस का प्राकट्य था।

वह कृति जो अनगिनत वर्षों से सुकवि शिव के अन्तःकरण में विद्यमान थी, अधिकारी श्रोता के आते ही अभिव्यक्ति हो गई। समग्र रामचरितमानस शिव-शिवा के संवाद के रूप में ही संसार को प्राप्त हुआ। गोस्वामीजी इसी पक्ष को विस्तार देते हैं। भगवान् शंकर भी पार्वती की रामकथा के विषय में जिज्ञासा देखकर आनन्दित हो उठते हैं और सराहना के स्वर में कह उठे :

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।
तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूंछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा॥

वैदिक मन्त्रों में शिव की स्तुति के अनेक मंत्र विद्यमान हैं। पुराण और लोक में उन्हें लेकर अनगिनत गाथाएं प्रचलित हैं। वे भगवान् हैं, दुराधर्ष हैं, दुर्गम हैं, रुद्र उनका नाम है। किन्तु श्री रामचरितमानस में वे एक उत्कृष्ट भक्त के रूप में समादृत किए गए है। अनन्त गुणों के निलय इस देवता का चरित्र अकथनीय है। भगवती उमा ने उनकी सराहना में जिस शब्दावली का प्रयोग किया वह उनके व्यापक स्वरूप की ओर इंगित करने वाली है :

प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम।
जोगि ग्यान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम॥

वे नित्य कला के आचार्य हैं। उनकी डमरू ध्वनि में ऋषियों को व्याकरण के सूत्र सुनाई पड़े। जिनकी कृपादृष्टि में वैभव-विलास की समग्रता है, किन्तु जिनकी तृतीय दृष्टि खुलते ही विश्व विनष्ट हो जाता है। उन शिव का चरित्र सर्वथा अतुलनीय है। अतः गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिलाकर मैं भी यही कहना चाहूंगा :

चरित सिंधु गिरिजा रमन बेद न पावहिं पार।
बरनै तुलसीदास किमि अति मतिमंद गंवार॥

॥ श्री रामः शरणं ममः ॥

श्री भरत जी

श्री लक्ष्मण के व्यक्तित्व से भिन्न श्री भरत का व्यक्तित्व सर्वथा निर्विवाद और सम्मोहक रहा है। महर्षि वाल्मीकि से लेकर गोस्वामी तुलसीदास तक लिखी गई समग्र रामकथाओं में उनके व्यक्तित्व का सम्मोहक चित्र प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इन समग्र चित्रों में गोस्वामीजी के द्वारा उरेहा गया चित्र सर्वथा अनुपम है। श्री भरत के व्यक्तित्व में तुलसीदास का स्वयं अपना मनोभाव भी साकार हो उठा है। वे स्वयं को श्री भरत के जितना निकट पाते हैं, मानस के किसी अन्य पात्र में उन्हें उतना अपनत्व दिखाई नहीं देता है। वे अपने आप में जिस आदर्श को साकार देखना चाहते हैं, उसकी प्रेरणा उन्हें श्री भरत के व्यक्तित्व से ही प्राप्त हुई है। अयोध्याकाण्ड की अनेकों पंक्तियों में वे इसे कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए अन्त में कहते हैं कि "यदि श्री भरत का जन्म न हुआ होता तो संसार में असाध्य-से प्रतीत होने वाले गुण और आदर्श साकार न हो पाते। पर सबसे अधिक हानि तो उनकी अपनी थी क्योंकि इसके अभाव में वे स्वयं को रामभद्र के समक्ष प्रस्तुत न कर पाते :

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनिमन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

उनकी मान्यता तो यह है कि राघवेन्द्र के वनगमन का मुख्य उद्देश्य श्री भरत के आदर्श और व्यक्तित्व को समाज के समक्ष प्रस्तुत करना था। इसके लिए वे अमृत की उपलब्धि के लिए किए जाने वाले समुद्र-मन्थन की गाथा को रूपक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। देवता और दैत्यों के संघर्ष में बार-बार की पराजय से खिन्न देवता जब भगवान विष्णु का आश्रय ग्रहण करते हैं तब वे उन्हें समुद्र-मन्थन का आदेश देते हैं। जिससे वे उससे प्राप्त होने वाले अमृत को पीकर दैत्यों को पराजित कर सकें। भगवान नारायण की बताई हुई योजना सफल हुई और देवता अन्त में विजयी हुए। किन्तु यह युद्ध बहिरंग सुख-समृद्धि के लिए लड़ा गया था। साधकों के अन्तर्जीवन में चलने वाले आन्तरिक संघर्ष में भी यह समस्या बार-बार उभरकर सामने आती रही है। सद्‌गुण और दुर्गुणों के संघर्ष में अनगिनत बार ऐसे अवसर आते हैं जब दुर्गुण दुर्विचार विजयी हो जाते हैं। विवेक पराजित हो जाता है। भक्तिशास्त्र की यह मान्यता है कि केवल सद्‌गुण पुरुषार्थ के बल से इस युद्ध में विजयी नहीं हो सकते। जब तक साधक के जीवन में भगवत्प्रेम का उदय नहीं होता तब तक उसके सारे सद्‌गुणों का पर्यवसान अहंकार में होता है। यह दुर्गुण दुर्विचारों की सबसे बड़ी विजय है। जिन साधकों का अन्तःकरण भगवत्प्रेम से सराबोर है, वे

स्वयं के सद्गुणों को प्रभु की कृपा का परिणाम मानते हैं। इसलिए वहां अहंकार का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु भगवत्प्रेम कैसे प्राप्त हो, यह प्रश्न साधक के मन को व्याकुल बनाता है। भगवत्प्रेम ही वह अमृत है जो सद्गुणों को अमरत्व प्रदान करता है। गोस्वामी जी की दृष्टि में यह भगवत्प्रेम भरत के व्यक्तित्व में समाया हुआ था किन्तु जैसे समुद्र-मंथन के पहले लोगों को समुद्र में छिपे हुए अमृत का ज्ञान न था, ठीक इसी तरह श्री राम के वनगमन के पूर्व भरत का व्यक्तित्व लोक-दृष्टि से ओझल था। चौदह वर्ष का वियोग ही वह मन्दराचल था जिसे मथानी बनाकर भरत समुद्र का मन्थन किया गया। और तब उससे प्रेमामृत प्रकट हुआ। भौतिक समुद्र-मन्थन का कार्य जहां देवता और दैत्यों ने मिलकर किया था, वहां इस कार्य को अकेले प्रभु राम ने कर दिखाया :

प्रेम अमिय मन्दर बिरहु भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधुहित कृपासिंधु रघुबीर॥

बाल्यावस्था से ही भरत के स्वभाव में ऐसी विनम्रता थी जो उन्हें स्वयं को सामने लाने ही नहीं देती थी। स्वयं उनका रूप-रंग शील-स्वभाव राघवेन्द्र से इतना अधिक मिलता-जुलता था कि उससे दर्शकों के मन में बहुधा भ्रान्ति की सृष्टि होती थी। वे उन्हें राम समझने की भूल कर बैठते थे :

भरत राम ही की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥

इस भ्रान्ति ने कभी भी श्री भरत को आनन्दित नहीं किया। राम समझ लिए जाने पर उन्हें जो आदर और स्नेह प्रदान किया जाता था, उससे वे जिस लज्जा और संकोच का अनुभव करते थे, बाद में वह उनके स्वभाव का अंग बन गया। उन्हें लगता था कि वे उस खोटे सिक्के की भांति हैं जिसे वास्तविक मानकर भुनाने का प्रयास किया जाता है। उनके अन्तर्मन में रामभद्र के प्रति अगाध स्नेह था पर वे उनके सामीप्य से सर्वदा दूर भागते दिखाई देते हैं। लक्ष्मण को जहां एक क्षण के लिए भी राम की दूरी असह्य है, वहां श्री भरत को दूर रहकर ही राघव के स्मरण और चिन्तन में आनन्द की अनुभूति होती थी। राम के समीप पहुंचकर वे जिस संकोच का अनुभव करते थे, वह उनके शब्दों में चित्रकूट में इन वाक्यों में प्रकट हुआ :

महूं सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन॥

महर्षि विश्वामित्र के द्वारा महाराज श्री दशरथ से जिन दो पुत्रों की याचना की गई, उसमें राम के संगी लक्ष्मण हैं। महर्षि जिस उद्देश्य से इन राजकुमारों को ले जाना चाहते थे, उसकी पूर्ति में श्री भरत की तुलना में लक्ष्मण अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी महर्षि की धारणा थी। यद्यपि उन्होंने अत्यन्त अल्प अवधि के लिए इन चारों भाइयों को देखा था। किन्तु इतने में ही वे यह भली प्रकार समझ गए

कि राघव के समीप रहकर भरत का व्यक्तित्व कभी विकसित हो ही नहीं सकता है। उन्हें संघर्ष और संहार के लिए जिस तेजस्वी व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, वह उन्हें लक्ष्मण में साकार दिखाई दे रहा था। महर्षि के साथ दोनों भाइयों की यह यात्रा उन्हें विश्व-विश्रुत बना देती है। ताड़का-सुबाहु का संहार और उनके साथ आने वाली सेना की पराजय से राम-लक्ष्मण की कीर्ति दिक्-दिगन्त में व्याप्त हो गई। जनकपुर में किये जाने वाला धनुर्भंग विश्वविजय की गाथा का अमिट अध्याय बन गया। इस सारी प्रक्रिया में लक्ष्मण की भूमिका अतुलनीय थी। ऐसे अवसर पर जब दो भाई अनुपम कीर्ति के अधिकारी बन रहे थे, श्री भरत कहां किस मनःस्थिति में थे ? क्या उनके अन्तर्मन में ईर्ष्या की सहज वृत्ति का उदय नहीं हुआ ? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। रामचरितमानस में इसका बड़ा ही मार्मिक उत्तर प्रस्तुत किया गया है। धनुर्भङ्ग के पश्चात् महाराज श्री जनक ने चक्रवर्ती सम्राट के पास जो निमन्त्रण-पत्र भेजा, उसे पाकर महाराज श्री दशरथ आनन्द से विह्वल हो उठे। उस समय श्री भरत अपनी मित्रमण्डली के साथ खेल में संलग्न थे। अचानक ही उन्हें यह समाचार मिला कि जनकपुर से दूत पत्र लेकर आये हुए हैं। तत्काल वे सभा-कक्ष की ओर चल पड़ते हैं। उनकी बहिरंग गति के द्वारा उस उत्सुकता की कल्पना नहीं की जा सकती है जो उनके अन्तर्मन में उमड़ रही थी। श्री भरत भावनाओं के प्रदर्शन में विश्वास नहीं रखते। बेबसी की स्थिति में ही उनके अन्तर्मन का भाव क्रिया-कलाप में परिलक्षित होता है। समुद्र से की जाने वाली उनकी तुलना सर्वथा सार्थक है। बाहर से देखने पर समुद्र में केवल अथाह जलराशि ही दिखाई देती है। उसके अन्तराल में क्या छिपा हुआ है, इसे जान पाना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। जनकपुर से आये हुए पत्र का समाचार सुनकर यदि वे दौड़ते हुए आते तो उनके अन्तर्मन की उत्सुकता को समझ पाना सहज हो जाता। किन्तु वे सहज गति से ही चल कर आते हैं और वे महाराज श्री दशरथ से पत्र के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं :

खेलत रहे तहां सुधि पाई।
आए भरत सहित हित भाई॥
पूंछत अति सनेह सकुचाई।
तात कहां ते पाती आई॥
कुसल प्रान प्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह साने बचन बाँची बहुरि नरेश॥

पत्र सुनकर शरीर पुलकित हो उठा। क्षण भर के लिए ऐसा लगा जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र में ज्वार उमड़ आया हो। पर इससे अधिक आनन्दाश्रु या विह्वलता के भाव उनकी आकृति पर परिलक्षित नहीं होते हैं। समुद्र अपनी ही मर्यादा में रहा। उन्हें पत्रिका से जिस आनन्द की अनुभूति हुई थी, उसका रसास्वादन वे मन ही मन कर रहे थे। उनके अन्तर्मन में कहीं इस हीन भावना का

संस्पर्श ही नहीं होता है कि जब उनके दो भाई ख्याति के सर्वोच्च शिखर को छू रहे हैं, तब वे अयोध्या में एक साधारण राजकुमार की भांति अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। उनके मन में यह भावना भी नहीं आती कि 'काश, लक्ष्मण के स्थान पर श्री रामभद्र के साथ मैं होता !' राघवेन्द्र के साथ लक्ष्मण की अनिवार्यता को वे भलीभांति जानते थे। निकट रहकर सेवा के लिए जिस निःसंकोच वृति की आवश्यकता थी वह भरत के लिए सम्भव ही न थी। शील और संकोच के मूर्तिमान रूप भरत वह भूमिका सम्पन्न ही नहीं कर सकते थे जो धनुषयज्ञ के मण्डप में लक्ष्मण के द्वारा अभिनीत की गई थी। उन्होंने स्वयं को कभी भी लक्ष्मण के स्थान पर रखने की कल्पना नहीं की। उनकी दृष्टि में यदि रामभद्र उनके इष्ट और आराध्य थे तो उनके सर्वोत्कृष्ट सेवक और भाई लक्ष्मण थे। उनकी यह सुनिश्चित मान्यता थी जिसे वह बार-बार दुहराते रहे कि लक्ष्मण जैसा भाई विश्व के इतिहास में न तो हुआ है और न होगा :

लालन जोग लखन लघु लोने।
भे न भाइ अस अहहिं न होंने ॥

स्वयं के प्रति इतनी तटस्थता व ईर्ष्या और मात्सर्य का ऐसा अभाव विश्व के इतिहास में बिरले महापुरुषों के जीवन में ही सम्भव हुआ। अनेक अवगुणों से स्वयं को मुक्त कर लेने वाले महापुरुष भी ईर्ष्या-भाव से मुक्त नहीं हो पाते। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। साधारणतया जहां अन्य अवगुण व्यक्ति को कलंकित बनाते हैं, वहां ईर्ष्या की वृत्ति बहुधा सत्कर्म की दिशा में प्रेरित करती है। यशस्विता में अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने की आकांक्षा व्यक्ति को और भी उत्कृष्ट कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करे, यह सर्वथा स्वाभाविक है। अतः बहिरंग दृष्टि से ईर्ष्या और मात्सर्य की वृत्ति घातक प्रतीत नहीं होती। किन्तु दूरगामी कल्याण की दृष्टि से इसके दुष्परिणाम जब सामने आते हैं तब व्यक्ति को इनका सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति उस खिलाड़ी की भांति होता है जो प्रतिद्वन्द्वी को दौड़ में पराजित करने के लिए अपनी स्वाभाविक शक्ति के स्थान पर उत्तेजक औषधि लेकर विजय प्राप्त करना चाहता है; भले ही उत्तेजक पदार्थ बाद में शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध हो। श्री भरत के सद्‌गुण सहज स्फूर्त हैं। उसके पीछे ईर्ष्या और मात्सर्य के उत्तेजक भावों की आवश्यकता नहीं है। वे एक ऐसे पात्र हैं जो स्फूर्ति और सामर्थ्य होते हुए भी दौड़ में भाग लेकर प्रथम स्थान पाना नहीं चाहते। धनुर्भंग के समाचार से उन्हें जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसमें कहीं भी स्वयं को रखने की वृत्ति उनमें जाग्रत् नहीं होती। वे एक ऐसे भक्त की भांति हैं जो प्रभु के समक्ष नैवेद्य अर्पित करता हुआ इष्टदेव से अनुरोध कर रहा हो कि वे उसका प्रत्येक कण स्वीकार कर लें। उसे प्रसाद के रूप में एक कण भी नहीं चाहिए। सहज स्नेह का परिपूर्ण समर्पण श्री भरत के व्यक्तित्व में विद्यमान है :

जाहि न चाहिअ कबहुं कछु तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेह॥

अयोध्या से मिथिला के लिए जो बारात जाने वाली थी, उसमें अश्व-समूह की साज-सज्जा का भार श्री भरत को सौंपा गया। इस कार्य को उन्होंने पूजा-भावना से सम्पन्न किया। वैसे भी रामभद्र के घोड़ों की साज-सम्हाल का कार्य उन्हें अत्यन्त प्रिय था। जिस अश्व पर स्वयं उनके प्रभु आरूढ़ होते हों उससे बढ़कर उनके लिए आदर का पात्र कौन हो सकता था। घोड़ों को भी श्री भरत के स्पर्श में रामभद्र के सामीप्य सुख की अनुभूति होती थी। गोस्वामीजी ने श्री भरत के द्वारा की जाने वाली साज-सज्जा का शब्द-चित्र इस रूप में प्रस्तुत किया है :

भूप भरत पुनि लिए बोलाई।
हय गय स्यंदन साजहु जाई॥
चलहु बेगि रघुबीर बराता।
सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता॥
भरत सकल साहनी बोलाए।
आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे।
बरन बरन बर बाजि बिराजे॥
सुभग सकल सुठि चंचल करनी।
अय इव जरत धरत पग धरनी॥
नाना जाति न जाहिं बखाने।
निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने॥
तिन्ह सब छयल भए असवारा।
भरत सरिस बय राजकुमारा॥
सब सुन्दर सब भूषनधारी।
कर सर चाप तून कटि भारी॥
छरे छबीले छयल सब सूर सुजान नबीन।
जुग पदचर असवार प्रति जे असिकला प्रबीन॥

मिथिला में विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। विवाह तो श्री भरत का भी मिथिला में ही सम्पन्न हुआ किन्तु उसमें उस नाटकीय उत्कर्ष का अभाव है जो रामभद्र के विवाह में दिखाई देता है। महर्षि विश्वामित्र के साथ की गई यात्रा के प्रारम्भ से लेकर प्रभु के चरित्र में आज तक जो घटनाएं हुई थीं, उनका ऐतिहासिक महत्त्व था। भरत इतिहास-पात्र बनने के स्थान पर स्वयं को सर्वथा आत्म-विस्मृत रखना चाहते हैं। श्री राम के यश के भागीदार के रूप में उन्हें कोई जाने, यह उन्हें स्वीकार नहीं है। विवाह के पश्चात् अयोध्या लौटने के कुछ समय बाद ही वे मामा युधाजित के यहां केकय देश चले जाते हैं। वहां उनके निवास का काल केवल कुछ

महीनों का न होकर वर्षों का था। साधारण दृष्टि से इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि राघवेन्द्र का यह अनन्यानुरागी भाई इतना लम्बा समय ननिहाल में क्यों व्यतीत कर देता है, जबकि वहां इसकी कोई उपयोगिता न थी। इसका सही रहस्य हृदयंगम करने के लिए इन सारी घटनाओं की पृष्ठभूमि में जाना होगा।

महारानी कैकेयी का विवाह विशेष परिस्थितियों में सम्पन्न हुआ था। अपनी पुत्री देते हुए केकय नरेश ने महाराज श्री दशरथ से यह वचन लिया था कि उनकी पुत्री से उत्पन्न होने वाली सन्तान ही अयोध्या के राज्य की उत्तराधिकारी होगी। यह कोई ऐसा रहस्य नहीं था जिसका ज्ञान श्री भरत को न हो। राज्य के उत्तराधिकार का यह प्रश्न जटिल रूप ग्रहण कर सकता था। सूर्यवंश की परम्परा में ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता आया था। परम्परा और दिए गये वचन के इस विरोधाभास में समन्वय स्थापित कर पाना महाराज श्री दशरथ के लिए असम्भव था। इस समस्या के समाधान का कार्य मौन रहकर श्री भरत सम्पन्न करना चाहते थे। कैकेयी अम्बा के ममत्व को अपनी दिशा से मोड़कर, उसे वे रामभद्र की ओर प्रवाहित करना चाहते थे। स्वत: वे कौशल्या अम्बा के सन्निकट रहकर अधिक आनन्द का अनुभव करते थे। दूसरी ओर कैकेयी अम्बा और राघवेन्द्र का स्नेह प्रगाढ़तर होता गया। शील और सौजन्य की मूर्ति रामभद्र के व्यवहार ने कैकेयी अम्बा को इतना सम्मोहित किया कि भरत की तुलना में वे उन्हें ही अधिक चाहने लगीं। यही श्री भरत को अभीष्ट था। कैकेयी अम्बा के प्रति अपने तटस्थ व्यवहार के द्वारा वे इस भावना को और भी अधिक बढ़ावा देना चाहते थे। धीरे-धीरे वे मां की ओर से निश्चिन्त होने लगे थे। किन्तु वचन का सम्बन्ध ननिहाल से जुड़ा हुआ था और वहां का राजकुल इस प्रश्न को उठाना चाहेगा, इसे समझ पाना उनके लिए कठिन न था। फिर धनुभंग के बाद राघवेन्द्र ने जो अतुलनीय ख्याति प्राप्त की थी, उससे ननिहाल के लोगों का आशंकित होना अस्वाभाविक नहीं था। ननिहाल जाकर वे अपने मातृकुल के लोगों के अयोध्या-आगमन में अवरोध उपस्थित कर देते हैं। वे यह चाहते थे कि वे दीर्घकाल तक ननिहाल में रहकर अयोध्या निवासी और मां की दृष्टि से ओझल हो जाएं, जिससे अयोध्या में उत्तराधिकार को लेकर किसी विकल्प का प्रश्न ही शेष न रह जाए। इस तरह वे अपनी अनुपस्थिति के द्वारा रामराज्य का पथ प्रशस्त कर रहे थे। यह निगूढ़तम प्रेमी स्वयं के मूक समर्पण के द्वारा जिस महान् कार्य को सम्पन्न करना चाहता था, उसे अन्तर्यामी प्रभु राम को छोड़कर कौन जान सकता था। इसलिए यदि महाराज श्री जनक ने बाद में श्री भरत की सराहना करते हुए यह कहा कि भरत के अन्तर्मन को श्री राम को छोड़ अन्य कोई नहीं जानता तो यह स्तुतिवाक्य न होकर यथार्थ की स्वीकृति मात्र थी :

भरत महा महिमा सुनु रानी।
जानहिं राम न सकहिं बखानी॥

श्री भरत की योजना पूरी तरह चरितार्थ हो जाती यदि मध्य में मंथरा व्यवधान के रूप में उपस्थित न हो गई होती। महारानी कैकेयी रामभद्र के शील-सौजन्य से इतनी अधिक प्रभावित हो चुकी थीं कि वे स्वतः महाराज श्री दशरथ से राघवेन्द्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने का अनुरोध करने लगी थीं। इस तरह उस उलझन के सुलझाने का पथ प्रशस्त हो गया था जो विवाह के समय दिए गये वचन से उत्पन्न हो गई थी। देवताओं को यह स्थिति असह्य थी। वे रावण की पराधीनता में रहते हुए संत्रस्त हो चुके थे। लोक-कल्याण की दृष्टि से भी यह अच्छा ही हुआ। यद्यपि देवकार्य दूसरी विधि से भी संपन्न हो सकता था। अयोध्या के राज्य-पद पर अभिषिक्त होकर भी वे रावण के विरुद्ध संघर्ष छेड़ सकते थे। अयोध्या की सुशिक्षित सेना को लेकर लंका के विरुद्ध युद्ध करना अधिक सरल था। किन्तु यदि ऐसा हुआ होता तो वह इतिहास के अनगिनत पृष्ठों में से एक साधारण पृष्ठ मात्र होता। सारा इतिहास राजाओं की युद्ध-गाथा से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति में यह युद्ध भी आदर्श के स्थान पर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के संघर्ष के रूप में सामने आता। पर इससे भी बड़ी एक हानि यह होती कि श्री भरत का व्यक्तित्व और उनका महान् आदर्श कभी लोक-दृष्टि में आता ही नहीं। श्री भरत को अभीष्ट भी यही था। किन्तु उस स्थिति में साधक उस अमृत से वंचित रह जाते जिसे पीकर वे दुर्गुण-दुर्विचारों को पराजित करने में समर्थ होते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से श्री राम का वनगमन अयोध्या के लिए बहुत बड़ी दुर्घटना थी जिसने सारी अयोध्या को बुरी तरह झकझोर डाला। सारी प्रजा शोकमग्न हो गई और महाराज श्री दशरथ ने तो प्राण ही दे डाला। किन्तु इस अमंगल के पीछे भरत-चरित्र के प्राकट्य का जो महान् लाभ विश्व-साहित्य को उपलब्ध हुआ, उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसीलिए महर्षि भरद्वाज ने तीर्थराज प्रयाग में भरत से मिलने के पश्चात् यद्यपि प्रारम्भ में श्री भरत को सान्त्वना प्रदान करने की चेष्टा की और यह कहा कि इस वनगमन की दुर्घटना के पीछे देवताओं से प्रेरित सरस्वती का हाथ था किन्तु अन्त में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अन्तर्दृष्टि से वे इसे अमांगलिक घटना के रूप में नहीं देखते हैं। इसी के द्वारा यह सम्भव हुआ कि भरत की दिव्य-साधना को देखकर साधक अपनी त्रुटियों का परिमार्जन कर सकें। महर्षि के वार्तालाप में क्रमशः इसी रहस्य का उद्घाटन किया गया है :

तुम्ह गलानि जियं जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति॥

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ।
लोक बेद बुध संमत दोऊ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई।
पाइहि लोकउ बेदु बड़ाई॥

लोक बेद संमत सबु कहई।
जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहि बोलाई।
देत राजु सुखु धरम बड़ाई॥
राम गवनु बन अनरथ मूला।
जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला॥
सो भावी बस रानि अयानी।
करि कुचालि अंतहुं पछितानी॥
तहँउँ तुम्हार अलप अपराधू।
कहै सो अधम अयान असाधू॥
करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू।
रामहि होत सुनत संतोषू॥
अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना।
भूरि भाग को तुम्हहि समाना॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता।
दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।
पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीति।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
जाना मरमु नहात प्रयागा।
मगन होहिं तुम्हरें अनुरागा॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें।
सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई।
प्रनत कुटुंब पाल रघुराई॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरें देह जनु राम सनेहू॥
तुम्ह कहं भरत कलंक यह हम सब कहं उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

श्री राम का वनगमन भरत के लिए इतना बड़ा आघात था कि उसे मौन रह कर सह पाना उनके लिए सर्वथा असम्भव था। विशेष रूप से जब वे यह कल्पना करते थे कि यह सारा अनर्थ उन्हें राज्य देने के लिए किया गया है :

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु ।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु ॥

महाराज श्री दशरथ की मृत्यु के बाद गुरु वशिष्ठ ने तत्काल श्री भरत को ननिहाल से लौट आने का सन्देश भेजा। मृत्यु के उपरान्त होने वाले समस्त कृत्यों की समाप्ति के बाद गुरु वशिष्ठ ने उनसे सिंहासनासीन होने का अनुरोध किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने अयोध्या की राज्य-सभा में एक विस्तृत भाषण दिया जिसकी भूमिका में उन्होंने परम्परागत वर्ण और आश्रम धर्म का संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् उन्होंने महाराज श्री दशरथ की सराहना करते हुए यह कहा कि उनकी दृष्टि में उनके समान महापुरुष विश्व के इतिहास में उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि महाराज श्री दशरथ ने सत्य की रक्षा के लिए राघवेन्द्र जैसे प्राणप्रिय पुत्र को भी वन जाने का आदेश दे दिया, यह धर्म के प्रति उनकी अनुपम निष्ठा का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रेम-निष्ठा की रक्षा के लिए उन्होंने प्राण अर्पित कर दिए। ऐसे अद्वितीय महापुरुष के पुत्र होने के नाते श्री भरत का कर्त्तव्य है कि उनकी मर्यादा को धूमिल न होने दें। अयोध्या के राज्य को उन्हें स्वीकार करना चाहिए और कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहकर सूर्यवंश की परम्पराओं का पालन करना चाहिए। यह प्रस्ताव करते हुए गुरु वशिष्ठ को ऐसा प्रतीत हुआ कि श्री भरत इसे सहज मन से स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने एक सरल समीकरण प्रस्तुत किया। यदि भरत सर्वदा के लिए सिंहासन न स्वीकार करना चाहते हों तो राघव के वन से लौट कर आने के बाद वे राज्य उन्हें सौंप दें। गुरु वशिष्ठ के इस प्रस्ताव को सभी ओर से समर्थन प्राप्त हुआ। मन्त्रियों ने इसका अनुमोदन किया और वात्सल्यमयी कौशल्या अम्बा ने भाव भीने शब्दों में इसका समर्थन किया। सभी को यह पूर्ण विश्वास था कि गुरुदेव के इस युक्तिसंगत प्रस्ताव को श्री भरत स्वीकर कर लेंगे। गुरुदेव के द्वारा दिया जाने वाला भाषण और उसके समर्थन और अनुमोदन को मानस में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ ।
हानि लाभ जीवन मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ ॥
अस बिचारि केहि देइअ दोसू ।
ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू ॥
तात बिचारु करहु मन माहीं ।
सोच जोगु दसरथ नृपु नाहीं ॥
सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना ।
तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना ।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥

सोचिअ बयसु कृपन धनवानू।
जो न अतिथि सिव भगति सुजानू।।
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी।
मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी।।
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी।
कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी।।
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई।
जो नहिं गुर आयसु अनुसरई।।
सोचिअ गृही जो मोहबस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग।।
बैखानस सोइ सोचै जोगू।
तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू।।
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी।
जननि जनक गुरु बंधु बिरोधी।।
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी।
निज तनु पोषक निरदय भारी।।
सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाड़ि छलु हरिजन होई।।
सोचनीय नहिं कोसल राऊ।
भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ।।
भयउ न अहइ न अब होनिहारा।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा।।
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा।
बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा।।
कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु।।
सब प्रकार भूपति बड़भागी।
बादि बिषादु करिअ तेहि लागी।।
यह सुनि समुझि सोचु परिहरहू।
सिर धरि राज रजायसु करहू।।
रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा।।
तजे रामु जेहिं बचनहि लागी।
तनु परिहरेउ राम बिरहागी।।

नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु बचन प्रवाना॥
करहु सीस धरि भूप रजाई।
हइ तुम्ह कहं सब भांति भलाई॥
परसुराम पितु अग्या राखी।
मारी मातु लोक सब साखी॥
तनय जजातिहि जोबनु दयऊ।
पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥
अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥
अवसि नरेस बचन फुर करहू।
पालहु प्रजा सोकु परिहरहू॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू।
तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू॥
बेद बिदित संमत सबही का।
जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥
करहु राजु परिहरहु गलानी।
मानहु मोर बचन हित जानी॥
सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं।
अनुचित कहब न पंडित केहीं॥
कौसल्यादि सकल महतारीं।
तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारीं॥
परम तुम्हार राम कर जानिहि।
सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥
सौंपेहु राज राम के आएँ।
सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥
कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥
कौसल्या धरि धीरज कहई।
पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू।
तुम्ह एहि भांति तात कदराहू॥

परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।
तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई।
धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू।
प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

इसके उत्तर में श्री भरत के द्वारा दिया जाने वाला भाषण मानस में सर्वथा अद्वितीय है, यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है। गुरु वशिष्ठ के युक्तिसंगत भाषण ने जिस तरह सारे समाज को प्रभावित किया था वह भरत के बोलने के पहले उनके दर्शन मात्र से ही समाप्त हो गया। श्री भरत का भाषण केवल बुद्धि का विलास मात्र नहीं था। उनके जीवन का, तन और मन का प्रत्येक कण राम-प्रेम से ओतप्रोत था।

वाणी मुख्य रूप से बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है। आगे चलकर श्री भरत के द्वारा दिया जाने वाला भाषण बौद्धिक दृष्टि से भी पूर्ण था। किन्तु उसके पहले उनके अश्रु बिन्दुओं ने अनकहे रूप में जितना कह दिया, उसकी व्याख्या कौन कर सकता है ? उसका जो प्रभाव जनमानस पर पड़ा, उसे गोस्वामी जी ने इन मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की॥

श्री भरत का भाषण जनता को देहलोक से उठाकर विदेह स्थिति में पहुंचा देता है। धर्म का पारस्परिक रूप, धर्म की व्याख्या शरीर को केन्द्र मानकर ही करता है। समाज की प्राथमिक स्थिति के लिए यह स्वाभाविक ही है। किन्तु जब व्यक्ति प्राथमिक स्थिति को ही अन्तिम मान बैठता है तब उससे एक नई जड़ता का जन्म होता है जो धर्म की गतिशीलता को ही समाप्त कर देता है। गुरु वशिष्ठ के भाषण में पिता की आज्ञा के पालन पर विशेष बल दिया गया था। सामाजिक अनुशासन की दृष्टि से यह आवश्यक भी है। किन्तु धर्म की यह व्याख्या बहुधा अतिरेकवादी बन जाती है। "पिता के वचन का पालन अनुचित और उचित का विचार छोड़कर किया जाना चाहिए," ऐसा गुरु वशिष्ठ का आग्रह था। इसके पक्ष में उन्होंने पौराणिक गाथाओं से कुछ नाम प्रस्तुत किये। परशुराम और ययाति के पुत्र का नाम इसी सन्दर्भ में लिया गया। पर मुख्य प्रश्न तो यह है कि इस प्रकार की घटनाओं को नियम के रूप में लिया जाना चाहिए अथवा अपवाद के रूप में। निश्चित रूप से इस प्रकार की घटनाएं केवल अपवाद के रूप में ही प्रस्तुत की जा सकती हैं। परशुराम के द्वारा पिता के आदेश से माता का वध कर दिया गया, इस प्रकार का

वर्णन किए जाने के साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि परशुराम ने महर्षि जमदग्नि से अपनी माता को पुनर्जीवित करने की प्रार्थना की और रेणुका को जीवन-दान प्राप्त हुआ। प्रत्येक क्रोधी पिता के आदेश से यदि पुत्रों के द्वारा मातृवध होने लगे तो यह धर्म की सबसे घिनौनी परिणति होगी। इसी तरह ययाति के पुत्र के द्वारा अपने पिता को दिया जाने वाला यौवन-दान एक अपवाद मात्र है। इस प्रकार का यौवन परिवर्तन साधारणतया सम्भव ही नहीं है। फिर इसके साथ-साथ इसका एक भयावह पक्ष यह भी है कि यदि इन घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर प्रत्येक पिता अनुचित आदेश देना अपना विशेषाधिकार मान बैठे तो इसके द्वारा जो अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है उसकी कल्पना भी भयावह प्रतीत होती है। शास्त्र के वचनों का इस प्रकार का दुरुपयोग बहुधा होता रहा है। इसके आधार पर पिता न केवल ईश्वर का स्थान ले बैठता है अपितु कुछ उपाख्यानों में तो वह ईश्वर से भी बड़ा बन बैठा है। स्त्री के लिए पति ही परमेश्वर है, पुत्र के लिए पिता ईश्वर से भी बड़ा है, इस प्रकार के जो दृष्टान्त पौराणिक गाथाओं से उपलब्ध होते हैं उन्हें सही परि-प्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। इसके अभाव में धर्म केवल स्वार्थी व्यक्तियों की वासना-पूर्ति का साधन मात्र रह जाएगा। श्री भरत ने अपने चरित्र के द्वारा धर्म को उसका सच्चा अर्थ प्रदान किया और धर्म सच्चे अर्थों में तभी प्रतिष्ठित होता है जब वह शरीर के स्थूल केन्द्र से हटकर भावना और विचार की भूमि में प्रवेश करता है।

गुरु वशिष्ठ के द्वारा प्रतिपादित धर्म का श्री भरत के द्वारा जो उत्तर दिया गया उसमें भावना, विवेक और औचित्य का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनका प्रत्येक शब्द मिठास से ओतप्रोत है। न तो उसमें त्याग का दर्प है और न विद्वता का प्रदर्शन ही। गुरु वशिष्ठ के समान वे किसी पौराणिक दृष्टान्त का भी प्रयोग नहीं करते। वह खण्डन के स्थान पर आत्म-निवेदन के रूप में सामने आता है। उनकी विनम्रता-भरी वाणी पुष्प के समान सुकोमल प्रतीत होते हुए भी, उसमें वज्र जैसी दृढ़ता विद्यमान है। उसमें सिद्धान्त-परिवर्तन का रंचमात्र स्थान नहीं है। उनकी विनम्रता अनिश्चय और दुर्बलता से प्रेरित नहीं है। यद्यपि वे बौद्धिकता की दुहाई नहीं देते पर उनकी वाणी में प्रीति के साथ तार्किक औचित्य की कोई कमी नहीं है। उनकी वाणी के विषय में गोस्वामी जी का अभिमत यही है :

भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि ॥

भाषण के प्रारम्भ में श्री भरत पारम्परिक धर्म का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। यदि उसे सुनकर गुरु वशिष्ठ और पुरवासियों के मन में यह आशा बंधी हो कि श्री भरत राज्य स्वीकार करने जा रहे हैं तो उसे अस्वाभाविक या आश्चर्य-जनक नहीं कहा जा सकता। गुरुजनों के आदेश का पालन करना चाहिए, वे इस सिद्धान्त का भरपूर समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि "मैं आप लोगों के आदेश को शिरोधार्य करना चाहता हूं, पर साथ ही वे हृदय के परि-

तोष का प्रश्न उपस्थित करते हैं कि गुरुजनों के द्वारा दिया गया आदेश सिर पर धारण करने योग्य है किन्तु क्या गुरुजनों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे जिसपर कर्तव्य-कर्म का बोझ लादना चाहते हैं उसकी सामर्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर लें। यदि एक नन्हे शिशु को शास्त्र वचनों की दुहाई देकर बोझ उठाने का आदेश दे दिया जाए और कदाचित बालक के मस्तिष्क में उठाने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाए तो इतने मात्र से उठा पाना बालक के लिए सम्भव नहीं हो पाता है। जब यह कहा जाता है कि गुरुजनों के आदेश में औचित्य-अनौचित्य का विचार नहीं किया जाना चाहिए, तब इसका तात्पर्य इतना ही नहीं होता कि धर्म का औचित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु औचित्य चिंतन का यह भार गुरुजनों पर ही आ जाता है। वे स्वयं ही औचित्य-अनौचित्य का चिन्तन करने के बाद उसे आदेश के रूप में जब छोटों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं तभी सही अर्थों में धर्म सुरक्षित रह पाता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रख कर श्री भरत गुरुदेव से अपने आदेश पर पुर्नविचार करने की प्रार्थना करते हैं, गुरु वशिष्ठ से वे यह अनुरोध करते हुए प्रतीत होते हैं कि मैं बुद्धिपूर्वक भले ही आपकी आज्ञाओं का पालन करना चाहूं किन्तु मेरा हृदय इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। धर्म का सच्चे अर्थों में निर्वाह तभी सम्भव है जब वह हृदय और मस्तिष्क में सन्तुलन स्थापित कर सके। केवल हृदय की प्रेरणा यदि व्यक्ति को उच्छृंखल बना सकती है तो केवल मस्तिष्क के द्वारा संचालित व्यक्ति जड़ यन्त्र की भांति शुष्क हो जाता है। यदि विवेक धर्म की मूर्ति निर्माण करता है तो हृदय के द्वारा उसकी भावनामयी प्राण-प्रतिष्ठा भी की जानी चाहिए, तभी वह मन्दिर की आराध्य प्रतिमा बन सकती है। भाव-भरे शब्दों में श्री भरत ने इसी तथ्य की ओर इंगित किया था। इसीलिए वे गुरुदेव से अनुरोध करते हैं कि वे उनकी योग्यता, सामर्थ्य और आवश्यकता को दृष्टिगत रखकर उपदेश देने की कृपा करें :

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका।
प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा।
अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू।
धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई।
जो आचरत मोर भल होई॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू।
मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥

इसके पश्चात् वे विनम्र शब्दों में आदेश के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न प्रस्तुत

करते हैं। इसके लिए वे गुरु वशिष्ठ से क्षमा-याचना भी करते हैं। उनका प्रश्न यह था कि यदि महाराज श्री दशरथ को अपने आदेश के औचित्य के प्रति कोई सन्देह नहीं था और यह आदेश उन्होंने स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक दिया था तो उसको क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने जीवित रहने की आवश्यकता का अनुभव क्यों नहीं किया ?

उतरु देउँ छमब अपराधू।
दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥
पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥

दृष्टान्त के रूप में इसे यों रखा जा सकता है कि यदि किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ में औषधि विशेष की सराहना में अनेक पंक्तियां लिखी गई हों तो उसकी प्रामाणिकता की कसौटी ग्रन्थ का उद्धरण न होकर रोगी पर पड़ने वाले प्रभाव से ही आंका जा सकता है। धर्म यदि एक दिव्य औषधि है और उसका कार्य व्यक्ति और समाज को मानसिक स्वस्थता प्रदान करना है तो उसका मूल्यांकन समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को दृष्टिगत रखकर ही किया जाना चाहिए। इस कसौटी पर महाराज श्री दशरथ के द्वारा पालित धर्म खरा नहीं उतरता है। जिस धर्म ने जनकनन्दिनी और राघवेन्द्र को निष्कासित कर दिया और महाराज श्री दशरथ की मृत्यु का कारण बना, क्या उसे सचमुच ही यथार्थ धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए ? श्री भरत का दृष्टिकोण यह था कि केवल शब्दों को स्थूल अर्थों में पकड़ लेना धर्म की अन्तरात्मा की उपेक्षा करना है। यहां श्री भरत धर्म के मर्म का उद्घाटन करते हुए गुरुदेव का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहते थे कि महाराज श्री दशरथ की वास्तविक इच्छा रामभद्र को ही सिंहासन पर अभिषिक्त करने की थी। मन्थरा-प्रेरित कैकेयी की कुटिलता से उनकी योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी और उन्हें इच्छा के प्रतिकूल ऐसे आदेश देने पड़े तो उनके लिए प्राणघातक सिद्ध हुए। ऐसी परिस्थिति में प्रभु को राज्यपद पर अभिषिक्त करने का प्रयास पिता जी के आदेश का सच्चा पालन माना जायेगा अथवा सुनियोजित षड्यंत्र के द्वारा महारानी ने जिस अमंगल की सृष्टि की है, उसे बढ़ावा देना उचित होगा ? श्री भरत की दृष्टि में वास्तविक सत्य वह है, जो व्यक्ति के हृदय में है। शास्त्रीय परम्परा में सत्य को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। रामचरितमानस में भी इसी मान्यता को स्वीकृति प्रदान की गई है :

धर्म न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना॥
× × ×
नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होंहि कि कोटिक गुंजा॥

किन्तु सत्य क्या है ? व्यवहार में बहुधा सत्य को केवल वाणी से सम्बद्ध कर

दिया गया है। वाणी सामाजिक व्यवहार का मुख्य माध्यम है। सामाजिक व्यवहार में सत्य को जितना अधिक महत्त्व प्राप्त होगा, उतना ही वह सुदृढ़ सिद्ध होगा। इस अर्थ में वाणी को सत्य से सम्बद्ध करना अस्वाभाविक नहीं है।

किन्तु इसका अतिरेक-भरा पक्ष इतिहास में बार-बार आता रहा है। जब सत्य का समग्र आधार केवल शब्द रह जाता है, तब वह शब्द के कारागार में बन्दी की भांति व्यर्थ हो जाता है। यह बात भिन्न है कि किसी व्यक्ति ने सत्य को व्रत की भांति स्वीकार कर लिया। यदि किसी ने यह नियम बना लिया है कि कभी भी वाणी से असत् का प्रयोग नहीं करेगा तो यह उसके लिए अनुलंघनीय नियम हो सकता है। ऐसा व्यक्ति यदि वचन की रक्षा के लिए सर्वस्व का बलिदान कर देता है तो यह उसकी निष्ठा के सर्वथा अनुकूल होगा। पर यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति वाणी के सत्य को ही सब कुछ मान बैठे। सत्य धर्म का एक अंग है और जैसे एक स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण यही है कि उसका प्रत्येक अंग रोग-रहित और सन्तुलित हो। भगवान राम ने सत्य को धर्म-रथ के शीर्ष भाग में स्थान दिया है, किन्तु वह रथ का एक अंग है। योद्धा समग्र रथ को सुरक्षित रखना चाहता है, यही उसकी विजय के लिए आवश्यक भी है। वाणीगत सत्यनिष्ठा रखने वाले साधक की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है जो अपने किसी अंग की क्षमता के लिए सारे संसार में ख्याति प्राप्त कर चुका हो। किसी विशेष निष्ठा में दीक्षित व्यक्ति इतिहास में भले ही बहुत बड़ी ख्याति या गौरव प्राप्त कर ले पर सन्तुलित और समन्वित धर्म को पूरी तरह से जीवन में उतारने वाला व्यक्ति ही समाज को सही दिशा प्रदान कर सकता है। पौराणिक परम्परा में भी ऐसे महापुरुषों का नाम आता है जो अपनी किसी विशेष निष्ठा के कारण प्रशंसा के पात्र माने गए।

किसी ने पितृभक्ति के लिए प्रशंसा पाई तो किसी ने वचन-रक्षा के लिए ख्याति अर्जित की। दुर्वासा महान् तपस्वी के रूप में भले ही प्रसिद्ध हों पर वे एक सन्तुलित व्यक्ति नहीं हैं। इसी तरह हरिश्चन्द्र का वचन की रक्षा के लिए किये जाने वाला बलिदान और स्त्री-पुरुष का विक्रय भले ही उनकी निष्ठा के अनुकूल रहा हो, पर वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श नहीं हो सकता। रामचरितमानस में भगवान राम अथवा भरत का चरित्र चारित्रिक पूर्णता का द्योतक है। उसमें धर्म के सभी अंगों का समान रूप से विकास हुआ है। इसीलिए उसमें धर्म के किसी अतिरेक-भरे रूप को स्वीकार नहीं किया गया है। श्री भरत की दृष्टि से सत्य का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र हृदय है। वाणी उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। यदि दोनों में एकरूपता हो तो यह सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। किन्तु यदि इन दोनों में से किसी एक को चुनने का अवसर आ जाए तो महत्त्व हृदय को दिया जाना चाहिए, न कि वाणी को। महाराज श्री दशरथ के हृदय के संकल्प को ही वे वास्तविक सत्य मानकर उसकी पूर्ति करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। गुरु वशिष्ठ परम्परागत धर्म को स्वीकार करते हुए वाणी को सर्वोच्च स्थान देते हैं। यही स्थिति गुरु, पिता और

माता के वचनों को मानने के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

"आज्ञा गुरूणाम् अविचारणीया" का तात्पर्य अहंकार की टकराहट को रोकना है। यदि गुरुजनों के द्वारा कोई ऐसा आदेश दिया जाय जिससे व्यक्ति को स्वार्थ का त्याग करना पड़े या कष्ट उठाना पड़े तो उसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

पर प्रश्न तो यह है कि यदि किसी आदेश का सम्बन्ध सारे समाज से हो तो उस समय भी क्या औचित्य के प्रश्न को भुला दिया जाना चाहिए, अथवा यदि आदेश के पालन से आदेश देने वाले का ही कोई अहित हो तो उस समय इस पंक्ति को अक्षरशः स्वीकार करना कहां तक उपयुक्त माना जाना चाहिए। श्री भरत का तात्पर्य यह था कि यदि महाराज श्री दशरथ ने परिस्थिति विशेष में किसी प्रकार के आदेश देने की बाध्यता का अनुभव किया हो तो उसके परिणाम पर भी विचार किया जाना चाहिए। राज्य-पद पर किसे अभिषिक्त किया जाय यह केवल व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है। जिस प्रश्न का सम्बन्ध कोटि-कोटि प्रजा से हो उसमें यह भी देखा जाना चाहिए कि इसका उसपर क्या प्रभाव पड़ेगा। श्री भरत का तात्पर्य यह था कि मेरे राज्याभिषेक का सम्बन्ध मेरे पिता जी के सत्य वाक्य से ही नहीं है। यदि मेरे सिंहासनासीन होने से कोटि-कोटि व्यक्तियों का अहित होता है तो केवल इसलिए उसका समर्थन नहीं किया जाना चाहिए कि वह पिता जी का आदेश है। श्री भरत की मान्यता यह थी कि उनका सिंहासनासीन होना किसी भी दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं है। इसके द्वारा लोगों के मन में किसी भी प्रकार सत्ता को हथियाने की इच्छा को बल प्राप्त होगा। अनगिनत व्यक्तियों की आकांक्षा को यदि दो व्यक्ति षड्यंत्र के द्वारा समाप्त कर दें और उसे सामाजिक मान्यता भी प्राप्त हो जाय तो उससे अन्याय और अनौचित्य को प्रोत्साहन ही प्राप्त होगा। साथ ही उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया है कि यदि आप लोग दया की भावना से प्रेरित होकर मुझे सिंहासन पर बैठाने की उदारता का प्रदर्शन करना चाहते हों तो मुझे यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि मैं उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकूं। श्री भरत का यह चिन्तन परम्परा की रूढ़िगत लीक से सर्वथा भिन्न था। इस सन्दर्भ में दिया गया उनका भाषण अयोध्या के पुरवासियों के समक्ष, जिसमें गुरु वशिष्ठ जैसे धर्म के व्याख्याता भी थे, नई दृष्टि प्रदान करता है। गोस्वामी जी ने इन पंक्तियों में श्री भरत की विचारधारा को ग्रन्थित किया है :

ऊतरु देउँ छमब अपराधू।
दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥
पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥
हित हमार सियपति सेवकाई।
सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥

मैं अनुमानि दीख मन माहीं।
आन उपाय मोर हित नाहीं ॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें।
लखन राम सिय बिनु पद देखें ॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू।
बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू ॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा।
बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा ॥
जायँ जीव बिनु देह सुहाई।
बादि मोर सबु बिनु रघुराई ॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू।
एकहिं आँक मोर हित एहू ॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू।
सोउ सनेह जड़ता बस कहहू ॥
कैकेई सुअ कुटिल मति राम बिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुखु मोह बस मोहि से अधम कें राज ॥
कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू ॥
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं।
रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥

श्री भरत सबसे अधिक मर्माहत इस बात से थे कि महारानी कैकेयी ने अपनी कुटिलता के द्वारा जिस स्थिति का सृजन किया था, गुरुदेव उसकी निन्दा करते हुए भी उसी योजना को क्रियान्वित करने में सहायक बन रहे हैं। गुरु वशिष्ठ ने अपने भाषण का श्रीगणेश कैकेयी की आलोचना से ही किया था :

प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी।
कैकई कुटिल कीन्हि जस करनी ॥

इससे बढ़कर विरोधाभासी स्थिति क्या हो सकती है कि एक ओर तो कैकेयी की करनी को कुटिलता से भरा कहकर उसकी निन्दा की जाय और दूसरी ओर शास्त्रों की दुहाई देकर उसे ही क्रियान्वित करने के लिए आदेश दिया जाए। इसमें उन्हें विधि की प्रतिकूलता ही दृष्टिगोचर होती है। नहीं तो विधिपुत्र वशिष्ठ इस प्रकार की चेष्टा कैसे करते। कौशल्या अम्बा के द्वारा किए जाने वाले समर्थन को उनके वात्सल्य के सन्दर्भ में देखते हैं :

राम मातु सुठि सरल चित मो पर प्रेमु बिसेषि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि ॥

गुरु बिवेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ।
भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥

श्री भरत गुरु वशिष्ठ के उस संशोधन को भी अस्वीकार कर देते हैं जिसमें यह कहा गया था कि वे केवल चौदह वर्ष के लिए अयोध्या के राज्य को स्वीकार करें और वन से श्री रामभद्र के लौटने के बाद राज्य उन्हें समर्पित कर दें। इस अस्वीकृति के पीछे श्री भरत की गहरी भावुकता और विचारशीलता का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार के समर्पण का तात्पर्य यह होता कि राज्य के स्वामित्व को वे स्वीकार करते हैं, और उदारतापूर्वक अपनी वस्तु राघवेन्द्र को भेंट करना चाहते हैं। श्री भरत इसे धृष्टता की पराकाष्ठा मानते हैं। उनकी दृष्टि में अयोध्या के राज्य-सिंहासन के वास्तविक स्वामी रामभद्र हैं। अन्यायपूर्वक उन्हें उसपर अभिषिक्त करने का प्रयास किया जा रहा है। अतः आवश्यकता इस अन्याय के प्रतिकार की है। समर्पण के पीछे जो सात्त्विक अहंकार छिपा रहता है, श्री भरत उसे अपने अन्तर्मन में किसी भी तरह प्रविष्ट नहीं होने देते। समर्पण और त्याग अपनी ही वस्तु का किया जाता है। किन्तु जहां वस्तु पर अपना स्वामित्व ही नहीं है, वहां इसका प्रश्न ही कहां पैदा होता है। इसीलिए आगे चलकर जब कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव किया कि उस सम्पत्ति को विनिष्ट कर देना चाहिए जो व्यक्ति को प्रभु के समक्ष पहुंचने से रोकती है :

जरउ सो सम्पत्ति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाय।
सनमुख होत जो रामपद होइ न सहज सहाय॥

भावुकता के आवेश से प्रेरित यह प्रस्ताव भी भरत को स्वीकार नहीं है। यदि वस्तु अपनी हो तो ही उसे जलाने का अधिकार व्यक्ति को हो सकता है। सम्पत्ति केवल प्रभु की है, अतः उसे सुरक्षित रखना प्रभु के सेवक का कर्तव्य है। इसीलिए चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हुए वे अयोध्या की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करते हैं :

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू।
नगरु बाजि गज भवन भँडारू॥
संपति सब रघुपति कै आही।
जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई।
पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥
करइ स्वामि हित सेवकु सोई।
दूषन कोटि देइ किन कोई॥

अस बिचारि सुचि सेवक बोले।
जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥
कहि सबु मरमु धरमु भल भाषा।
जो जेहि लायक सो तेहि राखा॥
करि सबु जतनु राखि रखवारे।
राम मातु पहिं भरतु सिधारे॥

इस तरह श्री भरत जहां समर्पण के सात्त्विक अहंकार से मुक्त हैं वहीं त्याग के नाम पर वे कर्त्तव्य-पथ से विरत भी नहीं होते। यह अवश्य है कि उनके कर्त्तव्य की प्रेरणा का स्रोत स्वार्थ न होकर राम-प्रेम है। रामराज्य का विचार-दर्शन भी श्री भरत के व्यक्तित्व में ही सन्निहित है।

गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव की अस्वीकृति के पीछे श्री भरत का व्यावहारिक दर्शन कार्य कर रहा है। वे रामभद्र के स्वभाव से पूरी तरह परिचित हैं। उन्होंने बड़ी ही प्रसन्नता से श्री भरत के लिए अयोध्या के राज्य का परित्याग किया था। यदि श्री भरत उस राज्य को स्वीकार करते हैं और उसका संचालन करते हैं तो इससे बढ़कर श्री राम के लिए सन्तोष की कोई बात नहीं हो सकती। क्या ऐसी स्थिति में चौदह वर्ष की अवधि व्यतीत होने के बाद वे लौटकर अयोध्या आ सकते हैं। निश्चित रूप से राघवेन्द्र के स्वभाव से परिचित कोई भी व्यक्ति इसका एक ही उत्तर दे सकता है कि वे कदापि अयोध्या नहीं लौट सकते। वाल्मीकि रामायण में इसका स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है, जहां लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या की ओर लौटते हुए भगवान श्री राम ने आञ्जनेय को आदेश दिया कि वे अयोध्या जाकर भाई भरत का कुशल समाचार ले आवें। किन्तु साथ ही उन्होंने यह निर्देश भी दिया था कि यदि श्री भरत राज्य-सत्ता को पूरे मन से स्वीकार कर चुके हैं तो वे उनसे बिना मिले ही लौटकर यह सूचना दें जिससे वे अपने अयोध्या-प्रस्थान के कार्यक्रम को स्थगित कर दें। ऐसी स्थिति में अयोध्या लौटकर वे नई समस्या और संकोच की सृष्टि नहीं करना चाहेंगे :

ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता ये भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्।
पितृ पैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत्।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः॥

यद्यपि श्री रामचरितमानस में इस प्रकार के मनोभाव की अभिव्यक्ति नहीं है फिर भी आञ्जनेय से जब वे यह अनुरोध करते हैं कि श्री भरत तक उनका कुशल समाचार पहुंचाने के बाद वे लौटकर वहां के समाचार उन्हें सुनावें, तब इसके पीछे इसी प्रकार की भावना के संकेत देखे जा सकते हैं :

भरतहि कुसल हमार सुनायहु।
समाचार लै तुम चलि आयहु॥

अतः गुरु वशिष्ठ के प्रस्ताव के पीछे या तो यह भावना रही हो कि तत्काल राज्य स्वीकार करने में श्री भरत के मन में संकोच है, उसे दूर करने का यही उपाय है। यदि इस स्वीकृति को भी समर्पण से सम्बद्ध कर दिया जाय तो भरत की हिच-किचाहट दूर हो जाएगी। एक बार सत्ता स्वीकार कर लेने के बाद उसे छोड़ने अथवा न छोड़ने का निश्चय श्री भरत को ही करना है। मन्त्रियों के द्वारा किए गए अनुमोदन में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति होती है गुरु वशिष्ठ की भांति वे यह नहीं कहते हैं कि प्रभु के लौटने पर राज्य लौटा दीजिएगा। उनका कहना तो यह था कि राघवेन्द्र के लौटने के बाद जैसा उचित समझें वैसा करें। इसमें यह संकेत छिपा हुआ था कि राज्य लौटाने का प्रस्ताव बाध्यतामूलक न होकर ऐच्छिक ही है :

कीजिअ गुरु आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आए उचित जस तस तब करब बहोरि॥

मन्त्री मानवीय स्वभाव की इस दुर्बलता से भली भांति परिचित हैं कि व्यक्ति प्रारम्भ में भले ही सत्ता के प्रलोभन को अस्वीकार कर रहा हो, पर एक बार उसका स्वाद आ जाने पर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य इति-हास में अनगिनत बार दोहराया जा चुका है। श्री भरत इन सारी भ्रान्तियों से मुक्त हैं। कोई भी भुलावा उन्हें राज्य-सिंहासन की दिशा में प्रेरित नहीं कर पाता है।

श्री भरत ने अयोध्या-जैसे वैभव-सम्पन्न राज्य के प्रलोभन को ठुकरा दिया, इसकी प्रशंसा बहुधा की गई है। पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि इस अस्वीकृति के पीछे श्री भरत की वैचारिक सुदृढ़ता इतनी कठोर है कि उसे सारा समाज मिलकर भी नहीं तोड़ पाता है। नम्रता के साथ ऐसी दृढ़ता बिरल ही है। विश्व इतिहास के अनगिनत वर्षों में शायद ही कोई व्यक्तित्व इस विरोधाभास में स्वयं को साकार कर पाया हो। नम्रता व्यक्ति को समझौतावादी बना देती है। नम्र व्यक्ति के लिए अपने विचार पर दृढ़ रह पाना अत्यन्त कठिन होता है। दृढ़ता में एक प्रकार की कठोरता अवश्यम्भावी है। दृढ़ व्यक्ति बहुधा अपने विचारों के द्वारा अनेकों को क्षुब्ध बना देते हैं। श्री भरत के व्यक्तित्व में यह विलक्षणता विद्य-मान है कि वे अपनी मधुरता के द्वारा दूसरों के हृदय में ऐसी मिठास की सृष्टि करते हैं कि वह अपने विचारों की अस्वीकृति से भी क्षुब्ध नहीं हो पाता। श्री भरत की अस्वीकृति तत्कालीन सारी परम्पराओं के विरुद्ध थी। उनसे पूर्ववर्ती महापुरुषों ने गुरुजनों के आदेश का पूरी तरह पालन किया था। गुरु, पिता, माता इनमें किसी एक के आदेश को ही स्वीकार कर लेना सर्वोच्च धार्मिकता का लक्षण मान लिया गया था। श्री भरत को तो गुरु, पिता, माता सभी का सर्वसम्मत आदेश प्राप्त हुआ था, और वह आदेश भी औचित्य की सीमा में ही था। उनके आराध्य का भी आदेश इसी प्रकार का था। फिर भी उन्हें जो औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं हुआ, उसे अस्वी-

कार कर देने की दृढ़ता दिखाकर उन्होंने एक अद्भुत आदर्श उपस्थित कर दिखाया।

श्री भरत की इस अस्वीकृति से समाज के अन्तर्मन में व्याप्त संशय का विष भी पूरी तरह समाप्त हो गया। कैकेयी अम्बा के द्वारा जो कुछ किया गया था, उसके पीछे श्री भरत का हाथ है या नहीं, यह प्रश्न लोगों के मन में घुमड़ रहा था। सम्भवतः अधिकांश प्रजा की धारणा यही थी कि इसके पीछे भरत और उनके ननिहाल की प्रेरणा विद्यमान है। इस प्रकार का संशय सर्वथा स्वाभाविक था। भरत एक लम्बी अवधि से अयोध्या से बाहर ननिहाल में रह रहे थे। केकय-नरेश ने कन्यादान के समय जो वचन लिया था, वह भी लोगों को ज्ञात था। अतः इस पृष्ठ-भूमि में जो कुछ हुआ उसका ज्ञान भरत को न हो यह उन्हें अविश्वस्त लग रहा था। मन्थरा स्वयं केकय देश से आई हुई दासी थी। इसीलिए राम-वनगमन के अवसर पर अयोध्या के नागरिक जिस प्रकार प्रभु के पीछे चल पड़ते हैं, उसमें भरत के प्रति उनका आक्रोश भी परिलक्षित होता है। वे भरत को राजा के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। ऐसी स्थिति में श्री भरत के द्वारा राज्य-सिंहासन की स्वीकृति से उनके संशय की पुष्टि ही होती। किन्तु इस अस्वीकृति से सारी भावनाएं ही परिवर्तित हो गईं। श्री भरत भले ही अयोध्या के राज्य-सिंहासन पर आसीन न हुए हों, पर वे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर राज्य कर रहे थे। अस्वीकृति के साथ-साथ उनकी इस घोषणा से कि कल प्रातःकाल वे चित्रकूट की ओर प्रस्थान करेंगे, जनमानस में आनन्द उमड़ पड़ा। उन्हें लगा कि उनके हृदय की आकांक्षा को भरत ने वाणी दी है। जहां उनकी यह धारणा थी कि कैकेयी जैसी मां का पुत्र भला हो भी कैसे सकता है, वहां सारी तर्क-प्रणाली पलट गई। वे परस्पर कहने लगे, "जैसे सर्प में निवास करने वाली मणि पर विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अपितु वह विष और दरिद्रता को विनष्ट कर देती है, उसी प्रकार भैया भरत पर महारानी कैकेयी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। वे तो अमंगल को ही विनष्ट कर रहे हैं जिसे मां के कुकृत्य ने फैलाया था।"

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे।
राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे।
मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी।
सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥
तात भरत अस काहे न कहहू।
प्रान समान राम प्रिय अहहू॥

जो पावँरु अपनी जड़ताई।
तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता।
बसिहि कलप सत नरक निकेता॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई।
हरइ गरल दुख दारिद दहई॥
अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥

जनमानस को समझ पाना कितना कठिन है, इसका यह एक अच्छा दृष्टान्त है। ऐसे अनेकों अवसर आते हैं जब व्यक्ति का अन्तर्मन ठीक उससे भिन्न होता है, जैसा वह व्यवहार में परिलक्षित होता है। व्यवहार अनेक बहिरंग वृत्तियों से संचालित होता है जिनमें भय और प्रलोभन की भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस समय श्री भरत ननिहाल से लौटकर आए, उस समय तक उनके विरुद्ध पुरवासियों का आक्रोश उदासीनता का रूप ले चुका था। इसलिए जब वे भरत को अयोध्या में प्रविष्ट होते हुए देखते हैं, तब वे दूर से उन्हें प्रणाम करना नहीं भूलते। फिर भी उनसे वार्तालाप करने में किसी की रुचि नहीं थी। यह मध्य मार्ग है :

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥

फिर जब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि अब उन्हें भरत के राज्य में ही रहना है तब वे उसे भी नियति के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। किन्तु इस स्वीकृति का तात्पर्य उसे मन से स्वीकार कर लेना नहीं था। वह तो केवल बाध्यता मात्र थी। जिनमें सत्ता का व्यामोह होता है, वे बाध्यता को भी समर्थन मानने की भूल कर बैठते हैं। श्री भरत में इस प्रलोभन का सर्वथा अभाव था। इसीलिए वे जनमानस को सही रूप में समझ पाए और उन्होंने उनकी आकांक्षाओं को स्वर देकर राम-राज्य का सच्चा आदर्श उपस्थित किया। रामराज्य की स्थापना के लिए जिस चारित्रिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा थी, वह श्री भरत में विद्यमान थी। दशरथ-राज्य और राम-राज्य के बीच चौदह वर्ष का जो अन्तरिम काल था, उसमें श्री भरत के द्वारा प्रजा को जो चारित्रिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है, वह राम-राज्य की नागरिकता के लिए आवश्यक था।

अयोध्या से लेकर चित्रकूट तक की यात्रा में भरत का चरित्र-दर्शन कई रूपों में सामने आता है। निषादराज से श्री भरत का मिलन इस प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में से एक है। वर्णाश्रम-धर्म की दृष्टि से निषाद सर्वाधिक निम्न वर्ण का व्यक्ति था।

स्मृति धर्म की यह मान्यता है कि व्यक्ति का पूर्वजन्मों के कर्म के परिणामस्वरूप उच्च अथवा निम्न वर्ण में जन्म होता है। उसकी दृष्टि में अपने धर्म का पालन करता हुआ शूद्र ब्राह्मण हो सकता है। और इसी प्रकार ब्राह्मण भी स्वधर्म

से च्युत होकर शूद्र योनि में जन्म ले सकता है। इसलिए स्मृति-धर्म के मानने वालों को अस्पृश्यता में कोई अन्याय अथवा अनौचित्य नहीं दिखाई देता। उनका यह भी कथन है कि अनेक स्थितियों में वर्णाश्रम-धर्म को स्वीकार करने वाला स्वयं अपने परिवार में भी असौच को स्वीकार करता हुआ अस्पृश्यता की मर्यादा को स्वीकार करता है। अतः अस्पृश्यता में कोई पक्षपात अथवा अन्याय नहीं है। सैद्धान्तिक और तार्किक दृष्टि से इस प्रकार की बातों का कैसा भी समर्थन क्यों न किया जाय, व्यावहारिक अर्थों में इसका भिन्न परिणाम ही दृष्टिगोचर होता है। अग्रज और अन्त्यज के रूप में शास्त्रीय ग्रन्थों में भले ही उसे बड़े-छोटे भाई के रूप में माना गया हो, व्यवहार में उसे घृणा और अत्याचार के प्रतीक रूप में ही देखा जा सकता है। तथाकथित उच्चवर्ण के लोग जिस प्रकार के अभिमान से ग्रस्त देखे जाते हैं और वे जिस तरह से निम्न कहे जाने वाले वर्णों पर असहनीय अत्याचार करते हैं, उसे केवल तार्किक व्याख्याओं से झुठलाया नहीं जा सकता। जब तक इसका परिष्कार नहीं किया जाता, तब तक अहंकार और घृणा का यह कलुष व्यक्ति और समाज को रसातल में पहुंचाने वाला सिद्ध होगा। तुलसीदास को बहुधा वर्णाश्रम-धर्म का कट्टर समर्थक माना जाता है।

निश्चित रूप से उनके ग्रन्थों में इसका समर्थन विद्यमान है। वे अनेकों प्रसंगों में वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा का समर्थन करते दिखाई देते हैं। वर्णाश्रम-धर्म का विरोध करने वालों की उन्होंने कसकर आलोचना की है। राम-राज्य की व्यवस्था में भी वर्ण-धर्म की मर्यादा को स्वीकार किया गया है :

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहि भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं।
पूरि रहा सपनेहुं अघ नाहीं॥

किन्तु जब यह मान लिया जाता है कि उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम-धर्म का प्रचलित रूप ही मान्य था, तब इसे मैं गोस्वामी जी के प्रति घोर अन्याय की संज्ञा देना चाहूंगा। उनके वर्ण-धर्म का स्वरूप क्या है, इसे भगवान राम और निषाद तथा श्री भरत और निषाद के मिलन-प्रसंगों में देखा जा सकता है।

भगवान राम अपनी वन-यात्रा के प्रसंग में निषाद के प्रति केवल दयाभाव का प्रदर्शन ही नहीं करते हैं, अपितु उन्हें अपने मित्र के रूप में स्वीकार करते हुए बराबरी का पद प्रदान करते हैं। वे उन्हें अपने समीप बैठाकर स्नेह-भरे स्वर में उनसे वार्तालाप करते हैं। निषादराज के द्वारा दिए गए निमंत्रण को अस्वीकार

करते हुए भी वे स्नेह-भरे स्वर में उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं :

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई।
मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा।
मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें।
प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥
सहज सनेह बिबस रघुराई।
पूँछी कुसल निकट बैठाई॥
नाथ कुसल पद पंकज देखें।
भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धाम तुम्हारा।
मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ।
थापिय जनु सबु लोगु सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना।
मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥
बरष चारिदस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी जिस वर्ण-धर्म को स्वीकार करते हैं, उसमें उनके आराध्य घृणा के प्रतीक अस्पृश्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कर्म का विभाजन तो स्वीकार करते हैं पर स्वकर्म में रत शूद्र प्रभु का मित्र बन सकता है, यह उनकी खुली घोषणा है। किन्तु मैं यह जानता हूं कि जो इसे अस्वीकार करना चाहते हैं, वे इसे ईश्वरीय मर्यादा का रूप देकर नकार सकते हैं।

परन्तु श्री भरत ने सार्वजनिक रूप में प्रभु के दर्शन को साकार रूप देकर यह दिखा दिया कि राम-राज्य में वर्ण-धर्म का वास्तविक आदर्श क्या था ? इसे हम भागवत धर्म कह सकते हैं, जो शरीर को केन्द्र बनाकर धर्म का निर्णय करने के स्थान पर श्री राम को ही केन्द्र बनाकर धर्म की व्याख्या करता है। इसीलिए धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाला रावण ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी प्रभु के द्वारा दण्डित किया गया और शूद्र निषादराज मैत्री के पात्र बने।

चतुरंगिणी के साथ चित्रकूट की ओर जाते हुए श्री भरत ने गुरु वशिष्ठ के द्वारा निषादराज का परिचय प्राप्त किया। और तब उन्होंने तत्काल एक ऐसा विलक्षण कार्य किया तो तत्कालीन परम्परा के केवल विरुद्ध ही नहीं अपितु अविश्वसनीय-सा प्रतीत हो रहा था। वे निषादराज को देखकर रथ का परित्याग कर देते हैं और तीव्र गति से वहां पहुंच जाते हैं, जहाँ निषादराज दूर से साष्टांग प्रणाम कर रहे थे :

जानि राम प्रिय दीन्ह असीसा।
भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥
राम सखा सुनि संदनु त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई।
कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

श्री भरत के लिए लक्ष्मण और निषाद में कोई पार्थक्य न था। दोनों ही राम-प्रेम के नाते उनके स्नेह के समान पात्र हैं। इस घटना का बड़ा दूरगामी परिणाम हुआ। गुरु वशिष्ठ पर पड़ने वाला प्रभाव चित्रकूट में परिलक्षित हुआ जब पुनः निषादराज ने उन्हें दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया और महर्षि ने दौड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया :

राम सखा ऋषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

श्री भरत के चरित्र में गुरुदेव ने धर्म के नए अर्थ का दर्शन किया। जो वर्ण-धर्म कुछ लोगों के अन्तःकरण में अहंकार और कुछ लोगों के हृदय में हीनता की भावना भर दे, वह व्यक्ति के उत्थान का साधन नहीं बन सकता। उच्च वर्ण का व्यक्ति जहां स्वयं को अन्यों से ऊंचा मानकर अहंकारी हो जाता है, वहां अस्पृश्य कहा जाने वाला व्यक्ति ग्लानि के गर्त में गिरकर जीवन की सार्थकता खो बैठता है। क्या धर्म का उद्देश्य यही है? सच्चा धर्म अहंकार और ग्लानि के भावों से व्यक्ति को मुक्त करता है। प्रभु ने अपनी मैत्री के द्वारा निषादराज को इसी हीन भावना से मुक्त बनाया था। इसीलिए जब भरत ने उन्हें हृदय से लगाकर उनसे कुशल प्रश्न किया तब उनका आत्मविश्वास-भरा स्वर इस रूप में गूंज उठा :

राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा।
पूंछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सील सनेहू।
भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥
सकुच सनेहु मोदु मन बाढ़ा।
भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी।
बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥
कुसल मूल पद पंकज पेखी।
मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥

अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे।
सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥
समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥
कपटी कायर कुमति कुजाती।
लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जबहीं ते।
भयउँ भुवन भूषन तबहीं ते॥

चित्रकूट-यात्रा-पथ पर जाते हुए श्री भरत को जिन लोगों ने देखा, उन सबको एक नई प्रकार की उपलब्धि का बोध हुआ। इसमें महर्षि भारद्वाज जैसे उच्च कोटि के महापुरुष भी थे। जिन लोगों ने परमार्थ की उपलब्धि के लिए भौतिक सुखों का त्याग कर दिया था उनमें महर्षि अग्रगण्य थे। उन्हें अपनी निरपेक्षता और त्याग पर गर्व था। अनगिनत साधक उनसे साधना का पथ प्राप्त करते थे। स्वयं रामभद्र ने मार्ग के सम्बन्ध में उनसे जिज्ञासा करते हुए उन्हें 'परमारथ पथ परम सुजाना' के रूप में देखा था। किन्तु श्री भरत के दर्शन से महर्षि को ऐसा प्रतीत हुआ कि सारी साधनाओं की उपलब्धि श्री भरत के दर्शन के रूप में साकार हो रही है। भाव भीने स्वर में गद्‌गद कण्ठ से उन्होंने यह घोषणा की :

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।
उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फल दरसु तुम्हारा।
सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

श्री भरत के आतिथ्य में उन्हें त्याग और वैराग्य के एक नए रूप का साक्षात्कार हुआ। अपनी साधना और तपस्या के परिणामस्वरूप महर्षि को अनेक सिद्धियां प्राप्त थीं। महर्षि ने उन सारी सिद्धियों का प्रयोग श्री भरत की पहुनाई के लिए किया। वैभव और विलास की सारी सामग्री वहां उपलब्ध थी। श्री भरत उनके बीच में थे। पर वे एक क्षण के लिए भी श्री भरत के मन को बांध नहीं पातीं क्योंकि श्री भरत इन सारे उपकरणों को भिन्न दृष्टि से देख रहे थे। जैसे एक गम्भीर दर्शक जादूगर द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली वस्तुओं से न तो भयभीत होता है और न उन्हें पाने की व्यग्रता प्रकट करता है। इन सबमें उसे केवल इन्द्रजाल के कौतुक का बोध होता है। वही दृष्टि श्री भरत की है :

मुनि प्रभाव जब भरत बिलोका।
सब लघु लगे लोकपति लोका॥

व्यापक अर्थों में हम इसे संसार में रहते हुए भी उससे अप्रभावित रहने वाले

दर्शन का प्रतीक कह सकते हैं। इस सृष्टि का रचयिता ईश्वर सबसे बड़ा मायानाथ अथवा जादूगर है जो शून्य से अनगिनत पदार्थों की सृष्टि कर देता है।

अनगिनत व्यक्ति इन पदार्थों को यथार्थ मानकर उन्हें पाने के लिए बेचैन हो जाते हैं। और कुछ स्वयं को विवेकी समझने वाले इनके आकर्षण की भयंकरता का अनुभव करते हुए इनसे दूर भागते हैं। किन्तु जिन्हें भरत की दृष्टि प्राप्त है वे इसे ईश्वर की लीला और प्रभाव के रूप में देखते हैं। न वे संसार में आसक्त होते हैं न उससे भागते हैं। इस तरह श्री भरत न केवल कर्तव्यपथ के पथिकों के लिए अपितु त्यागियों के लिए भी एक नया आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए उन्हें देखकर भिन्न-भिन्न आश्रमों के व्यक्ति कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं :

प्रमुदित तीरथराज निवासी।
बैखानस बटु गृही उदासी॥
कहहिं परस्पर मिलि दस पाँचा।
भरत सनेह सील सुचि साँचा॥

प्रत्येक आश्रम की मर्यादा भिन्न है। इसलिए उनके आदर्श चरित्र भी भिन्न हो सकते हैं। एक ब्रह्मचारी का आदर्श सद्गृहस्थ महापुरुष कैसे हो सकता है! सद्गृहस्थ संन्यासी के जीवन से प्रेरणा प्राप्त करे यह संभव प्रतीत नहीं होता। किन्तु श्री भरत इस धारणा के अपवाद हैं। उनका चरित्र समान रूप से सबके लिए प्रेरक है। बहिरंग भिन्नता के अन्तराल में सभी आश्रम एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। मानस की मान्यता यह है कि भगवत्प्रेम के अभाव में व्यक्ति सच्चे अर्थों में किसी भी आश्रम-धर्म का पालन नहीं कर सकता है। इसे दृष्टांन्त के रूप में यों कह सकते हैं कि शारीरिक दृष्टि से सभी व्यक्ति एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। पर जहां तक प्राण-शक्ति का सम्बन्ध है, सभी व्यक्तियों में एकत्व है। आश्रम-धर्म या वर्ण-धर्म की स्थिति शरीर के अंगों की भांति है। और भगवान् के प्रति प्रेम उसका अंतरंग प्राण है। श्री भरत का चरित्र इसी प्राण-शक्ति का प्रतीक है :

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरे देह जनु राम सनेहू॥

यात्रा-पथ में प्रेरणा प्रदान करते हुए श्री भरत चित्रकूट पहुंच जाते हैं। चित्रकूट के निवास-काल में श्री भरत के अनेक विलक्षण गुण प्रकट होते हैं। गुरु वशिष्ठ सहित सारे अयोध्यावासियों की ऐसी धारणा थी कि भरत, रामभद्र से लौटने का अनुरोध करेंगे और सत्यसन्धं पितृभक्त राम उसे स्वीकार नहीं कर पावेंगे। गुरु वशिष्ठ ने सांकेतिक भाषा में अपने यह विचार भरत के समक्ष प्रस्तुत किए :

बोले मुनिबरु समय समाना।
सुनहु सभासद भरत सुजाना॥

धरम धुरीन भानुकुल भानू।
राजा रामु स्वबस भगवानू॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू।
राम जनमु जग मंगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी।
खल दलु दलन देव हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरिहरु ससि रबि दिसिपाला।
माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई।
जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीके।
राम रजाइ सीस सबहीं के॥
राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥

किन्तु इस सन्दर्भ में सभी की धारणाएं व्यर्थ सिद्ध हुईं। रामभद्र के समक्ष निर्णय की कोई समस्या नहीं थी। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि भरत जो भी कहेंगे वे उसे बिना किसी विचार के स्वीकार कर लेंगे। वे यह स्वीकार करते हैं कि महाराज श्री दशरथ के प्रति उनके मन में अपार आदर के भाव विद्यमान हैं पर श्री भरत का संकोच उससे भी बड़ा है। भरत के आदेश को स्वीकार कर लेने में ही सबका भला है :

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा।
अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

प्रभु के इस भाषण पर दो भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं सामने आती हैं। जहां अयोध्यावासी आनन्दित हुए, वहां देवता आतंकित हो उठे। अयोध्यावासियों को लगा कि उनका संकल्प साकार होने जा रहा है। जब कि प्रभु ने स्वीकार कर लिया है कि जो भरत कहेंगे मैं वही करूंगा तो अब केवल औपचारिक रूप में कहना ही शेष है। राम-राज्य में अब अधिक विलम्ब नहीं है। दूसरी ओर स्वर्गस्थ देवता यह

सोचकर आतंकित हो उठे कि जब राम का अयोध्या लौट जाना सुनिश्चित हो गया तो रावण-वध का कार्य पूरा कैसे हो सकता है ! न जाने कब तक उन्हें कष्ट झेलना होगा :

सुरगन सहित सभय सुरराजू।
सोचहिं चाहत होन अकाजू॥

किन्तु यह सारे विकल्प व्यर्थ सिद्ध हुए। राघवेन्द्र ने जब श्री भरत से यह कहा कि तुम जो भी कहोगे मैं वही करूंगा, उस समय प्रारम्भ में उनके द्वारा कहा गया एक वाक्य बड़े महत्त्व का था। उन्होंने कहा था कि भरत मैं तुम्हें भली प्रकार जानता हूं, इसलिए मेरे मन में कोई असमंजस नहीं है :

तात तुम्हहि मैं जानहुँ नीके।
करहुँ काह असमंजस जी के॥

श्री भरत को छोड़कर अन्य कोई दूसरा एक भी व्यक्ति वहां नहीं था जिस पर रामभद्र इतना बड़ा भार सौंप पाते। इतिहास में अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने व्यक्तिगत धर्म के निर्वाह के लिए बड़े-से-बड़े कष्ट उठाए हैं। स्वधर्म में स्थित रहना ही उनका व्रत था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिए यह समाज में आदर्श के रूप में बद्धमूल हो चुका था। इसका एक दुष्परिणाम यह था कि जब व्यक्ति को केवल अपने ही धर्म की चिन्ता हो और वह तीव्रगति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा हो, तब साधारण व्यक्ति उसके पग से पग मिलाकर चलने में स्वयं को असमर्थ पाता है। अतः उसके सामने रुक जाने को छोड़कर अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता। वह केवल इतना ही कर सकता था कि ऐसे महापुरुषों के गुण गाकर झूठा आत्मसंतोष प्राप्त कर ले। इस प्रकार का व्यक्तिगत धर्म सामूहिक कल्याण का साधन नहीं बन सकता। केवल लौकिक स्वार्थ ही नहीं, पारलौकिक स्वार्थ भी व्यक्ति को ससीम बना देता है। लौकिक स्वार्थ से प्रेरित व्यक्ति अन्यायी हो जाता है। भले ही पारलौकिक आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति इस प्रकार का अन्याय न करता हो, पर वह लाखों व्यक्तियों की चिन्ता किए बिना स्वयं के सुख में डूब कर कोई ऐसा आदर्श नहीं प्रस्तुत करता जो करोड़ों व्यक्तियों को हीनता से मुक्त कर सके। श्री भरत न केवल लौकिक स्वार्थों से अपितु पारलौकिक सुख की आकांक्षा से मुक्त हैं :

परमारथ स्वारथ सुख सारे।
भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

श्री भरत के इस जीवन-दर्शन से राघवेन्द्र भली भांति परिचित थे। वे यह जानते थे कि श्री भरत के द्वारा कभी भी कोई ऐसी क्रिया नहीं होगी जो लोकमंगल के विपरीत हो। उन्हें यह ज्ञात था कि श्री भरत उन्हें लौटाने का संकल्प लेकर भले ही आए हों पर जैसे ही उन्हें यह लगेगा कि लोकहित की दृष्टि से यह उचित नहीं है, एक क्षण में ही वे अपने संकल्प का परित्याग कर देंगे। उनके लिए

अपने व्यक्तिगत संकल्प अथवा सत्य का कोई महत्त्व नहीं है।

बहुधा सत्य के नाम पर अहंकार की ही पूजा की जाती रही है। सत्य एक सार्वभौम वस्तु है। सत्य का सच्चा उपासक यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कहीं भी सत्य की पराजय हो। जब सत्य के साथ भी मेरा और तेरा शब्द जुड़ जाता है तब वह अपनी गरिमा खो देता है। यदि एक व्यक्ति यह कहता है कि मैं अपने सत्य की रक्षा करूंगा, तुम्हारी बात भले ही झूठी सिद्ध हो तब वह सत्य के नाम पर अहंकार की ही पूजा करता है। चित्रकूट में रामभद्र और श्री भरत के सम्वाद में धर्म का वास्तविक रूप प्रकट हुआ। महाराज श्री दशरथ की तुलना में श्री भरत को अधिक महत्त्व देना, व्यावहारिक सम्बन्ध के आधार पर संगत सिद्ध नहीं होता। महाराज श्री दशरथ जहां पिता के रूप हैं और शास्त्रीय दृष्टि से उनकी आज्ञा का पालन अपरिहार्य है वहां श्री भरत छोटे भाई होने के नाते इस प्रकार के किसी विशेषाधिकार से वंचित हैं। स्वयं उनके लिए प्रभु की आज्ञा का पालन अपरिहार्य होना चाहिए। किन्तु प्रभु 'तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू' कह कर इस धारणा का खण्डन करते हुए दिखाई देते हैं। वस्तुतः महाराज श्री दशरथ परम्परा से माने जाने वाले धर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। इसी दृष्टि से गुरु वशिष्ठ ने यह कहा था कि महाराज श्री दशरथ के समान महान् व्यक्ति न तो हुआ है और न होगा :

भयउ न अहइ न अब होनिहारा।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥

किन्तु रामभद्र की दृष्टि में श्री भरत धर्म के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं जो राम-राज्य के दर्शन के सर्वथा अनुरूप है। महाराज श्री दशरथ के जीवन में जिस सत्य की प्रतिष्ठा है उसे निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। स्वयं वे भी इस विषय में निर्भ्रान्त नहीं थे। इसीलिए जहां वे रामभद्र को उनके वचन के नाम पर वन जाते हुए देखकर भी मौन रह जाते हैं, वहीं सुमन्तजी को भेजकर वे उन्हें लौटाने का आदेश देते हैं। पर आदेश देते हुए भी उसके औचित्य पर उन्हें सन्देह बना रहा। यद्यपि वे भगवान शंकर से प्रार्थना करते हुए यह कहते हैं कि भले ही मेरा सुयश नष्ट हो जाए, मुझे नर्क में जाना पड़े किन्तु राम मेरी आंखों से ओझल न होने पावें। पर प्रत्यक्ष व्यवहार में उसे क्रियान्वित करने का साहस वे नहीं जुटा पाते। कुल मिलाकर विचार करते समय वे अपनी व्यक्तिगत भावनाओं में ही केन्द्रित दिखाई देते हैं। श्री भरत इस अन्तर्द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त हैं। अपना व्यक्तिगत सुख-दुःख उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता। उनका धर्म स्वसुख की भावना से हटकर प्रभु के सुख से सम्बद्ध हो चुका है। इसीलिए रामभद्र जहां महाराज श्री दशरथ के द्वारा भेजे गए इस आदेश को कि वे 'चार दिन में वन देखकर लौट आवें' नम्रता-पूर्वक अस्वीकार कर देते हैं, वहां चित्रकूट की भरी सभा में वे यह घोषणा कर देते हैं कि 'जो कुछ भरत कहेंगे मैं वही करूंगा।' यह आत्म-समर्पण भरत के प्रति इस प्रगाढ़ विश्वास का परिचायक था कि श्री भरत कभी भी धर्म के स्थान पर अपनी

व्यक्तिगत भावना को प्रतिष्ठित नहीं होने देंगे। प्रभु का यह विश्वास सार्थक सिद्ध हुआ। श्री भरत ने उनसे लौटने का अनुरोध नहीं किया। वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनकी प्रसन्नता जिसमें हो, वही करना उन्हें अभीष्ट है। सेवा-धर्म की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट कह देते हैं कि स्वामी को संकोच में डालकर जो सेवक निज हित की चिन्ता करता है, वह निन्दनीय है :

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई।
करुना सागर कीजिअ सोई॥

× × ×

जो सेवक साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची॥

यह एक ऐसा सुखद सम्वाद था जो व्यक्तिगत जय-पराजय की भावना से मुक्त था। प्रभु को भरत के सुख और सन्तोष की चिन्ता थी तो श्री भरत रामभद्र की प्रसन्नता के लिए व्यग्र थे। दोनों को एक-दूसरे के सत्य की रक्षा की चिन्ता थी। यही सत्य का वास्तविक स्वरूप है। धर्म-रथ की भाषा में इसे सत्य और शील का समन्वय कह सकते हैं। जब सत्य के साथ शील का अभाव होता है तब व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होकर केवल अपने ही सुख और स्वर्ग की चिन्ता करने लग जाता है। शील सर्वदा दूसरों की भावना की चिन्ता करता है। शील मिथ्याचार का समर्थक न बन जाए, इसके लिए उसके साथ सत्य की अपेक्षा है। और सत्य अहंकार का पर्यायवाची न बने, इसलिए उसके साथ शील का संयोजन होना चाहिए। यही समन्वय राम-राज्य के व्यवहार का मुख्य आधार है। जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति चित्रकूट में होती है। गुरु वशिष्ठ यहीं से श्री भरत के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है कि धर्म की सच्ची अभिव्यक्ति श्री भरत के ही जीवन में हुई है। श्री भरत के जीवन-दर्शन को धर्म के स्थान पर धर्म-सार की संज्ञा देते हैं। चित्रकूट से लौटकर श्री भरत पहले के ही समान धर्म के विषय में गुरु वशिष्ठ का निर्णय जानना चाहते हैं किन्तु महर्षि गद्‌गद कण्ठ से घोषणा करते हैं कि मेरे लिए धर्म की सच्ची व्याख्या तुम्हारा चरित्र है; तुम्हारा चिन्तन, तुम्हारी वाणी और तुम्हारा व्यवहार समाज के समक्ष सच्चे धर्म-सार को प्रस्तुत करता है।

सानुज गे गुर गेहँ बहोरी।
करि दंडवत कहत कर जोरी॥
आयसु होइ त रहौं सनेमा।
बोले मुनि तन पुलकि सपेमा॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई॥

और यह धर्म-सार निरंतर चौदह वर्षों तक श्री भरत के जीवन में अभिव्यक्त होता है। उन्होंने राज्य-कार्य का संचालन राजा के रूप में न करके एक सेवक के

रूप में किया । अयोध्या के राज-सिंहासन पर वे कभी नहीं बैठे । सिंहासन पर प्रभु की पादुका अभिषिक्त की गई । वे यह बताना चाहते थे कि सत्ता और समृद्धि का स्वामी एकमात्र ईश्वर है । व्यक्ति उस आसन पर बैठने की धृष्टता तभी करता है जब वह पद की मदिरा पीकर उन्मत्त हो जाता है । विश्व के इतिहास में यह भूल ऐसे व्यक्तियों द्वारा भी दोहराई गई जिन्हें समाज सत्पुरुष मानकर समादर देता था । नहुष का दृष्टान्त इसका सबसे बड़ा प्रमाण है । नहुष अपने सत्कर्मों के द्वारा समाज में तो पूज्य ही था, उसकी अतुलनीय कीर्ति स्वर्ग तक जा पहुंची थी । और जब एक बार इन्द्र को स्वर्ग से पलायन करना पड़ा तब उसके स्थान पर नहुष का सर्वसम्मति से चुनाव किया गया । यह मरणधर्मा की अमरत्व पर विजय थी । किन्तु यह विजय क्षणिक सिद्ध हुई और इन्द्र के सिंहासन पर बैठकर नहुष पूरी तरह परिवर्तित हो गया । उसे लगने लगा कि इन्द्र के सिंहासन पर ही नहीं, वहां की सारी वस्तुओं पर उसका अधिकार होना चाहिए । इसलिए वह इन्द्राणी शची से भी यह आशा करता है कि वह उसे इन्द्र-रूप में स्वीकार करे । इस संकल्प की सिद्धि के लिए वह तपस्वी ऋषियों को अपनी पालकी का वाहक बनाने में भी संकोच नहीं करता । तपस्या भोग को ढोवे, इससे बढ़कर विवेक की क्या विडम्बना हो सकती है । परिणाम हुआ स्वर्ग से नहुष का पतन । वह मनुष्य के स्थान पर सर्प बन गया । अमृत के केन्द्र से विष लेकर लौटने वाला वह व्यक्ति जीवन के यथार्थ को ही प्रकट करता है । श्री भरत का जीवन इस यथार्थ का समाधान प्रस्तुत करता है । वे भोग के स्थान पर राजा को तपस्या से सम्बद्ध कर देते हैं । राजा प्रजा का सेवक है । प्रजा को प्रभु की थाती मानकर उसकी सेवा में सतत् संलग्न रहना ही सच्चे सेवक का धर्म है । इसलिए अयोध्या की वैभव नगरी से कुछ दूर हटकर श्री भरत नन्दिग्राम में निवास करते हैं । वहां उनकी दिनचर्या एक ऐसे तपस्वी की भांति थी जो तप और सत्ता के जीवन को एक साथ स्वीकार करता है । उनके इस स्वरूप का मार्मिक चित्र मानस की इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

सुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बालि दिनु साधि ।
सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि ॥

राम मातु गुर पद सिरु नाई ।
प्रभु पद पीठ रजायसु पाई ॥
नंदिगाँव करि परन कुटीरा ।
कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा ॥
जटाजूट सिर मुनि पट धारी ।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा ।
करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥

भूषन बसन भोग सुख भूरी।
मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
राम पेम भाजन भरतु बड़े न एहिं करतूति।
चातक हंस सराहिअत टेंक बिबेक बिभूति॥
देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुख छवि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे।
बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम संजम नियम उपासा।
नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी।
स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम प्रेम बिधु अचल अदोषा।
सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

ऐसे भाई भरत को रामभद्र चौदह वर्षों की अवधि में कभी भी नहीं भुला पाते हैं। लंका-विजय के बाद भी विजयोत्सव के स्थान पर वे भाई भरत से मिलने के लिए व्यग्र दिखाई देते हैं। उनकी स्मृति से ही वे रोमांचित हो उठते हैं। क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि उनका यह समग्र रूप से समर्पित भाई कितनी व्यग्रता से उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि चौदह वर्ष की अवधि व्यतीत होते ही भरत प्राण का परित्याग कर देंगे। इसीलिए वे पैदल चलने की परम्परा छोड़कर पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते

हैं। दाता के रूप में होते हुए भी वे एक याचक के समान विभीषण से अनुरोध करते हैं कि वे उनके शीघ्र अयोध्या पहुंचने का प्रबन्ध करें :

सुनत बचन मृदु दीनदयाला।
सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥
तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

अयोध्या पहुंच कर प्रभु और श्री भरत का रस परिप्लुत मिलन होता है। और सिंहासन पर आसीन होने से पहले रामभद्र श्री भरत को स्वयं अपने हाथों से स्नान कराते हैं, उनकी जटाओं को सुलझाते हैं। यह उस सन्त के प्रति प्रभु की कृतज्ञता का ज्ञापन था जिसने अपने तप, त्याग और शील के द्वारा राम-राज्य के स्वप्न को साकार कर दिखाया :

पुनि करुनानिधि भरत हँकारे।
निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई।
भगत बछल कृपाल रघुराई॥

मानस में अनेक अनुपमेय पात्र हैं और उनके बड़े ही अद्‌भुत शब्द-चित्र मानस में उपलब्ध हैं किन्तु गोस्वामी जी की साधना के आदर्श श्री भरत ही हैं, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री लक्ष्मण जी

बहुधा यह माना जाता है कि मैत्री का मुख्य आधार शील और व्यसन में समानता ही होती है। 'समान शील व्यसनेसु सख्य' की उक्ति का उद्धरण इस संदर्भ में दिया जाता है। किन्तु श्री राम और लक्ष्मण की प्रगाढ़ स्नेह भावना को इसके अपवाद के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। न केवल रूप-रंग अपितु स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्नता होते हुए भी जैसी अभिन्नता इन दोनों के सम्बन्ध से दृष्टि-गोचर होती है, उसका सादृश्य विश्व इतिहास में ढूंढ़ने पर भी प्राप्त नहीं होता। सत्य तो यह है कि भगवान् राम के चरित्र में लक्ष्मण की जैसी अनिवार्यता है उसकी तुलना मानस के किसी अन्य पात्र से की ही नहीं जा सकती है। वन्दना-प्रसंग की पंक्तियों में इसी अनिवार्यता को गोस्वामी जी दण्ड और पताका के सम्बन्ध की तुलना के माध्यम से प्रकट करते हैं। लक्ष्मण राम की कीर्ति-पताका के लिए दण्ड के समान हैं :

बन्दउँ लछिमन पद जल जाता।
सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका॥

सारे वन्दना-प्रसंग में किसी भी भक्त की राम के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनिवार्यता का परिचय प्राप्त नहीं होता। "श्री भरत राम-पद-कमल के मधुकर हैं," "आञ्जनेय का हृदय प्रभु का आगार है," इन उपमाओं में सामीप्य और सम्बन्ध की मधुरता का बोध होता है। किन्तु पताका के लिए दण्ड जैसी अनि-वार्यता इनमें से किसी में नहीं है। पूरे राम-चरित्र में लक्ष्मण की भूमिका पर विचार करते हुए पग-पग पर इस उपमा की सार्थकता का अनुभव होता है। इसी अर्थ में लक्ष्मण केवल राम के भक्त न होकर उनके पूरक भी हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अपूर्ण व्यक्तित्व के लिए ही किसी पूरक-चरित्र की अपेक्षा हो सकती है। यदि श्री राम साक्षात् पूर्ण ब्रह्म हैं तो उनमें अपूर्ण की कल्पना भी अप-राध है। ऐसी स्थिति में लक्ष्मण को राम का पूरक कहना भी सर्वथा असंगत है। किन्तु इन दोनों के तात्विक सम्बन्ध पर विचार करते ही इस आशंका का निवारण हो जाता है। वन्दना की पंक्तियों में इन दोनों के व्यावहारिक और पारमार्थिक स्वरूपों की व्याख्या के लिए ही पंक्तियों का विस्तार किया गया है। प्रारम्भ में जहां उन्हें राम की कीर्ति-पताका के लिए दण्ड बताते हुए उनके व्यावहारिक संबंध को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, वहीं आगे चलकर उन्हें उन सहस्र शीर्ष शेष के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सृष्टि के मूल कारण हैं और पृथ्वी का भार

उतारने के लिए अवतरित हुए हैं :

सेष सहस्र सीस जग कारन।
जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर।
कृपासिंधु सौमित्र गुना गर॥

इन पंक्तियों में लक्ष्मण का तात्विक स्वरूप वैसा ही है जैसा श्री राम का। यदि राम सृष्टि के आदिकारण हैं तो लक्ष्मण भी जगकारण हैं। वेद मंत्रों में ईश्वर की स्तुति 'सहस्र शीर्षः पुरुषः' के रूप में की गई है, लक्ष्मण भी सहस्र शीर्ष हैं। यदि श्री राम पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतरित हुए हैं तो लक्ष्मण का भी अवतरण इसी उद्देश्य से हुआ है। इसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि तात्त्विक दृष्टि से श्री राम और लक्ष्मण में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। वस्तुतः एक ही ब्रह्मतत्त्व स्वयं को दो रूपों में अभिव्यक्त करता है। कुछ ऐसी ही अनुभूति तत्त्वज्ञ जनक को तब हुई, जब उन्होंने सर्वप्रथम अपने ही नगर में इनको देखा था। इन दोनों भाइयों के सम्बन्ध में महर्षि विश्वामित्र से जिज्ञासा प्रकट करते हुए वे उस अनुभूति को प्रकट करना नहीं भूलते हैं, जो इन्हें देखकर उनके अन्तःकरण में हुई थी। वे स्नेह और श्रद्धासिक्त शब्दों में प्रश्न करते हैं, "महर्षि ! ये दोनों बालक कौन हैं ? ये मुनिकुल तिलक हैं या किसी राजकुल के बालक हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वेदों में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन नेति के रूप में किया गया है, वही दो रूप बनाकर सामने आ गया है।" महर्षि ने उत्तर में तत्त्वज्ञ जनक की सराहना करते हुए यही कहा कि "तुम्हारी वाणी मिथ्या कैसे हो सकती है।"

प्रेम मगन मनु जानि नृप करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेषु धरि की सोइ आवा॥
सहज बिराग भूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका।
बचन तुम्हार न होइ अलीका॥

इसलिए यदि लक्ष्मण जी को श्री राम के पूरक भी कहें, तो भी उनकी पूर्णता

का अनादर नहीं होता। पर यदि लक्ष्मण को एक भक्त के रूप में स्वीकार करें तो भी राम के गुणों की अभिव्यक्ति के लिए उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। दोनों भाई महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर में विराजमान हैं। अचानक लक्ष्मण के हृदय में नगर-दर्शन की लालसा उत्पन्न होती है। किन्तु प्रभु के भय और महर्षि के संकोच से वे इस आकांक्षा को स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करते हैं। वे मन ही मन मुस्करा रहे हैं। लक्ष्मण के हृदय की इच्छा को राघव जान लेते हैं और तब उनके हृदय में भक्त-वत्सलता उमड़ पड़ती है :

लखन हृदय लालसा बिसेखी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी।
भगत बछलता हिय हुलसानी॥

'भगत बछलता हिय हुलसानी' के माध्यम से गोस्वामी जी लक्ष्मण और राम के सम्बन्ध को एक नई शैली में प्रस्तुत करते हैं। गाय को अपने बछड़े के प्रति जो अद्भुत ममत्व और स्नेह है, वही वात्सल्य है। इसीलिए गाय वात्सल्यमयी है। पर उसके हृदय में छिपा हुआ वात्सल्य प्रतिक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता। सींग को हिलाती हुई गाय को उग्र मुद्रा में देखकर उसे वत्सला स्वीकार कर पाना कठिन है। उसका यह वात्सल्य-भरा रूप तो तभी प्रकट होता है जब बछड़ा दौड़कर उसके निकट पहुंच जाता है। अपने वत्स को देखकर उसके स्तनों में दूध उमड़ पड़ता है। वह उसे दूध पिलाती हुई स्नेह से चाटने लग जाती है। उस समय गाय का वात्सल्य देखने योग्य होता है। यही दृष्टान्त ईश्वर के सन्दर्भ में भी दिया जा सकता है। ईश्वर अनन्त गुण-गण-निलय है। पर उसके गुणों की अभिव्यक्ति भक्त सापेक्ष्य है। ईश्वर दयालु है। यह शब्द बहुधा दोहराया जाता है। पर क्या प्रत्येक व्यक्ति को इसकी अनुभूति होती है। इसका उत्तर सर्वथा नकारात्मक है। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि दया दैन्य सापेक्ष्य है। दीन व्यक्ति को ही दया की आवश्यकता का अनुभव होता है। दैन्य से पीड़ित व्यक्ति दया की याचना करता है। जब तक यह दैन्य लोकपरक होता है तब तक दया और कठोरता की अनुभूति भी व्यक्ति सापेक्ष होती है। वह किसी को दयालु और किसी को कठोर व्यक्ति के रूप में देखता है। पर जब यह दैन्य केवल ईश्वर की ओर अभिमुख होता है तभी भक्त को उसका दयालु रूप दिखाई देता है। अतः केवल ईश्वर का दयालु होना ही यथेष्ट नहीं है, भक्त का दैन्य भी उतना ही आवश्यक है। इसी को दृष्टिगत रखकर गोस्वामी जी विनय पत्रिका में कह उठ उठते हैं "नाथ दीन दयाल हौं मैं गही न गरीबी" अर्थात् प्रभु आप तो दीनदयाल हैं ही पर मैंने दैन्य को धारण नहीं किया

है। लक्ष्मण एक वत्स के रूप में राम के वात्सल्य गुण की अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं 'भगत बछलता हिय हुलसानी' के माध्यम से गोस्वामी जी इसी तथ्य को उजागर करते हैं। जब किसी भक्त के माध्यम से कोई गुण प्रकट होता है, तब उसका लाभ अन्य लोगों को भी प्राप्त हो जाता है। बछड़े को देखकर जब गाय के स्तनों में दूध उतर आता है तब उसे आगे रखकर अन्य लोग भी दूध पाने में सफल हो जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र ने लक्ष्मण के नगर-दर्शन की लालसा को भी इसी रूप में देखा। लक्ष्मण की नगर देखने की इच्छा को वे केवल बालसुलभ स्वभाव के ही रूप में नहीं देखते क्योंकि उनकी दृष्टि में लक्ष्मण केवल एक किशोर बालक मात्र नहीं हैं। उन्हें लगता है कि लक्ष्मण नगर-दर्शन के बहाने जनकपुरवासियों को राघवेन्द्र की रूप-माधुरी का साक्षात्कार कराना चाहते हैं। इसलिए वे नगर परिभ्रमण का आदेश देते हुए यह कहना नहीं भूलते कि अपने रूप-माधुर्य के साक्षात्कारसे जनक-पुरवासियों के नेत्रों को सफल करो :

जाइ देखि आवहु नगर सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सफल सबके नयन सुन्दर बदन दिखाइ॥

किन्तु अन्तर इतना ही है कि जहां सम्बन्ध विशेष की सीमा में भाव विशेष की ही अभिव्यक्ति होती है, वहां सम्बन्धों की निस्सीमता के कारण लक्ष्मण श्रीराम के अनगिनत गुणों को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। कहीं वे वत्स के रूप में राम के वात्सल्य को प्रकट करते हैं तो कहीं एक ओजस्वी वीर के रूप में उनके शौर्य और बल को सामने लाने में समर्थ होते हैं। कहीं दीन बनकर उनकी दीनबन्धुता को उजागर करते हैं, तो कहीं वे अपनी पुरुषार्थ प्रतिपादिनी वाणी से उनके दिव्य तेज को प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं, वे राम के शृंगार और अनुराग के उद्दीपक के रूप में भी सामने आते हैं। इसलिए पूरे रामचरितमानस में श्री लक्ष्मण के जितने चित्र प्रस्तुत किये गए हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। पर इन सब चित्रों में एक ही रंग है जो सबमें समान है, वह है अनन्य राम-प्रेम का रंग।

एक के बाद दूसरे भक्त भगवान् राम के सान्निध्य में आते हैं। उन सबके अन्तःकरण में अनुराग अंकुरित होने की कोई न कोई तिथि है पर लक्ष्मण से राम की प्रीति का प्रारम्भ हुआ ही नहीं। वह तो अनादि हैं। अगाध जल-राशि में जब कुछ नहीं था तब केवल श्याम ब्रह्म ही था जो प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा था। किन्तु उस निद्रा का एक साक्षी और था जो चिरन्तन जाग्रत् था, चैतन्य था। पर उसे किसी शून्यता या अभाव का आभास नहीं हो रहा था। साक्षात् नारायण ही उसकी गोदी में सुख की नींद सो रहे थे। उस 'शेष' को उस समय 'शय्या' की उपाधि दी गई। जब ईश्वर उस गाढ़ी निद्रा से उठकर बैठ जाता है तब वह उसके सिंहासन और छत्र के रूप में प्रतीत होता है। जब वह स्रष्टा सृष्टि व रचना का संकल्प करता है तब उसके संकल्प से जिस विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है उसे भी शेष के मस्तक पर स्थापित कर वह निश्चिन्त हो जाता है। पर इस विशाल ब्रह्माण्ड के भार का शेष

को कभी अनुभव नहीं होता। वह तो उसे 'एक रजकण' के समान ही धारण करता है। "ब्रह्माण्ड भुवन विराज जाके एक सिर जिमी रजकनी" कहकर गोस्वामी जी इन्हीं शेष का स्मरण करते हैं। उस शेष की दृष्टि तो केवल ईश्वर में ही आबद्ध है, और स्रष्टा जब अपनी सृष्टि में अवतरित होने का संकल्प लेता है तब उसका चिरन्तन संगी भी साथ में होता है। यही राम-लक्ष्मण की जोड़ी है।

बाल्यावस्था से ही राघव के प्रति लक्ष्मण का अनन्यानुराग प्रत्येक व्यक्ति को दृष्टिगोचर होने लगा था। इसी को मानस में 'बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी ।।' के रूप में कहा गया है। दोनों बाल-क्रीड़ा के साथी तो थे ही, रात्रि को भी दोनों एक-दूसरे के सामीप्य के बिना सुख की निद्रा नहीं सो पाते हैं। बड़े होते ही जब वे सरयू-तट पर चौगान खेलने के लिए एकत्र होते हैं तब भी एक अनोखा दृश्य उपस्थिति हो जाता है। खेल के लिए रामभद्र के अन्तरंग मित्रों और भाइयों को दो दलों में विभक्त होना होगा। सारी मित्र-मण्डली के सदस्य परिवर्तित होते रहते हैं। आज जो प्रभु के दल में है तो कल उसे प्रतिद्वन्द्वी-दल में स्थान प्राप्त होता है। पर दो सदस्य कभी नहीं बदलते। श्री राघव के प्रतिद्वन्द्वी दल का नेतृत्व सर्वदा भरत करते हैं; और लक्ष्मण जब भी खेलते हैं, तब वे प्रभु की ओर ही रहते हैं। इस खेल का सबसे अनोखा परिणाम एक ही होता है—भरत की विजय। इससे भिन्न किसी परिणाम की आशा भी कैसे की जा सकती है जब कि स्वयं रामभद्र उन्हें जिताने के लिए व्यग्र रहते हों। उस दल में सर्वदा खेलना किसे प्रिय लग सकता है जिसकी पराजय अवश्यम्भावी है। पर विजय का प्रलोभन लक्ष्मण को कभी अपनी ओर नहीं खींच पाया। जय में ही नहीं, पराजय में भी वे राम के शाश्वत संगी हैं। उनके मन में राम के द्वारा भरत के लिए किये जाने वाले पक्षपात को लेकर कोई उलाहना नहीं है। यदि राघव भरत को जिताकर प्रसन्न होते हैं तो लक्ष्मण इससे बढ़कर किसी और उद्देश्य की कल्पना नहीं करते हैं। केवल एक ही बार इसके लिए उन्होंने अपने बड़े भाई को उलाहना दिया था—वनवास के समय चित्रकूट में रहते हुए उन्होंने जब यह समाचार सुना कि भरत चतुरंगिणी सेना लेकर आ रहे हैं, तब अमंगल की आशंका से वे उद्विग्न हो उठे थे। उन्हें लगा कि अपने राज्य को निष्कंटक बनाने के लिए भरत यह अभियान कर रहे हैं। उन्हें भरत के इस दुस्साहस पर आश्चर्य हुआ था। उस समय उनका ध्यान पुरातन काल की बाल-क्रीड़ा की ओर गया था। उन्हें लगा कि प्रतिदिन की विजय को भरत ने अपने पौरुष का प्रमाण मान लिया होगा। और तभी वे आज भी यही सोचकर आ रहे हैं कि इस युद्ध में भी उन्हें ही विजय प्राप्त होगी। जहां तक संघर्ष और युद्ध की बात है लक्ष्मण कभी उससे भयभीत नहीं होते। उन्हें अपने पौरुष का पता है। वे अकेले ही चतुरंगिणी सेना सहित भरत-शत्रुघ्न का संहार कर सकते हैं। उन्होंने ओजस्वी स्वर में इसकी घोषणा की। पर वे इतना अवश्य चाहते हैं कि प्रभु बाल्यावस्था में उत्पन्न की गई भ्रान्ति को दूर कर दें। आज वे अपनी सुकोमल-स्नेहमयी

मुद्रा के स्थान पर अपना 'समर सरोष तेजस्वी मुख' प्रकट करें। जिससे 'कुटिल कुबन्धु' भरत यह समझ सकें कि उन्होंने प्रभु को पहचानने में कितनी बड़ी भूल की है। पर यह सब उनकी आशंका से प्रेरित भावनाएं थीं। श्री भरत के प्रति उनके मन में ईर्ष्या का एक बिन्दु भी नहीं था। 'राम प्रेम भाजन भरत' के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ अनुराग की भावना थी। पर इस अनुराग का कारण भी यही था कि भरत रामभद्र के स्नेह-भाजन हैं। राम के नाते को छोड़कर उन्होंने कभी कोई और नाता स्वीकार ही नहीं किया।

श्री राम के साथ लक्ष्मण की अनिवार्यता का एक और दृष्टान्त तब सामने आया जब महर्षि विश्वामित्र अयोध्या में आए। महामुनि सुबाहु, मारीच और ताड़का के अत्याचार से संत्रस्त थे। उनके आश्रम में जब भी यज्ञों का आयोजन होता था, तब इन दुर्दमनीय राक्षसों के द्वारा उन्हें विनष्ट कर दिया जाता था। महर्षि को लगा कि इस अत्याचार से त्राण दिलाने में एकमात्र ईश्वर ही समर्थ है। वह ईश्वर अयोध्या में अवतरित हो चुका है, इसे वे समाधि के माध्यम से जान चुके थे। अतः उन प्रभु को लाने के लिए महाराज श्री दशरथ के पास जाते हैं। वहां उनका स्वागत-अभिनन्दन किया गया। चारों ही राजकुमार उन्हें अत्यन्त प्रिय लगे किन्तु राम में उन्हें अमित आकर्षण की अनुभूति हुई और वे इस निष्कर्ष पर भी पहुंच चुके थे कि केवल रामभद्र के द्वारा उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी जिसके लिए वे याचक बनकर अयोध्या आये थे। लक्ष्य-पूर्ति के लिए लक्ष्मण की अनिवार्यता को समझकर ही वे 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' की मांग रखते हैं और इन दोनों राजकुमारों को पाकर वे धन्यता का अनुभव करते हैं। महर्षि के साथ वनपथ की ओर प्रस्थान करते हुए इन राजकुमारों का वर्णन गोस्वामी जी ने दो तेजस्वी सिंहों के रूप में किया है :

पुरुष सिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन ॥

कहावत है 'एक वन में दो सिंह नहीं रह सकते।' जहां तक वास्तविकता का सम्बन्ध है, यह कहावत यथार्थ नहीं है। पर इस कहावत के पीछे निहित भावना को झुठलाया नहीं जा सकता। सिंह शौर्य और तेजस्विता का प्रतीक है। तेजस्वी और शौर्य-सम्पन्न व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी को सह नहीं पाता। उसमें अद्वितीयता की चाह होती है वह अकेला रहना चाहता है। पर इन दोनों सिंहों की तो बात ही और है। इन दोनों का अलग रहना ही असम्भव है। सत्य तो यह है कि राघवेन्द्र एक ऐसे सुषुप्त सिंह की भांति हैं जिनके शौर्य को चैतन्य करने के लिए लक्ष्मण की सिंह-गर्जना परमावश्यक है। इस दृष्टि से इन दोनों सिंहों का साहचर्य परमावश्यक है। इस दोहे में दोनों भाइयों में पूर्ण साम्य का दर्शन किया गया है। दोनों सिंह हैं, दोनों वीर हैं, मतिधीरता, कृपासिन्धुत्व में भी दोनों समान रूप से साझीदार हैं। दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए हर्षित मन से यात्रा कर रहे हैं। वह उद्देश्य है 'मुनि भय हरन'। तात्त्विक दृष्टि से दोनों अखिल विश्व कारण-करण हैं। इस वर्णन से

उस स्थिति की भी कल्पना की जा सकती है जिस क्रम से वे चल रहे हैं। मानस के वन-यात्रा-प्रसंग में वे श्रीराम और भगवती सीता के पीछे चलते हैं। 'आगे राम लखन बन पाछें' के रूप में उसका बड़ा ही आकर्षक चित्र मानस में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंच जाना युक्तिसंगत नहीं है कि वे सर्वदा एक ही क्रम से चला करते थे। महर्षि विश्वामित्र के साथ चलते हुए दोनों एक-दूसरे की बराबरी से चलते हुए प्रतीत होते हैं। महर्षि विश्वामित्र का अनुगमन करते हुए दोनों का एक-दूसरे से वार्तालाप करते हुए चलना बड़ा स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। चित्रकूट की वन-यात्रा में लक्ष्मण एक सजग प्रहरी की भांति विदेहजा की रक्षा करते हुए पीछे-पीछे चलते हैं। पर यहां वे एक प्रहरी की मुद्रा में अनुगमन नहीं करते। यहां तो वे स्नेह, अनुराग, और अपनत्व से भरे हुए राम के बन्धु हैं जिनके लिए यह यात्रा आनन्ददायक अनुभूतियों से भरी हुई थी। महर्षि विश्वामित्र भले ही उन्हें राक्षस-वध जैसे महान् उद्देश्य के लिए ले जा रहे हों, पर कार्य की गणना का कोई बोझ इन दोनों बन्धुओं की आकृति पर परिलक्षित नहीं होता। वन-पथ में बराबरी से चलते हुए न केवल वे वार्तालाप कर रहे थे अपितु बाल-सुलभ क्रीड़ा-कौतुक, हास-परिहास में लगे हुए इन दोनों भाइयों को देख कर विरागी विश्वामित्र के अन्तःकरण में भी वात्सल्य रस उमड़ पड़ा था। महर्षि के समक्ष इन दोनों बन्धुओं का व्यवहार एक अनुशासित और सम्भ्रम-भरे शिष्यों की भांति नहीं था। वे तो उस समय स्नेह और वात्सल्य से पूरित पिता के समक्ष लाड़ले बालकों जैसा आचरण कर रहे थे।

वन में रंग-बिरंगे पुष्पों को देखकर वे उन्हें चयन करने का लोभ नहीं छोड़ पाते। इन पुष्प-स्तबकों से वे परस्पर एक-दूसरे का शृंगार करने लग जाते हैं। मयूर को नाचते देखकर वे भी थिरक उठते हैं। कोकिला की कुहू-कुहू को सुनकर दोनों बन्धुओं में उसके स्वर की नकल करने की होड़-सी लग जाती है। सरोवर में खिले हुए कमलों को देखकर तो वे अपने को रोक ही नहीं पाते; जल में प्रविष्ट होकर वे उन्हें तोड़ने की चेष्टा करते हैं। उस समय महर्षि की व्यग्रता देखने योग्य हो जाती है। वे भयभीत होकर दोनों बालकों को गहरे जल में प्रविष्ट होने से रोकते हैं। उनसे लौट आने का अनुरोध करते हैं। गीतावली में इस यात्रा की बड़ी ही भावभीनी झांकी प्रस्तुत की गई है :

मुनि के संग बिराजत बीर।
काकपच्छ धर, कर कोवंड सर सुभग
पीतपट कटि तूनीर॥
बदन इंदु, अंभोरुह लोचन, स्याम गौर
सोभा सदन सरीर॥
पुलकत ऋषि अवलोकि अमित छबि, उर न
समाति प्रेम की भीर॥

खेलत, चलत, करत मग कौतुक, बिलँबत
सरित - सरोबर - तीर ॥
तोरत लता, सुमन, सरसीरुह, पियत
सुधा सम सीतल नीर ॥
बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर, पुनि-पुनि
बरनत छाँह - समीर ।
देखत नटत केकि, कल गावत मधुप, मराल,
कोकिला, कीर ॥
नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी,
ब्रजबहू अधीर ॥
तुलसी प्रभुहि देत सब आसन निज-निज मन
मृदु कमल कुटीर ॥

रामभद्र की इन विविध रूप-झांकियों में लक्ष्मण के भी परिवर्तित रंगों की मनोज्ञ मूर्ति सामने आती है। यदि राम वीर हैं तो लक्ष्मण को देखकर लगता है, 'मनहु बीररस सोवत जागा।' यदि प्रभु कौतुक-भरे किशोर हैं तो लक्ष्मण कीड़ा-विस्तार बालक हैं। वे कभी पीछे चलते हैं तो कभी आगे भी हो लेते हैं। दण्डकारण्य में ऐसा ही अवसर आ गया था। विरह-व्यथित रामभद्र विदेहजा के अन्वेषण में वन-वन भटक रहे थे। विसुध राघव के मार्ग-दर्शक उस समय लक्ष्मण ही तो थे। इसलिए अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में दोनों भाइयों का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें इन दोनों के वर्ण की तुलना कुन्द और इन्दीवर से की गई है। वन्दना के श्लोक से कुन्द के पश्चात् इन्दीवर का उल्लेख इसी क्रम का सांकेतिक परिचय देने के लिए किया गया है क्योंकि यह सीतान्वेषण-तत्पर बन्धुओं का चित्र है :

कुन्देन्दीवर सुन्दरावतिबलौ विज्ञान धामावुभौ,
शोभाढ्यौ वर धन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्द प्रियौ।
माया मानुष रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ,
सीतान्वेषण तत्परौ पथिगतौ भक्ति प्रदौ तौहि नः ॥

आगे-पीछे ही नहीं, वे आसीन राम की झांकी में दक्षिण भाग में बैठे दिखाई देते हैं।

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर ॥

वनपथ में चलते हुए वे राम के पीछे ही नहीं कुछ बायें हटकर चलते हैं। इसका संकेत 'लखन चलहिं मग दाहिन लाए' में दिया गया है। इस तरह लक्ष्मण राम-भद्र के आगे, पीछे, दाहिने, बायें सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। अन्य पात्रों के समान उनका एक सुनिश्चित स्थान नहीं है। उनकी यह विलक्षणता मानस के अन्य सारे पात्रों में उनकी अद्वितीयता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

अयोध्या से प्रारम्भ हुई यह यात्रा महर्षि के आश्रम में पहुंचकर समाप्त हुई। इस यात्रा के रंग भी अनोखे थे। प्रारम्भ में जहां तेजस्वी राजकुमारों के रूप में उनकी यात्रा आरम्भ हुई, वहां मध्य में वाल-लीला के अनोखे कौतुक से एक भिन्न ही रस की सृष्टि हुई। अचानक ताड़का के आने से पुनः रस परिवर्तन हुआ। और रघुवीर का शौर्य पुनः सामने आया। उनके एक ही वाण से क्रूरहृदया ताड़का विनष्ट हो गई। लक्ष्मण ताड़का-वध का यह कार्य राघव द्वारा ही सम्पन्न होने देते हैं। दुष्ट-दलन के कार्य का श्रीगणेश अग्रज से ही हो, उन्हें यही उपयुक्त प्रतीत हुआ। पर दूसरे दिन यज्ञ-रक्षा के अवसर पर लक्ष्मण का अद्भुत पराक्रम सामने आया। लक्ष्मणाग्रज यहां मारीच और सुबाहु को लेकर ही उलझे रह गए वहां निशाचरों की सारी सेना का संहार सौमित्र के द्वारा सम्पन्न हुआ :

प्रात कहा मुनि सन रघुराई।
निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी।
आपु रहे मख की रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही।
लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा।
सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा।
अनुज निसाचर कटकु संघारा॥

बहुत वर्षों के पश्चात् प्रभु को लक्ष्मण के इस महान् शौर्य की स्मृति हो आई, यह अवसर लंका-युद्ध के पूर्व का था। सुग्रीव विभीषण की शरणागति का विरोध कर रहे थे। उन्हें इसके पीछे रावण की दुरभसन्धि दिखाई दे रही थी। उन्हें आशंका थी कि उनकी सेना के सारे भेद विभीषण के द्वारा रावण तक पहुंच जाएंगे। अपने विचार वे स्पष्ट शब्दों में राघव के समक्ष रख देते हैं। इसके उत्तर में रघुवीर ने उन्हें आश्वस्त किया कि यदि ऐसा हो तो भी किसी भय और हानि की कोई आशंका नहीं है। सुग्रीव प्रभु का इस निश्चिन्तता पर चकित थे। प्रभु के पराक्रम से परिचित होते हुए भी वह लंका के युद्ध की गुरुता को कम करके आंकने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। सुग्रीव को लगा कि वह प्रभु को उनके पूर्व पौरुष का स्मरण करायें। पर प्रभु ने अपनी सामर्थ्य की स्मृति दिलाने के स्थान पर सुग्रीव का ध्यान उस महान् योद्धा की ओर आकृष्ट किया, जिसकी सामर्थ्य से कपिराज अभी तक अपरिचित थे। वह योद्धा लक्ष्मण जी थे। राम को स्वयं से कहीं अधिक आस्था अपने इस भाई पर थी। उसी अविचल आस्था को जिस का पूर्वानुभव उन्हें महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ में हो चुका था, वे सुग्रीव के सामने इन शब्दों में प्रकट कर देते हैं :

जग महँ सखा निसाचर जेते ।
लछिमन हनइ निमिष महँ तेते ॥

यह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा नहीं थी । यह सर्वथा यथार्थ सत्य की घोषणा मात्र थी। वस्तुतः लक्ष्मण ने अपने पूर्ण पौरुष का प्रदर्शन कभी किया ही नहीं। इसके पीछे उनकी आत्मत्याग की भावना ही सक्रिय थी। उन्हें दण्ड की भूमिका प्रिय थी। वे स्वयं की कीर्ति को पताका बना कर फहराने के लिए रंचमात्र उत्सुक नहीं थे। वे प्रभु के आदर्श को ही क्रियान्वित करते हैं। यशकामी व्यक्ति बहुधा सारा यश स्वयं ही ले लेने को व्यग्र हो जाते हैं। किन्तु प्रभु का स्वभाव इसके सर्वथा भिन्न है। वे दूसरों को यश देकर प्रसन्न होते हैं। लंका-विजय का श्रेय बन्दरों को देकर उन्हें अपार प्रसन्नता हुई थी। 'तुम्हरे बल मैं रावन मारयो' कहकर वे बन्दरों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। व्यक्ति ऋण-मुक्त होना चाहता है। पर इसके विपरीत रामभद्र ऋणी रहकर आनन्दित होते हैं। लक्ष्मण के द्वारा समस्त राक्षसों का वध कर दिए जाने पर प्रभु उस ऋणानन्द से वंचित हो जाते। लक्ष्मण अपने प्रभु की प्रसन्नता में ही प्रसन्न होते हैं। सुग्रीव के समक्ष 'लछिमन हनइ निमिष महँ तेते' कहकर वे आत्म-श्लाघा का प्रदर्शन नहीं कर रहे थे। वे तो केवल सुग्रीव की आशंका का निवारण मात्र करना चाहते थे।

महर्षि के यज्ञ की रक्षा के पश्चात् दोनों भाई विश्वामित्र के साथ जनकपुर पधारते हैं। जनकपुर में लक्ष्मण की बहुरंगी भूमिकाओं को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। नगर-दर्शन, पुष्पवाटिका, धनुषयज्ञ और परशुराम से वार्तालाप करते हुए उनके स्वरूप की झांकी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। नगर-दर्शन में उनकी भूमिका एक ऐसे किशोर की है जिसके अन्तःकरण में मिथिलापुरी देखने की उत्कृष्ट आकांक्षा है। पर अपने अनुशासनप्रिय स्वभाव के कारण वे कुछ कहने में संकोच का अनुभव करते हैं। किन्तु राघव उनकी आकांक्षा की पूर्ति के लिए महर्षि से आदेश मांग लेते हैं। महर्षि से उन्होंने यही कहा था कि लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं : 'नाथ लखन पुर देखन चहहीं।' इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे स्वयं को बचाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह उनके स्वभाव के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। यदि वे महर्षि से यह कहते कि 'मैं नगर देखना चाहता हूं' तो यह उनके स्वभाव और शील के अधिक अनुरूप होता। ऐसे अवसरों पर वे बहुधा इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। विभीषण से वार्तालाप करते हुए वे अपने इसी स्वभाव का परिचय देते हैं। प्रभु के मुख से 'लंकेश' शब्द सुनकर विभीषण चौंक पड़े। उन्हें ऐसा लगा जैसे उनकी चोरी पकड़ ली गई। उन्होंने अपने मन की वासना को यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि 'मेरे हृदय में कुछ आकांक्षा अवश्य थी पर आपके चरणों में प्रीति से वह समाप्त हो चुकी है—'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पर प्रीति सहित सो बही ॥' किन्तु रामभद्र ने अपने सखा का संकोच यह कहकर दूर कर दिया कि मैं यह जानता हूं कि आप में इच्छा का सर्वदा अभाव है, पर मैं ही अपने यश की रक्षा के लिए आपसे

राज्य लेने का अनुरोध कर रहा हूं :

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।
मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥

राघव का यह व्यवहार उनके शील के सर्वथा अनुरूप ही था। किन्तु लक्ष्मण के प्रसंग में वे इस शील का परिचय नहीं देते। नगर-दर्शन की लालसा को वे लक्ष्मण में ही आरोपित करते हैं, स्वयं में नहीं। यह लक्ष्मण के प्रति उनके अपनत्व और प्रगाढ़ विश्वास का परिचायक है। पर लक्ष्मण से वे ठीक वही व्यवहार करते हैं जो विष्णु ने शिव के प्रति किया था। समुद्र-मन्थन में विष निकलने पर वे देवताओं को यही सम्मति देते हैं कि इस विष के पान के लिए भगवान शिव से ही अनुरोध किया जाय। यह कार्य बहिरंग दृष्टि से बड़ा अटपटा है। क्रोध के क्षणों में देवर्षि ने इसे विष्णु की स्वार्थपरता के रूप में प्रस्तुत किया था। स्वयं लक्ष्मी और कौस्तुभमणि लेकर शिव से हलाहल-पान का अनुरोध उनकी दृष्टि में कुटिलता की की पराकाष्ठा थी। पर स्वयं जिससे ऐसा व्यवहार किया गया था उसे ऐसा प्रतीत नहीं हुआ। शिव को इसमें अपने प्रति अपनत्व की पराकाष्ठा का दर्शन हुआ था। विष्णु के मन में शिव के प्रति कितनी अविचल आस्था रही होगी, जब वे बिना किसी संकोच के अपने अभिन्न महादेव को विष पीने की प्रेरणा देते हैं। उन्हें पता था कि इस विश्व में सभी अमृत पीना चाहते हैं। एकमात्र परम सुहृद शिव ही विष को प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार कर सकते हैं। ऐसी ही आस्था के केन्द्र राम की दृष्टि में लक्ष्मण हैं। नगर-दर्शन तो एक साधारण-सी घटना थी। इसके बाद भी अनेक ऐसे अवसर आये, जब प्रभु ने लक्ष्मण को अयश का विष पिलाया और लक्ष्मण उसे मुस्कराते हुए पी गये। शिव के कण्ठ की नीलिमा की भांति उनके कलंक की श्यामता भी सहृदय जनों के अन्तःकरण में श्रद्धा का सृजन करती है। धनुषयज्ञ के मण्डप में राजर्षि जनक की आलोचना का कठोर कार्य स्वयं लेकर वे न केवल राघवेन्द्र के शौर्य को ही उजागर करते हैं अपितु लोगों की दृष्टि में उनके धैर्य, गाम्भीर्य और शील की महिमा प्रतिष्ठापित कर देते हैं। लक्ष्मण की तेजस्विता-भरी वाणी सुनकर नगरवासियों को लगा होगा कि बड़े भाई में कैसी गम्भीरता है! छोटा भाई शौर्य सम्पन्न होते हुए भी असहिष्णु है। इस प्रकार असहिष्णुता का अयश लेकर राघवेन्द्र की कीर्ति-पताका को विश्व विश्रुत बना देना समग्र रूप से समर्पित और लोकैषणा शून्य लक्ष्मण के लिए ही सम्भव था। आगे चलकर चाहे लक्ष्मण-परशुराम का संवाद हो या शूर्पणखा का विरूपीकरण या विदेहजा की अग्नि-परीक्षा; लक्ष्मण अयश लेने के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहते हैं। रामभद्र भी आत्मरक्षा के लिए उन्हें आगे कर देने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करते। इस तरह नगर-दर्शन के समय लक्ष्मण के नाम को आगे कर देने का जो क्रम प्रारम्भ हुआ, उसी नन्हें से बीज में लक्ष्मण की महानता का वट वृक्ष समाया हुआ था। रामभद्र के यह कहने पर भी कि लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं, महर्षि ने इसे इसी अर्थ में

नहीं लिया। उन्हें लक्ष्मण के नगर-दर्शन की लालसा के पीछे उनका जीवन-दर्शन दिखाई देता है। उन्हें लगा कि लक्ष्मण मिथिला-भ्रमण के बहाने जनकपुरवासियों को राम के सौन्दर्य का साक्षात्कार कराना चाहते हैं। तात्त्विक अर्थों में वे जीवों के आचार्य पद की भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। मिथिलापुरवासी वेदान्तनिष्ठ हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म निर्गुण-निराकर है। लक्ष्मण ईश्वर के सगुण-साकार रूप का दर्शन कराकर उनकी अपूर्ण विचारधारा को पूर्णता तक पहुंचाना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि आज तक जनकपुरवासियों की दृष्टि में नेत्र का कोई तात्त्विक प्रयोजन नहीं था। पर राघवेन्द्र के सौन्दर्य का साक्षात्कार कर लेने पर उन्हें आंखों की सार्थकता की अनुभूति होगी। इसीलिए महर्षि राघवेन्द्र को नगर-परिभ्रमण का आदेश देते हुए 'करहु सुफल सबके नयन सुन्दर बदन दिखाइ' के द्वारा लक्ष्मण के उद्देश्य का स्पष्टीकरण कर देते हैं। इस सन्दर्भ में मानस का पूरा प्रसंग ही रसमय और सांकेतिक वाक्यों से ओत-प्रोत है :

लखन हृदय लालसा बिसेषी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी।
भगत बछलता हिय हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई।
बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखन पुर देखन चहहीं।
प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं।
नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥
सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती।
कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता।
प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥
जाइ देखि आवहु नगर सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ॥

नगर-दर्शन के बाद दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों भाई महाराज श्री जनक की वाटिका में पुष्प-चयन के लिए जाते हैं। पुष्पवाटिका में लक्ष्मण की भूमिका सर्वथा अनोखी है। सत्य तो यह है कि लक्ष्मण की जो तेजोमयी मूर्ति जनमानस में प्रतिष्ठापित है, उसे दृष्टिगत रखकर विचार करने पर पुष्पवाटिका के लक्ष्मण को पहचानना भी कठिन लगता है। लक्ष्मण सेवा और शौर्य के साकार विग्रह हैं। पर

सुकुमार शृंगार के इस प्रसंग में लक्ष्मण की उपस्थिति हर दृष्टि से अटपटी प्रतीत होती है। एक मित्र अपने मित्र के समक्ष शृंगारिक भावना की चर्चा करे तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, पर बड़े और छोटे भाई के बीच इस प्रकार के वार्तालाप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर जिस अवतार का मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में स्मरण किया जाता हो, उसके द्वारा इस प्रकार का कार्य तो और भी अधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि इस प्रसंग के माध्यम से ही दोनों के सम्बन्धों की असीमता को हृदयंगम किया जा सकता है। लोक-दृष्टि से भले ही उन दोनों का नाता भाई-भाई के रूप में स्वीकार किया जाता हो पर दोनों को किसी सम्बन्ध विशेष की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। 'मोहि तोहि नाते अनेक मानिए जो भावै' की समग्र सार्थकता यहीं चरितार्थ होती है।

पुष्पवाटिका में मैथिली के आभूषणों की ध्वनि राघव के कानों में प्रविष्ट होकर जिस रस का संचार करती है, वही उनके मुख में कविता के बोल बनकर प्रवाहित होती है। कवि को श्रोता चाहिए। यही अपेक्षा राघव को भी थी। पर श्रोता ढूंढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं थी। लक्ष्मण से बढ़कर इसका कोई अन्य उपयुक्त पात्र उन्हें प्रतीत नहीं हुआ। प्रभु को प्रतीत हो रहा था जैसे काम विश्वविजय का संकल्प लेकर वाद्य बजाता हुआ आक्रमण के लिए आ रहा है। अपने इस मनोभाव को वे लक्ष्मण के समक्ष रख देते हैं :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

इस कविता को सुनकर श्रोता पर पड़ने वाली प्रतिक्रिया का कोई उल्लेख मानस में नहीं किया गया। कवि के लिए इससे अधिक निराशा की कोई बात नहीं हो सकती कि उसके काव्य-पाठ का श्रोता की ओर से अभिनन्दन न हो। फिर यह तो रामभद्र के जीवन का प्रथम काव्य था। क्या लक्ष्मण का मौन उनकी अरसिकता का परिचायक नहीं था। यहीं नहीं पूरे पुष्पवाटिका-प्रसंग में वे ऐसा मौन व्रत ले लेते हैं जो रामभद्र के द्वारा बार-बार सम्बोधित किये जाने पर भी नहीं टूटता। धनुषयज्ञ में अपनी गर्जना से ब्रह्माण्ड को कंपा देने वाला पुष्पवाटिका में चुप क्यों है। यह जिज्ञासा अस्वाभाविक नहीं है। अन्तरंग में बैठ कर विचार करने पर लक्ष्मण के व्यक्तित्व का ऐसा पक्ष सामने आता है जो सर्वथा अनुपमेय है। वे एक साथ दो विरोधी प्रकार की भूमिकाएं सम्पन्न कर रहे हैं।

एक रसिकता के साथ रस के भोक्तापन की आकांक्षा के अभाव की स्थिति कल्पनातीत प्रतीत होती है। सौन्दर्य की कमनीय मूर्ति का वर्णन सुनते हुए व्यक्ति के मन का रससिक्त हो जाना स्वाभाविक है। पर कितनी कठिन भूमिका है लक्ष्मण की। आभूषणों के रुन-झुन में राघव को जो कामवाद्य सुनाई देता है, क्या लक्ष्मण

स्वयं को उस मनोमयी भूमिका से एकाकार कर सकते हैं। इतना ही नहीं, मिथिलेशनन्दिनी की दिव्य सौन्दर्य राशि को सामने देखकर कौशलेन्द्र पुनः लक्ष्मण का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट करते हुए उनका परिचय देते हैं। क्या जनकनन्दिनी के अनुपम रूप को लक्ष्मण ने दृष्टि उठाकर देखा ? उनके अन्तःकरण पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका कोई स्पष्ट संकेत गोस्वामी जी नहीं देते हैं किन्तु लक्ष्मण के दिव्य चरित्र पर दृष्टि रखने वाला अध्येता यह समझ सकता है कि वे एक साथ रस के अनुभविता और उससे पूरी तरह असंपृक्त भी हैं। राघव का सुख ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। अतः उनके अनुराग में आनन्दित होना उनके लिए स्वाभाविक है। पर वे एक ऐसे रसिक भ्रमर की भांति हैं जो राम-पद-पद्म-मकरन्द का ही पान करता है; जिसके लिए शृंगार रस चम्पकवाटिका के सामान है। अतः वह स्वतः इस रस के भोक्ता नहीं बन सकते। इस पृष्ठभूमि में कौशलेन्द्र द्वारा शृंगारमयी कविता को सुनकर उनका मौन रह जाना स्वाभाविक ही है।

इस मौन के माध्यम से वे भी राघव की दिव्य रसानुभूति में सहायक ही बनते हैं। कवि काव्य के माध्यम से रस का वितरण करता है, अतः उसे रसिक श्रोता की अपेक्षा है। विविध प्रकार के व्यंजनों को परोसता हुआ गृहपति यह आशा कर सकता है कि भोजन करने वाला स्वाद की सराहना करेगा, यही स्थिति कवि की भी है। पर यहां कोशल किशोर की स्थिति भिन्न प्रकार की है। वे एक ऐसे कवि के समान हैं जो स्वतः रसास्वादन करता हुआ उत्साहपूर्वक दूसरे को भी स्वाद की सराहना सुनाने में संलग्न हो गया हो। स्वभावतः सराहना के क्षणों में वह कुछ क्षणों के लिए व्यंजन की रसानुभूति से दूर हो जाता है। वह पूरी तरह से रसास्वादन तभी कर सकता है, जब वह पूरी तरह मौन होकर स्वाद की अनुभूति में डूब सके। लक्ष्मण को लगता है, उनकी उपस्थिति का भान ही राघव को स्नेह और सौन्दर्य में तदाकार होने में बाधक बन रहा है। उनका कान आभूषणों की ध्वनि में लगा हुआ है तो वाणी के माध्यम से वे लक्ष्मण की ओर उन्मुख हैं। लक्ष्मण इसके इस द्वैत को ही अपने मौन के द्वारा दूर करने का प्रयास करते हैं। आभूषणों की ध्वनि के बाद भी यह द्वैत दूर नहीं हुआ। मैथिली के सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए भी वे लक्ष्मण से 'बतकही' करते रहे :

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छबि करइ मधुप इव पान॥

पर इसके बाद ही लक्ष्मण के मौन से 'बतकही' का क्रम समाप्त हो जाता है और प्रभु पूरी तरह सौन्दर्य-रसपान में संलग्न हो जाते हैं। इसके पश्चात् विदेहजा की मूर्ति को अपने चित्त फलक पर अंकित करते हैं। मन ही मन उनके सौन्दर्य की सराहना करते हैं। फिर तो राघव की यह अन्तर्मुखता का क्रम पूरे दिन चलता रहा। सायंकाल सन्ध्या के लिए नदी-तट पर पहुंचकर भी वे मैथिली की ही मनोज्ञ मूर्ति के चिन्तन में तल्लीन रहे। पूर्णचन्द्र को उदित देखकर वे उसकी तुलना

मैथिली के मुख से करने लगे। पर बाद में उन्हें लगा कि यह बेचारा दोषयुक्त चन्द्रमा उस दिव्य मुख चन्द्र की तुलना नहीं कर सकता। उस समय वे चन्द्रमा के दोषों की लम्बी सूची प्रस्तुत करते हैं :

बिगत दिवसु गुरु आयसु पाई।
संध्या करन चले दोउ भाई॥
प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा।
सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।
ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।
अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे।
होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे॥

पर यह सारी कविता अन्तर हृदय में ही चलती रही। पुष्पवाटिका के समान लक्ष्मण को श्रोता बनाने की चेष्टा नहीं की गई। लक्ष्मण साथ रह कर भी ऐसे एकांत की सृष्टि कर देते हैं जिनमें उनकी उपस्थिति का भान रसपान में अंतराल उपस्थित न करे। साधारणतया व्यक्ति की अभिलाषा होती है कि वह जिसके साथ हो वह उसकी उपस्थिति स्वीकार करता हुआ बार-बार उसकी ओर उन्मुख हो। ऐसी स्थिति में एक शिष्ट व्यक्ति बुद्धिपूर्वक ऐसा व्यवहार करता है जिससे सामने वाले को उपेक्षा का भान न हो। पर लक्ष्मण इस सहज मानवीय प्रवृत्ति के अपवाद हैं। वे चाहते हैं कि उनकी उपस्थिति या स्मृति प्रभु के दिव्य रसास्वादन में अन्तराल न बने।

उनके इस मौन से उदासीनता या अश्रद्धा का अर्थ भी तो लिया जा सकता है। किन्तु लताकुंज से निकलते हुए श्री राम के सौन्दर्य का दिव्य-चित्र कुछ और ही कहानी कह रहा है। पुष्प-चयन के लिए राघव सहज भाव से ही वाटिका में चले आए थे पर इस समय तो उनकी घुंघराली अलकों में कुसुमकलियों का श्रृंगार है, बीच में म्यूरपिच्छ सुशोभित हो रहा था। दूल्हे का यह श्रृंगार लक्ष्मण के द्वारा ही किया गया था। राघव के मन की अनुरागमयी आस्था का परिचय पाते ही उन्हें लगा कि वास्तविक विवाह तो इस वाटिका में ही होने जा रहा है। अतः वे प्रभु से लताकुंज में चलने का संकेत करते हैं, और वाटिका से उन्होंने जिन कुसुमकलियों का चयन किया था उन्हें उनके मस्तक पर सजा देते हैं। वाटिका में कुछ क्षण पहले मत्त मयूर का नर्तन हुआ था। उसके गिरे हुए पिच्छ को सौमित्र ने उठा लिया था। वही

मयूरपंख प्रभु के मस्तक पर सुशोभित हो रहा है। श्रृंगार समाप्त होते ही लताकुंज से राघव प्रकट हो जाते हैं। यह श्रृंगार मैथिली की सखियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहता। उन्होंने इस श्रृंगार में प्रीति के छिपे हुए संदेश को पढ़ लिया था। इस श्रृंगार में मिथिलेशनन्दिनी के प्रति राघव की प्रगाढ़ प्रीति का परिचय था। स्वर्णरत्न के मुकुट का स्थान वाटिका के पुष्प और मयूरपंख ने ले लिया था। यह वाटिका विदेहजा की विहार वाटिका है। इसके मयूर उनके कर पल्लवों के द्वारा लालित किये जाने का सौभाग्य प्राप्त करते ही रहते हैं। पुष्पपादकों को भी उनके कोमल कर-स्पर्श का सुख बहुधा प्राप्त होता रहा है। इन पुष्पकलियों और मयूरपिच्छ को प्रभु के मस्तक पर पहुंचाकर लक्ष्मण ने जो संकेत किया था, उसे सयानी सखियों ने तत्काल पहचान लिया। उन्हें अपनी स्वामिनी के सौभाग्य पर गर्व हुआ। उन्हें लगा कि जब प्रिया के इन पदार्थों को मस्तक पर स्थान दिया गया है, तब हमारी स्वामिनी को कहां स्थान दिया जाएगा। उन्हें लगा कि राघव प्रथम दर्शन में ही इन्हें अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित कर चुके हैं, अतः इस सांकेतिक श्रृंगार की ओर वे अपनी स्वामिनी का ध्यान आकृष्ट करती हुई सर्वप्रथम मयूरपंख और पुष्पकलिकाओं की ओर देखने का अनुरोध करती हैं :

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥
सोभा सीयँ सुभग दोउ बीरा।
नील पीत जल जाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए।
श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूघर वारे।
नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला।
हास बिलास लेत मनु मोला॥
सुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं।
जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मनिमाल कंबु कल गीवा।
काम कलभ कर भुज बल सींवा॥
सुमन समेत बाम कर दोना।
सावँर कुअँर सखी सुठि लोना॥
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

धरि धीरजु एक आलि सयानी।
सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
भूप किसोर देखि किन लेहू॥

निरन्तर शौर्य और तेजस्विता की भाषा बोलने वाले लक्ष्मण शृंगार और माधुर्य के इतने सुकुमार कवि भी हो सकते हैं; क्या इसकी कल्पना कर पाना सरल है। मौन में वे कितना कुछ कह सकते हैं, इसका सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत पुष्पवाटिका का यह प्रसंग है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में उनका स्वरूप पूरी तरह बदला हुआ है। धनुष को लेकर कोई अनिश्चय या आशंका उनके मन में नहीं है। यद्यपि पुष्पवाटिका में अपनी मन:स्थिति को लेकर राम कुछ अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त दिखाई देते हैं। उन्हें अपना व्यवहार कुछ लीक से हटकर होता हुआ प्रतीत होता है। अपनी इस मन:स्थिति का वर्णन लक्ष्मण से करते हुए वे यह भी कहते हैं कि मुझे अपने कार्य में अनौचित्य दिखाई देता है। पर दूसरी ओर शुभसूचक अंग फड़क कर कुछ और ही कहते हुए से प्रतीत होते हैं। अन्त में अनिश्चय की स्थिति में उनका ध्यान सृष्टि नियामक ब्रह्मा की ओर जाता है। वे कह उठते हैं, "सही कारण तो ब्रह्मा ही जानता होगा।"

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥
तात जनकतनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥

धनुषयज्ञ में पधारने का आमंत्रण मिलने पर महर्षि राघव से 'सीय स्वयंबर देखिय जाई' का अनुरोध करते हैं। उन्हें लगता है पता नहीं भगवान् शिव किसे धनुर्भंग का श्रेय देना चाहते हैं। 'ईस काहि धौं देह बड़ाई' में उनका मनोभाव स्पष्ट है। पर लक्ष्मण ब्रह्मा या शिव पर निर्णय का भार छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। न उनके मन में कोई अन्तंद्वन्द्व है और न संशय। उनके लिए अपने प्रभु का अन्त:करण ही सबसे बड़ा प्रमाण है। उनकी दृष्टि में धनुष का टूटना अवश्यम्भावी है, और यह कार्य प्रभु के द्वारा ही सम्पन्न होगा, इसमें उन्हें कोई भ्रम नहीं है। इसलिए राघव के द्वारा सूर्योदय के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट किए जाने पर वे अरुणोदय के बहाने धनुर्भंग का ही रूपक प्रस्तुत करते हैं। महर्षि के द्वारा 'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' कहे जाने पर वे तत्काल बोल पड़ते हैं—यश का भाजन तो वही होगा जिस

पर आपकी कृपा होगी :

सीय स्वयंबर देखिय जाई।
ईस काहि धौं देइ बड़ाई॥
लखन कहा जस भाजन सोई।
नाथ कृपा तव जा पर होई॥

धनुषयज्ञ में लक्ष्मण का तेजस्वी और मुखर रूप सामने आता है। यद्यपि वे वहां प्रारम्भ में पूरी तरह उदासीन और मौन दिखाई देते हैं। जनक के बन्दीजनों के द्वारा की जाने वाली घोषणा पर उनमें किसी प्रतिक्रिया का उदय नहीं होता। राजाओं के द्वारा किए गए प्रयासों को वे तिरस्कार और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी नाट्यमंच पर स्तुतीकरण की कला में निपुण आचार्य की भांति इसे भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि वे यह भलीभांति जानते थे कि समस्त राजाओं के पराजित होने के बाद प्रभु के द्वारा धनुभंग होने पर ही उपस्थित जनसमूह राघव के गौरव की गरिमा हृदयंगम कर सकेगा। किन्तु राजाओं की असफलता के बाद जनक की निराशाभरी वाणी से वे विक्षुब्ध हो उठे। क्योंकि महाराज जनक के स्वर में उन्हें घोर अनौचित्य का अनुभव हो रहा था। जनक ने आक्रोश-भरे स्वर में राजाओं की पौरुषहीनता की निन्दा करते हुए कहा था कि "यदि मुझे यह ज्ञात होता कि पृथ्वी वीरों से शून्य हो चुकी है तो प्रतिज्ञा के द्वारा मैं उपहास का पात्र न बनता।" इतना ही नहीं वे राजाओं से तिरस्कारपूर्वक चले जाने के लिए कहते हैं। धनुष न तोड़ पाने के बाद भी राजा अपने स्थानों पर बैठे हुए थे। जनक को लगा इन पराजित राजाओं के मन में अब भी आशा की किरण विद्यमान है, सोचते होंगे कि किसी के द्वारा धनुष न टूट पाने पर जनक अपनी कन्या का विवाह किसी न किसी से तो करेंगे ही। उनकी इस दुराशा पर प्रहार करते हुए महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि कन्या का कौमार्य अत्यन्त दुखदाई है पर वे किसी भी स्थिति में सत्य का परित्याग नहीं करेंगे। इस तरह उनकी वाणी में निराशा, आक्रोश और अनादर का मिला-जुला स्वर विद्यमान था :

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने।
बोले बचन रोष जनु साने॥
दीप दीप के भूपति नाना।
आए सुनि हम जो पन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा।
बिपुल बीर आए रनधीरा॥
कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥
कहहु काहि यहु लाभ न भावा।
काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥

रहउ चढ़ाउब तोरब भाई।
तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई॥
अब जनि कोउ भाखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पन करि होतेउँ न हँसाई॥
जनक बचन सुनि सब नर नारी।
देखि जानकिहि भए दुखारी॥

महाराज जनक की वाणी से लक्ष्मण का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। व्यावहारिक या पारमार्थिक किसी भी दृष्टि से उन्हें विदेह की वाणी में औचित्य की प्रतीति नहीं हुई। जनक एक महान् तत्त्ववेत्ता के रूप में विश्वविख्यात थे, किन्तु लक्ष्मण को उनकी वाणी में उसकी कोई झलक नहीं दिखाई दी। उन्हें लगा कि व्यावहारिक दृष्टि से यह रघुवंश-परम्परा का अनादर है। साधारण आहूत अतिथि से भी यह कहना कि 'अपने घर वापस जाओ' अपमान की पराकाष्ठा है। फिर महर्षि विश्वामित्र के साथ आये रघुवंश-शिरोमणि रामभद्र के सभा में होते हुए इस तरह के वाक्य का प्रयोग अशिष्टता की पराकाष्ठा है। पारमार्थिक दृष्टि से लक्ष्मण को यह अविवेक की सीमा जैसा प्रतीत होता है। प्रथम दृष्टि में ही विदेह को ऐसा प्रतीत हुआ था कि राम साक्षात् ब्रह्म हैं। जनक के इस विवेक से रामानुज भी प्रभावित हुए थे। उन्हें लगा कि एक ही क्षण में ईश्वर को पहचान लेने वाला वैदेही को इतने वर्षों में न पहचान पाया हो, ऐसा कैसे सम्भव है? और यदि वे दोनों के स्वरूप से परिचित हैं तो निराशा और चिन्ता का प्रश्न ही कहां है? फिर तो उन्हें स्वयं प्रभु से यह कहना चाहिए था कि आप कृपा करके धनुभंग के माध्यम से मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करें।

ऐसी स्थिति में लक्ष्मण ने जिस आवेश-भरी वाणी में जनक की आलोचना की, उसके औचित्य को लेकर कभी-कभी कुछ लोगों के द्वारा प्रश्नचिह्न लगाया जाता है, और फिर भाषण का उत्तरार्ध तो अत्यन्त अमर्यादित-सा प्रतीत होता है। यदि रामानुज के वाक्यों को केवल बहिरंग अर्थों में लें, तो यह आरोप असंदिग्ध रूप से यथार्थ प्रतीत होता है। पर पूरे प्रसंग के अन्तरंग में प्रविष्ट होकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यही एक ऐसा प्रसंग है जहां उनकी आवेश और ओजभरी वाणी ने महर्षि विश्वामित्र और साक्षात् प्रभु राम को भी पुलकित कर दिया। और वह पुलक भी केवल एक बार नहीं हुआ। मुनि-मण्डली से लेकर श्री रामभद्र तक

बार-बार रोमांचित होते हुए आनन्दातिरेक का अनुभव करते हैं। "गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुद्रित भए पुनि पुनि पुलकाहीं॥" में गोस्वामी जी ने इसी विलक्षण मनःस्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। और इस से भी अधिक आश्चर्य यह देखकर होता कि इस वाणी से जिन लोगों को सर्वाधिक प्रसन्नता की अनुभूति हुई उनमें मिथिलेशनन्दिनी का स्थान सर्वप्रथम है। जबकि जहां तक वाक्यों के बहिरंग तात्पर्य का सम्बन्ध है, इसमें सबसे अधिक आघात उन्हीं को लगना चाहिए था क्योंकि सौमित्र अपने भाषण के उत्तरार्ध में प्रभु से धनुर्भंग का आदेश मांगते हुए दिखाई देते हैं। अतः मैथिली के लिए इससे अधिक पीड़ा की क्या बात हो सकती है कि रामभद्र और वैदेही के दिव्यानुराग से परिचित होते हुए भी लक्ष्मण स्वयं धनुर्भंग के लिए प्रस्तुत दिखाई देते हैं। पर इसकी जो प्रतिक्रिया मैथिली, प्रभु महर्षि विश्वामित्र पर हुई उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सबके मन में अन्तरंग अर्थ और उद्देश्य का ही उदय होता है जिससे प्रेरित होकर सौमित्र इस प्रकार की वाक्यावली का प्रयोग करते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि लक्ष्मण के अन्तरंग में कहीं कामना की छाया भी होती तो वे इससे पहले धनुर्भंग के लिए चल पड़े होते और इस समय भी इसके लिए प्रभु से आदेश लेने की आवश्यकता कहां थी। जनक की प्रतिज्ञा का द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला हुआ था। वे उठकर धनुर्भंग के माध्यम से यह कार्य सम्पन्न कर सकते थे। पर वैराग्य के घनीभूत स्वरूप लक्ष्मण की निष्कामता का कहना ही क्या ? सत्य तो यह है कि इस प्रसंग में लक्ष्मण की भूमिका इतनी विरोधाभासी है कि साधारण व्यक्ति का भ्रमित होना ही स्वाभाविक है। बाहर से यह तेजस्वी असहिष्णु राजकुमार की ओजभरी वाणी प्रतीत होती है। पर इसके अन्तरंग में अविचलित, धीर-गम्भीर दार्शनिक बोल रहा था। जिसके ज्ञान के समक्ष विश्व का सबसे बड़ा ज्ञानी प्रतिहत हो जाता है। लक्ष्मण की दृष्टि में धनुर्भंग और प्रभु तथा मैथिली के विवाह का कहीं कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वे यह भली भांति जानते हैं कि इनका विवाह शाश्वत सत्य है। वह होना नहीं है, अपितु हो चुका है। उन्हें तो चिर-दम्पति को लेकर तत्वज्ञ जनक की चिन्ता को देखकर ही आश्चर्य होता है। उन्हें लगा कि वस्तुतः धनुर्भंग से भी अधिक आवश्यक है महाराज जनक का भ्रमभंग। और वे इन वाक्यों के द्वारा उनकी भ्रान्ति पर ही प्रहार करते हैं। वस्तुतः प्रभु से आदेश लेने का तात्पर्य भी यही था कि अब तक धनुर्भंग के मूल में जनक की यह प्रतिज्ञा थी और वे अब अपनी ओर से यह आयोजन समाप्त कर चुके हैं—'तजहु आस निज निज गृह जाहू' में यह घोषणा हो चुकी है। जिनके मन में उस प्रतिज्ञा के परिणाम का प्रलोभन था वे भी प्रयास कर चुके। किन्तु अब जनक की इस भ्रान्ति का निवारण हो जाना चाहिए कि पृथ्वी वीरों से शून्य हो चुकी है। इससे उनकी इस मान्यता का भी खण्डन हो जायेगा कि कोई ऐसा व्यक्ति हो ही नहीं सकता कि जिनके मन में मैथिली के सौन्दर्य और विश्वविजय का प्रलोभन न हो। इसका तात्पर्य यही है कि

वैराग्य और समर्पण केवल उन्हीं के चरित्र का गुण नहीं है। प्रभु के आश्रित भक्तों में वह सहज रूप से विद्यमान रहता है। इसीलिए वे धनुर्भंग के लिए जनक से आदेश न मांगकर प्रभु से आज्ञा की याचना करते हैं। इसके साथ वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस धनुर्भंग में भी उनका बल या पुरुषार्थ नहीं होगा। वे तो केवल प्रभु-प्रताप के प्रकटीकरण के माध्यम होंगे :

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बाम।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहि समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू।
कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुशासन पावौं।
कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना।
को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ।
कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

'तव प्रताप बल नाथ' के द्वारा लक्ष्मण श्री रामभद्र के ईश्वरीय रूप की ओर इंगित करते हैं। उनके भाषण का प्रारम्भ जिन वाक्यों से हुआ था, उससे यह प्रतीत हो रहा था कि वे रघुवंश के अनादर से क्षुब्ध हैं और प्रभु उनके लिए रघुकुलमणि हैं। 'विद्यमान रघुकुल मनि जानी' से यही प्रतीत होता है। पर अन्त में वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यदि रामभद्र केवल रघुवंश शिरोमणि होते तो भी जनक की वाणी अनौचित्यपूर्ण मानी जाती, पर वे तो साक्षात् ईश्वर हैं और उनके प्रताप और बल का आश्रय लेने वाला भी धनुर्भंग जैसा कार्य कर सकता है, फिर स्वयं उनके विषय में तो कहना ही क्या ? इस तरह अपने भाषण के द्वारा लक्ष्मण धनुर्भंग के सारे प्रसंग को ही भिन्न धरातल पर खड़ा कर देते हैं। वे जिस भूमिका में खड़े होकर बोल रहे थे, उनके समक्ष जनक जैसा तत्त्वज्ञ भी अल्पज्ञ जैसा प्रतीत हो रहा था।

लक्ष्मण की इस ऊंचाई को देखकर ही मैथिली, रामभद्र और महर्षि गद्गद् हो उठे थे।

उनका उद्देश्य धनुभंग न होकर जनक के भ्रम का निवारण था। वे प्रभु के द्वारा धनुभंग की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत कर देते हैं। उन्हें यह ज्ञात था कि जनक की प्रतिज्ञा और उनका भाषण ही प्रभु के द्वारा धनुभंग में सबसे बड़ी बाधा है। जब वे यह घोषणा करते हैं कि धनुभंग के द्वारा अतुलनीय कीर्ति प्राप्त होगी, तब इस वाक्य से उन्हीं को प्रेरणा प्राप्त हो सकती है जो कीर्तिकामी हैं। प्रभु में कीर्ति की कामना का प्रश्न ही कहां है? जनक की प्रतिज्ञा में दूसरा प्रलोभन मैथिली की उपलब्धि का था। उसका भी श्री राम के लिए कोई अर्थ नहीं था क्योंकि भगवती सीता तो उनकी अभिन्न शक्ति ही हैं। इस तरह जनक की प्रतिज्ञा में कोई ऐसा वाक्य नहीं था जो प्रभु को धनुभंग के लिए प्रेरित कर पाता। लक्ष्मण के इस भाषण ने स्वयंवर की सारी पृष्ठभूमि को ही परिवर्तित कर दिया। महर्षि विश्वामित्र ने उचित समय देखकर प्रभु राम से धनुष तोड़ने का अनुरोध किया पर इसका उद्देश्य मैथिली या कीर्ति की उपलब्धि न होकर जनक के शोक का निवारण करना था, और वह उन्होंने कर दिया :

बिस्वामित्र समय सुभ जानी।
बोले अति सनेहमय बानी॥
उठहु राम भंजहु भव चापू।
मेटहु तात जनक परितापू॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मण का उद्देश्य अपने आक्रोश और शौर्य का प्रदर्शन करना न होकर धनुभंग के धरातल को स्वयंवर सभा के स्थान पर महाशक्ति और ब्रह्म के एकत्व के दर्शन तक पहुंचाना था। वस्तुतः उनकी दृष्टि से धनुष एक सघन अन्धकार था। अन्धकार में वस्तु और पदार्थ अपने वास्तविक रूप में दिखाई नहीं देते। सीता-राम शाश्वत रूप में एक-दूसरे से मिलित हैं पर इस अन्धकार के कारण उनका वास्तविक स्वरूप जनक और दूसरों की दृष्टि से ओझल था। श्री राम के द्वारा धनुभंग के माध्यम से सूर्योदय हुआ और जनक इस दिव्य प्रकाश में मैथिली और राघव के स्वरूप का साक्षात्कार कर सके।

धनुभंग के पश्चात् परशुराम का आगमन होता है। इस प्रसंग में लक्ष्मणजी की भूमिका अत्यन्त कठिन थी। उनके वार्तालाप से परशुराम का विक्षुब्ध होना तो स्वाभाविक ही था। पर यह एक ऐसा अवसर था, जब लक्ष्मण के प्रशंसक भी विचलित होकर उनकी आलोचना करने लग जाते हैं। जनकपुरवासियों से लेकर जनक तक इस अवसर पर भयभीत और असन्तुष्ट होकर कह उठते हैं, 'छोट कुमार खोट बड़ भारी।' अभी-अभी कृतज्ञता का ज्ञापन करने वाले जनक तो राघवेन्द्र से अनुरोध करते हैं कि वे लक्ष्मण को इस अनौचित्यपूर्ण कार्य से विरत करें :

बोलत लखनहिं जनक डेराहीं।
मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं॥

इतना ही नहीं लोकमत का सम्मान करने वाले राघवेन्द्र भी लक्ष्मण को 'नयन

तरेर' कर देखते हुए दिखाई देते हैं। इस तरह छोटों से लेकर बड़ों तक सारा समाज जहां आलोचक बन जाय, वहां अपने मत पर अन्त तक डटे रहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। पर शेषावतार लक्ष्मण सचमुच ही अपनी धारणा पर अडिग रहे। वे प्रशंसा और निन्दा से पूरी तरह ऊपर उठ चुके थे। उन्होंने वही किया जो उनकी दृष्टि में परशुराम सहित सारे समाज के लिए कल्याणकारी था। इसका परिणाम आश्चर्यजनक रूप में सामने आया। उनके सबसे प्रखर आलोचक परशुराम ही उनके सबसे बड़े प्रशंसक बन गये। अपनी पराजय को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हुए वे श्रीराम के साथ-साथ लक्ष्मण से भी क्षमा-याचना करते हैं। उस समय वे इन दोनों भाइयों को जो उपाधि देते हैं वह राघव के लिए तो सार्थक प्रतीत होती है पर ऐसा लगता है कि कम से कम लक्ष्मण के लिए वह यथार्थ नहीं है। वे कहते हैं 'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता, क्षमहु क्षमा मंदिर दोउ भ्राता।' राघव के साथ लक्ष्मण को भी 'क्षमा मंदिर' कहना बड़ा अटपटा प्रतीत होता है। लक्ष्मण के चरित्र में अनेक विलक्षण गुण विद्यमान हैं। पर वे क्षमाशील हैं, इसे सम्भवतः किसी के लिए स्वीकार कर पाना कठिन है। और फिर इस प्रसंग में तो उनका व्यवहार 'क्षमा-शीलता' के स्थान पर 'ईंट का उत्तर पत्थर से' के प्रहार के रूप में दिखाई देता है। पर परशुराम जैसा असहिष्णु और प्रखर आलोचक उनमें क्षमा का दर्शन करता है, तो उसे सरलता से नकारा भी तो नहीं जा सकता। इस प्रसंग में उनके द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला ''क्षमा मंदिर' शब्द बड़ा ही सार्थक और सोद्देश्य प्रतीत होता है। मंदिर के दो भाग हैं : एक वह जो हमारी दृष्टि के समक्ष होता है जहां देवता की मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती है। पर उसका एक भाग वह है जो हमारी दृष्टि से ओझल होता है, वह है 'मंदिर की नींव'। मंदिर के सारे सौंदर्य और स्थिरता का भार इसी नींव पर आधारित है। रामभद्र यदि 'क्षमा मंदिर' के ऊर्ध्व भाग हैं तो लक्ष्मण उसकी नींव हैं। राघव की क्षमाशीलता प्रत्यक्ष दिखाई देती है पर लक्ष्मण की अगोचर क्षमाशीलता का दर्शन करने के लिए अन्तरंग में पैठना होगा। परशुराम-लक्ष्मण संवाद के स्वरूप को हृदयंगम करते समय इस 'क्षमा-मंदिर' शब्द को ध्यान में रखना होगा। वस्तुतः इस सारे प्रसंग में रामानुज का व्यवहार क्षमा की भावना पर आधारित है। उनकी यह क्षमाशीलता धनुषयज्ञ में उपस्थित राजाओं से लेकर परशुराम तक सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी थी। वस्तुतः इस रहस्य को हृदयंगम करने के लिए परशुराम के आगमन की पृष्ठभूमि पर विचार करना होगा।

धनुभंग के पश्चात् भी आगत राजा इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। दस हजार राजा मिलकर भी जिस धनुष को उठाने तक में असमर्थ रहे, उसे एक किशोर-अवस्था का राजकुमार सहज उठाकर तोड़ डाले, यह उनकी दृष्टि में विश्वास योग्य बात नहीं थी। अवश्य इसके पीछे कोई ऐन्द्रजालिक षड्-यन्त्र होगा, ऐसी उनकी धारणा थी। अतः वे इस निर्णय को मानने के लिए प्रस्तुत

नहीं थे। उन्होंने निर्णय कर लिया कि वे युद्ध में इस राजकुमार के पौरुष की परीक्षा करेंगे। उनका विश्वास था कि वे इन दोनों राजकुमारों को पराजित करने में सफल होंगे। वे शस्त्र सन्नद्ध हो जाते हैं। राघव इन राजाओं की सारी चेष्टाओं की ओर से उदासीन थे, क्योंकि उस समय वे मैथिली के सौन्दर्य, शील और स्नेह के चिन्तन में डूबे हुए थे। 'राम सुभाय चले गुरु पाहीं, सिय सनेह बरनत मन माहीं' में गोस्वामी जी ने उनकी मनःस्थिति का चित्र अंकित किया है। पर लक्ष्मण जागरूक हैं, वे इन राजाओं की चेष्टा देखते हैं और तब उनके समक्ष जटिल समस्या आ गई। इन राजाओं को विनष्ट कर देना उनके बाएं हाथ का खेल था। पर क्या इस मधुमयी मंगल वेला में यह उपयुक्त होगा? क्या प्रभु के पाणिग्रहण के पावन प्रसंग में अगणित ललनाओं को सौभाग्य से वंचित किया जाना चाहिए। क्या विधवा नारियों का करुण-क्रन्दन प्रभु को व्यथित नहीं बना देगा? क्या यह उनके आदर्श और उनकी मर्यादा के अनुकूल होगा? उन्हें ज्ञात था कि यह सब प्रभु की कीर्ति कौमुदी को धूमिल बना देगा। ऐसी स्थिति में वे इन राजाओं को 'अरुन नयन भृकुटी कुटिल' के माध्यम से रोकना चाहते हैं :

तब सिय देखि भूप अभिलाषे।
कूर कपूत मूढ़ मन माखे॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे।
जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥
लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।
धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरें धनुष चाह नहि सरई।
जीवत हमहि कुअँरि को बरई॥
जौं बिदेहु कछु करें सहाई।
जीतहु समर सहित दोउ भाई॥

× × × ×

रानिन्ह सहित सोचबस सीया।
अब धौं बिधिहि काह करनीया॥
भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।
लखनु राम डर बोल न सकहीं॥

अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंघकिसोरहि चोप॥

इस अरुणिमा से राजा कुछ सहमते अवश्य हैं पर इतने ही मात्र से इन्हें रोक पाना कठिन था। इसी अवसर पर भृगुकुल-पतंग परशुराम का आगमन होता है। रामानुज को उनका आगमन वरदान जैसा प्रतीत हुआ क्योंकि युद्ध के लिए सन्नद्ध राजा पौरुष के पुंजीभूत रूप परशुराम को देखते ही सारी युद्ध की योजना को भूल-

कर अस्त-व्यस्त हो उठते हैं। परशुराम के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए वे क्षमा-याचना करने लग जाते हैं। लक्ष्मण को लगा कि इस शुभ अवसर का लाभ उठाना चाहिए। भगवान परशुराम के चरणों में नत होने में उन्हें कोई आपत्ति न थी। वे बड़े ही आदरभाव से उनके चरणों में प्रणत होते हैं। पर जब दोनों रामों का संवाद प्रारम्भ होता है तब वे सावधान हो जाते हैं। एक ओर थी शील-सिन्धु रामभद्र की विनम्रता-भरी वाणी और दूसरी ओर था आक्रोश और दर्प का स्वर। इसकी अन्तिम परिणति क्या होगी, इसका समझना रामानुज के लिए कठिन नहीं था। वे जानते थे कि राघव की विनम्रता से परशुराम का अहं सन्तुष्ट हो जायगा। अन्त में वे अपने औदार्य का परिचय देते हुए राघव से यही तो कहेंगे कि मैं तुम्हारी नम्रता के सन्तुष्ट होकर तुम्हें अभय दान देता हूं। और तब इसका प्रभाव उपस्थित राजाओं पर यही पड़ेगा कि राम भी हमीं लोगों की भांति परशुराम से भयभीत हैं। इसका परिणाम यह होगा कि परशुराम के जाते ही इनका युद्धोत्साह फिर उमड़ पड़ेगा, और इस युद्ध का वही अनर्थकारी फल होगा जो उन्हें अभीष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में परशुराम की पराजय न केवल उनके लिए अपितु इन मूढ़ताग्रस्त राजाओं के लिए भी कल्याणकारी है। इसलिए साधारण शिष्टाचार के प्रतिकूल होते हुए भी वे प्रभु और परशुराम के वार्तालाप में हस्तक्षेप करते हैं। इस हस्तक्षेप में उनके दो ही उद्देश्य थे। और उनकी कल्पना के अनुकूल वे पूरे हुए। इसीलिए परशुराम के आक्षेप-भरे वाक्यों का उत्तर व्यंग्यात्मक शैली में देते हुए भी वह इस बातचीत को युद्ध में परिणत नहीं होने देते। इस प्रसंग में उनके असीम धैर्य और क्षमाशीलता का परिचय प्राप्त होता है। परशुराम न्याय और दण्ड में विश्वास रखते हैं, क्षमाशीलता पर उनकी आस्था नहीं है। उन्होंने कुछ क्षत्रियों के अपराध पर निर्मम होकर सारी क्षत्रिय जाति को बार-बार दण्डित किया था। इस बातचीत में भी वे बड़े गर्व से अपने 'क्षत्रियकुल द्रोही' होने की घोषणा करते हैं। लक्ष्मण के लिए 'सठ', 'निरंकुश', 'अबुध' जैसे न जाने कितने शब्दों का प्रयोग करते हैं, और युद्ध की चुनौती देते हैं। लक्ष्मण शस्त्र द्वारा उत्तर देने में समर्थ थे। वे भी इसे क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष का रूप देकर क्षत्रिय जाति के प्रतिकार का रूप दे सकते थे। पर वे इतने उकसावे में भी शान्त बने रहे। उन्हें विश्वास था कि वाणी के माध्यम से ही परशुराम को पराजित किया जा सकता है, और वह भी उनकी दृष्टि में उनके अहं की पराजय का प्रश्न था। उन्हें पता था कि श्री राम के स्वरूप को न पहचान कर ही परशुराम इस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं। भ्रान्ति का निवारण होते ही वह स्वयं कृतकृत्यता का अनुभव करेंगे। और अन्त में हुआ भी यही। इस वार्तालाप का अन्त बहिरंग दृष्टि से भले ही परशुराम की पराजय के रूप में हुआ हो, पर स्वयं परशुराम को उसमें पराजय की पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। वे कृतज्ञता अनुभव करते हैं। उनके बुद्धि-पटल का आवरण दूर हो चुका था। और तब उन्हें न केवल राघव की क्षमाशीलता का दर्शन होता है अपितु क्षमा की आधारशिला के रूप में

लक्ष्मण का भी साक्षात्कार होता है। उनकी इस अनुभूति की अभिव्यक्ति 'क्षमहु क्षमा मन्दिर दोउ भ्राता' के रूप में हुई। परशुराम के द्वारा की जाने वाली स्तुति के पश्चात् कुटिल राजाओं की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। वे अपने प्राणों को लेकर भाग खड़े हुए। इस तरह रामानुज की दूरदर्शिता और नीति-चातुरी से एक महान संकट टल गया। महाराज श्री जनक ने स्वयं द्वारा की गई लक्ष्मण की आलोचना के लिए निश्चित रूप से लज्जा का अनुभव किया। उन्हें लगा कि धनुर्भंग से पहले और बाद में लक्ष्मण की भूमिका अभूतपूर्व थी। उसके अभाव में न तो धनु-र्भंग हो पाता और न ही युद्ध का संकट टल पाता। न केवल वे, अपितु परशुराम भी ईश्वर के स्वरूप-ज्ञान से वंचित रह जाते। इसलिए परशुराम के जाते ही वे महर्षि विश्वामित्र के चरणों में प्रणाम करते हुए जो वाक्य कहते हैं, उसमें सांकेतिक रूप में लक्ष्मण के प्रति क्षमा-याचना का स्वर सम्मिलित था। उन्हें स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि वे जिस कृतकृत्यता का अनुभव कर रहे हैं, उसका श्रेय भगवान राम के साथ लक्ष्मण को भी है। यदि श्री राम ईश्वर हैं तो लक्ष्मण आचार्य के रूप में उनके स्वरूप का परिचय देने वाले हैं। जनक की कृतज्ञता इन वाक्यों से फूट पड़ी :

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दोउ भाई।
अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं॥

अयोध्या से महाराज श्री दशरथ बारात लेकर आते हैं। विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। महाराज श्री जनक ने अपनी भ्रातृ कन्याओं को भरत-शत्रुघ्न को अर्पित किया। उनकी स्वयं की कन्या उर्मिला से लक्ष्मण का पाणिग्रहण होता है। इस तरह महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए जिस यात्रा का श्रीगणेश हुआ था, उसकी चरम परिणति महामंगल में हुई। इस यात्रा में लक्ष्मण की अनिवार्यता का बोध पग-पग पर होता है। विवाह के पश्चात् अयोध्या में कई वर्ष निर्विघ्न और सानन्द व्यतीत होते हैं। इस बीच भरत और शत्रुघ्न एक लम्बी अवधि के लिए ननिहाल चले जाते हैं। जहां तक श्री लक्ष्मण का सम्बन्ध था उनकी जीवन-चर्या में कोई अन्तर नहीं आया। राघवेन्द्र के चरणों का सान्निध्य ही उनका सबसे बड़ा सुख था। वे निरन्तर उनकी सेवा में संलग्न रहे। पर वे अयोध्या राजकुल के सजग प्रहरी भी थे। उनकी पैनी दृष्टि ने मंथरा के अन्तःकरण के कलुष को देख लिया था। इसलिए वे उसे निरन्तर अनुशासन में रखने का प्रयास करते रहे। मन्थरा स्वभावतः इसके लिए कैकेयी को उलाहना देती थी। पर उसके इन उलाहनों को कैकेयी ने कभी गंभीरता से नहीं लिया। मंथरा का नाटकीय स्वभाव कैकेयी के मनोरंजन का साधन बन जाता था। इसलिए राम के राज्याभिषेक के समाचार से विक्षुब्ध मंथरा को देखकर उन्हें यह सोच कर हंसी आ गई थी कि सम्भवतः लक्ष्मण की फटकार के प्रति अपना रोष और दुःख प्रकट करने के लिए ही मंथरा इस नाटकीय मुद्रा में उनके पास आयी। उनके परिहास-भरे प्रश्न में यही धारणा झलक रही थी :

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे।
दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥

पर इस बार पासा उलटा पड़ा। मंथरा विजयी रही। राघव को वनवास दिलाने में वह सफल रही। रामानुज के लिए यह बहुत बड़ा आघात था। पर उनकी व्याकुलता का कारण राजसत्ता का छिन जाना नहीं था। वे राघव के स्वभाव से भली-भांति परिचित थे। उन्हें यह ज्ञात था कि राज्याभिषेक के समाचार को सुनकर प्रभु रंचमात्र भी उत्साहित नहीं हुए थे। इसलिए राज्य के छिन जाने का भी कोई दुःख उन्हें होने वाला नहीं है। अपितु उन्हें यह भी पता था कि भरत के राज्याभिषेक की योजना से वे अत्यन्त प्रसन्न होंगे। जहां तक महाराज दशरथ के प्रति उनकी भावना का प्रश्न है तत्काल उनके प्रति किसी कठोर प्रतिक्रिया का उदय उनमें नहीं हुआ। हां, वनयात्रा के प्रसंग में वे गंगा-तट पर पिता के प्रति असहिष्णु अवश्य हो उठे थे, किंतु वह बाद की बात है और इसके पीछे भी कारण था। परन्तु जहां तक तात्कालिक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है, वे पिता जी के प्रति किसी प्रकार का आक्रोश प्रकट नहीं करते। यह उनके संवेदनशील स्वभाव का ही एक प्रमाण है। वे महाराज श्री दशरथ की कठिनाई को समझ रहे थे। उनकी दृष्टि से वे सत्य के लिए राघव का परित्याग कर रघुवंश की वचननिष्ठ परम्परा का पालन कर रहे थे। स्वयं उनकी निष्ठा भिन्न प्रकार की है, पर इसके लिए वे पिता जी को कोई दोष नहीं देते। उन्हें यह भी ज्ञात था कि प्रभु को वनगमन से रोका नहीं जा सकता। अतः उनकी चिन्ता का एक ही केन्द्र-बिन्दु था: रामभद्र उन्हें साथ ले जाने के लिए प्रस्तुत होंगे या नहीं! उस समय की उनकी व्याकुलता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त मार्मिक है। मीन की जल के प्रति प्रीति प्रसिद्ध है। वह एक क्षण के लिए भी जल से पृथक नहीं हो सकती। लक्ष्मण की तुलना भी मछली से की गई है। पर अन्तर इतना ही है कि जहां मछली जल से अलग होते ही छटपटाने लगती है, रामानुज की वैसी दशा केवल वियोग की कल्पना मात्र से हो गई। अस्त-व्यस्त, चिन्ता और दैन्य से भरी हुई उनकी यह मुखाकृति सर्वथा अपरिचित प्रतीत हो रही थी। आज तक उनके मुख-मण्डल पर आनन्द और सेवाजन्य, सुख और गौरव का ही चिह्न परिलक्षित होता था, पर एक ही क्षण में उनमें परिवर्तन के जो चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे थे, उससे उनके अग्रज का द्रवित हो जाना स्वाभाविक ही था। कांपता हुआ रोमांचित शरीर, आंसुओं से भरी हुई आंखें, पर विचित्रता यह थी कि देखकर लगता था कि जैसे वे शरीर से दूर किसी और ही लोक में बैठे हुए हैं। प्रभु ने समझ लिया कि वे साथ चलने का आदेश लेने आए हुए हैं, लेकिन यह तो औपचारिकता मात्र है। वे तो देह, गेह से नाता तोड़कर ही उनके सामने खड़े हैं। प्रभु असमंजस में पड़ जाते हैं। कर्तव्य और प्रीति में वे किसका पक्ष लें। जब वे अयोध्या की वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डालते हैं तब वे लक्ष्मणविहीन नगर की कल्पना से ही कांप उठते हैं। पुत्र की पीड़ा से मर्माहत महाराज दशरथ, शोकसन्तप्त माताएं और

दूर केकय देश में भरत और शत्रुघ्न––ऐसी विकट स्थिति में लक्ष्मण को छोड़कर अयोध्या नगर को कौन संरक्षण दे सकता है। दूसरी ओर लक्ष्मण से अलग होकर वे स्वयं भी प्रतिक्षण अपूर्णता का ही अनुभव करते रहेंगे, यह उन्हें ज्ञात था। लक्ष्मण की उनसे अलग होकर क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ही उन्हें आतंकित कर देती है। लक्ष्मण के प्राणत्याग की आशंका भी उनसे छिपी हुई नहीं थी। फिर उन्होंने लोकमंडल और कर्तव्य का ही पक्ष लिया। वे स्नेह-भरे स्वर में लक्ष्मण के समक्ष सारी परिस्थिति रख देते हैं। उनसे कर्तव्यपथ पर आरूढ़ होने का अनुरोध करते हैं। उनका यह भी संकेत था कि इस समय मेरे साथ चलने का आग्रह कर्तव्यपथ से पलायन ही माना जायेगा। लक्ष्मण जैसे महावीर को कोई कायर कहे, ऐसा अवसर उन्हें नहीं देना चाहिए। रामचरितमानस में इस अवसर का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। लक्ष्मण और राघव की अन्तर्भावनाओं को गोस्वामी जी विस्तार से प्रस्तुत करते हैं :

समाचार जब लछिमन पाए।
ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
कंप पुलक तन नयन सरीरा।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीनु दीन जनु जल तें काढ़े॥
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा।
सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा॥
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा।
रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥
रामु बिलोकि बंधु कर जोरें।
देह गेह सब सन तृन तोरें॥
बोले बचनु राम नय नागर।
सील सनेह सरल सुख सागर॥
तात प्रेम बस जनि कदराहू।
समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू॥
मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जिय जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुख मन माहीं॥

मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा।
होइ सबहिं बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
रहहु तात अस नीति बिचारी।
सुनत लखन भए व्याकुल भारी॥

किन्तु प्रभु की यह उद्‌बोधक वाणी लक्ष्मण को प्रभावित नहीं कर पाती। सत्य तो यह है कि लक्ष्मण को उपदेश देकर राघव ने अपने कर्तव्य का पालन ही किया था। इसके द्वारा वे लक्ष्मण के निर्णय को प्रभावित कर सकेंगे, इसकी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। लक्ष्मण इन तर्कों से तभी प्रभावित हो सकते थे जब उनका जीवन धर्म या तर्क के द्वारा संचालित होता। वहुधा भ्रातृ-प्रेम के पीछे स्वाभाविक मान्यताओं का बहुत वड़ा हाथ होता है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति के मन पर सम्बन्धों की छाप डाली जाती है। इन सम्बन्धों में तारतम्य की प्रेरणा प्राप्त होती है। इनके आधार पर कर्तव्यकर्म की शिक्षा दी जाती है। इस तरह व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होता है। उसकी प्रीति के पीछे हृदय की सहज प्रेरणा ही नहीं होती, बहुत कुछ आरोपित होने पर भी अभ्यास और संस्कार के कारण उसमें हार्दिकता आ जाती है। भाई-भाई, पिता-पुत्र, माता-पुत्र के नातों को लेकर वह दिन-रात सुनता रहता है। विवेक के माध्यम से वह इनमें श्रेष्ठता, कनिष्ठता की कल्पना भी करता है। भाई की तुलना में पिता का पद कहीं अधिक महान् है, यह संस्कार उसके लिए निर्णायक तब बन जाता है जब दोनों को लेकर अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होता है। यदि लक्ष्मण और रामभद्र की प्रीति का विकास भी इसी पद्धति से हुआ होता तो प्रभु द्वारा दिए तर्कों से प्रभावित होकर लक्ष्मण इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते थे कि बड़े भाई की तुलना में माता-पिता और अन्य गुरुजनों का स्थान श्रेष्ठ है। इसलिए मुझे इनकी सेवा में रहकर कर्तव्य का पालन करना चाहिए। पर लक्ष्मण की प्रीति के पीछे इस प्रकार की कोई वृत्ति नहीं थी। यह तो एक संयोग था कि वे एक कुल में भाई-भाई के रूप में जन्म लेते हैं। वे कहीं भी किसी रूप में जन्म क्यों न लेते, रामभद्र के प्रति उनकी ऐसी ही प्रगाढ़ प्रीति होती। उनके सम्बन्ध और प्रीति में विकास का कोई क्रम नहीं है। वह तो अनादि काल से एकरस रहने वाली प्रीति है। काव्य की भाषा में यह जल और मछली की प्रीति है। जल के प्रति किसके मन में अनुराग नहीं है। पर इस प्रीति का आधार आवश्यकता है। इसीलिए उसकी सीमा भी सुनिश्चित है। हमारा काम जल के बिना नहीं चल सकता

है। वह हमें तृप्ति और शक्ति देता है, इसलिए हम उसे चाहते हैं, परन्तु आवश्यकता से अधिक जल भी हमें अरुचिकर प्रतीत होता है । किन्तु मछली की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। जल उसकी नियति है, जीवन है, उसकी प्रीति जन्मजात है, सहज है। इसलिए वहां परितृप्ति और अरुचि का प्रश्न ही नहीं है। जल के ग्रहण और त्याग का तर्क अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर सकता है; पर मछली की प्रीति शास्त्र या धर्म से प्रेरित है ही नहीं, इसलिए वह किसी भी उपदेश के द्वारा परिवर्तित नहीं की जा सकती। लक्ष्मण की प्रीति का स्वरूप भी इसी प्रकार का है।

रामभद्र के उपदेश से लक्ष्मण का प्रभावित न होना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः वे उपदेश के धरातल से ऊपर उठ चुके थे। राघव ने उन्हें जिन सम्बन्धों की स्मृति दिलाई थी उनका आधार शरीर ही तो था। पर जो देह से ऊपर उठकर विदेह स्थिति में पहुंच चुका हो उसके लिए इस लोकधर्म का प्रयोजन भी क्या था? 'देह गेह सब सन तृनु तोरें' में उनकी इसी स्थिति का वर्णन किया जाता है। फिर जब धर्म और कर्तव्यपालन के परिणामों को प्राप्त करने में उनकी कोई रुचि ही नहीं थी तब उन पर बलपूर्वक धर्म थोपा ही कैसे जा सकता था। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि धर्मपालन के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली कीर्ति भूति और सुगति में उन्हें कोई रुचि नहीं है। वे तो प्रभु के स्नेह के द्वारा पालित नन्हें शिशु हैं जिनके लिए धर्म का भार उठा पाना उसी तरह असंभव है जैसे हंस के लिए मन्दराचल पर्वत को उठा पाना। यह प्रभु के उस तर्क का उत्तर था जिसमें यह कहा गया था कि कर्तव्य के बोझ से भागना कायरता है। 'तात प्रेम बस जनि कदराहू' में उन्होंने यही कहा था। लक्ष्मण का उत्तर यह था कि प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी के लिए सब कुछ कर पाना संभव नहीं है। प्रकृति ने जिसका निर्माण जिस कार्य के लिए किया है, उसके लिए वही कर पाना संभव है। अन्य लोगों को भी उससे उतनी ही आशा रखनी चाहिए। हंस साहित्य में बहुसम्मानप्राप्त पक्षी है पर उसकी प्रशंसा नीर-क्षीर विवेक को लेकर है, न कि भार-वहन की क्षमता के माध्यम से उसकी परीक्षा ली जा सकती है। हंस जल मिश्रित दुग्ध में दूध को अलग कर उसे पी लेता है। लक्ष्मण भी एक ऐसे हंस हैं जो लोकधर्म और भागवतधर्म के जल-दूध मिश्रण में से भागवतधर्म का दूध पी लेते हैं। उनसे इसे छोड़कर और किसी प्रकार की आशा रखना व्यर्थ है। यही उनका 'स्वधर्म' है। उनके लिए अन्य सारे उपदेश 'पर धर्मो भयावहः' के रूप में सर्वथा त्याज्य हैं। अत्यन्त विनम्रतापूर्वक वे प्रभु के तर्कों को जिस सरलता से अस्वीकार कर देते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अन्तःकरण में भ्रम या संशय की कोई ग्रन्थि है ही नहीं। वे पूरी तरह अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हैं। उन्होंने प्रभु के उपदेश के उत्तर में जो वाक्य कहे उसमें प्रीति की मुख्यता तो है ही पर तर्क की कसौटी पर भी उसमें कहीं कोई त्रुटि नहीं है। इसीलिए प्रभु उनकी प्रार्थना अस्वीकार नहीं कर पाते। वे तत्काल उन्हें साथ चलने की स्वीकृति प्रदान कर देते हैं :

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥
दीन्ह मोहि सिख नीक गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेंहि मराला॥
गुरु पितु मातु न जानहुँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीत निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अन्तर जामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥
करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेहँ सभीत॥
माँगहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

उसके पश्चात् तो चौदह वर्ष तक उनके द्वारा की जाने वाली प्रभु की सेवा में एक महाकाव्य है। जिसमें अकेले लक्ष्मण ही विविध रसों को साकार करते हुए दिखाई देते हैं। वनपथ में चलते हुए अपने आराध्य प्रभु और वन्दनीया सीता के प्यास की अनुभूति पहले उन्हें होती है और स्वतः अपनी ओर से आग्रहपूर्वक जल लेने के लिए चल पड़ते हैं। स्वाभाविक ही था कि इस अनन्यानुरागी के आगमन में थोड़ा विलम्ब भी विदेहजा को व्याकुल बना देता है। वे अपने मन की चिन्ता को राघव से सुनाए बिना नहीं रह पाती हैं। उन्हें भय लगता है कि नन्हें लक्ष्मण वन में मार्ग न भूल गए हों। वे रामभद्र से अनुरोध करती हैं कि वे रुककर लक्ष्मण की प्रतीक्षा करें। ऐसे अवसरों पर उन्हें धुरीण लक्ष्मण की वह सारी वीरता विस्मृत हो जाती है, जिसका बखान उन्होंने वनयात्रा के प्रारम्भ में किया था। सुमन्त ने बीहड़ वन की कठिनाइयों को सुनाकर मैथिली को रोकना चाहा था। मैथिली को लगा कि वे निशाचरों और सिंह-व्याघ्रों का नाम लेकर व्यर्थ ही उन्हें डराने की चेष्टा कर रहे हैं। प्रभु के रहते हुए उनकी ओर कौन दृष्टि उठाकर देख सकता है।

फिर भी यदि उनके ही मन में कोई हिचकिचाहट है तो उसे दूर करने के लिए वे उन्हें स्मरण दिला देती हैं, "मेरे धनुर्धर, धीर देवर लक्ष्मण के रहते आपको चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

को प्रभु संग मोहि चितवनि हारा।
सिंह बधुहिं जिमि ससक सिआरा॥
× × ×
प्राननाथ प्रिय देवर साथा।
बीर धुरीन धरे धनुभाथा॥

किन्तु वनपथ में जब उनका वात्सल्य उमड़ता है तब उसमें उनका सारा ऐश्वर्य-ज्ञान तिरोहित हो जाता है। तब वे उनके बाल्यावस्था की दुहाई देती हुई राघव से अनुरोध करती हैं कि वे किसी ऊंचे स्थान पर चढ़कर लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारें। प्रभु भी ऐसे अवसरों पर तत्काल विदेहजा का अनुरोध स्वीकार करते हुए ऊंचे टीले पर खड़े होकर पुकार उठते हैं। कवितावली और गीतावली में इन अवसरों के बड़े मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं :

जल को गए लक्खन है लरिका।
परिखौ पिय छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े॥
× × ×
पुनि-पुनि राम सीय तनु हेरत।
तृषित जानि जल लेन लखन गए, भुज उठाइ ऊंचे चढ़ि टेरत॥

ऐसे अवसरों पर इन तीनों के मन में जो रस-सरिता प्रवाहित होती है, उनके मिलन से जिस प्रीति-प्रयाग की सृष्टि होती है, उसमें अवगाहन कर किस भावुक हृदय का अन्तःकरण पावन नहीं हो जाता। रात्रि में प्रभु के विश्राम के लिए कुश-साथरी का निर्माण भी लक्ष्मण के द्वारा ही होता है। और जब मैथिली और राघव उस पर शयन करते हैं तो कहीं दूर सजग प्रहरी के रूप में लक्ष्मण ही बैठे हुए दिखाई देते हैं। उनकी अनुराग-भरी आंखों में निद्रा का प्रवेश वर्जित है। सेवा ही उनका शयन-विश्राम सब कुछ है। सेवा के द्वारा ही उन्हें तृप्ति और शक्ति की उपलब्धि होती है। चित्रकूट पहुंच कर निवास के लिए उपयुक्त स्थान के चुनाव का भार भी प्रभु लक्ष्मण को ही सौंप देते हैं। यद्यपि सर्वप्रथम आवास के लिए जो कुटिया बनाई गयी थी, उसके निर्माता स्वर्गस्थ देवता थे और उन्हीं ने किरातों के वेष में आकर इनका निर्माण कर दिया था। परन्तु गीतावली से लगता है कि इस कुटिया का पुनर्निर्माण लखनलाल के द्वारा हुआ। सम्भव है स्वार्थी देवताओं के द्वारा निर्मित कुटीर में प्रभु का मन न लग पाया हो और लक्ष्मण के स्नेहिल हाथों के द्वारा बनाई गई कुटिया इन दोनों की रसस्निग्ध भूमिका के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई हो। गीतावली के एक मार्मिक पद में जो मधुर चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें लक्ष्मण की इस भूमिका की ओर इंगित किया गया है :

फटिकसिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरित छबि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि, तीर मंजुल मृग बिहग-भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर साम गान की॥
मधुकर-पिक बरहि मुखर, सुंदर गिर निरझर झर,
जल कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की॥
बिरचित तहँ परनसाल अति बिचित्र लषनलाल,
निवसति जहँ नित कृपाल राम जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लवदल रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम पान की॥
सिय अँग लिखें धातुराग, सुमननि भूषन बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कला निधान की।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

कौन कह सकता है कि यह अनोखा कलाकार रागी है या विरागी। प्रतिक्षण रस और अनुराग के वातावरण की सृष्टि करने वाला यह विरागी विरोधाभासों का पुंज है। इसीलिए गोस्वामी जी की उपमाएं भी बदलती रहती हैं। उन्हें कभी लगता है लक्ष्मण काम के सेनापति वसन्त हैं, तो कभी लगता है मानो वैराग्य ही मूर्तिमान होकर आ गया है। वे पर्ण-कुटीर में निवास करने वाले विराग हैं तो स्वर्ग में निवास करने वाले शचीसुत जयन्त भी हैं।

लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
मोह मदन मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥

× × ×

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर॥

× × ×

रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयन्त समेत॥

चित्रकूट के आश्रम की सज्जा में सर्वत्र उनका हाथ देखा जा सकता है। तुलसी और पुष्पों के जो बिरवे रोपे गए हैं उनका नित्य सिंचन करना भी उन्हीं का कार्य है। 'कहुं-कहुं सिय कहुं लखन लगाए' में इसी की ओर इंगित किया गया है। पर इससे भिन्न उनका एक और स्वरूप भी है, जब उनकी मुख-मुद्रा इतनी कठोर हो जाती है कि दृष्टि उठाकर देखना भी असंभव हो जाता है। अभी-अभी समाचार

मिला है कि भरत चतुरंगिणी सेना लेकर चित्रकूट के आश्रम की ओर आ रहे हैं। प्रभु के मुख पर चिन्ता के चिह्न परिलक्षित होते हैं। निरन्तर प्रभु की मुखाकृति पर दृष्टि रखने वाले लक्ष्मण के लिए यह स्थिति असह्य है। क्षण-भर में रोष की लालिमा से उनका मुख तमतमा उठा। इन दिनों ऐसा लगता था कि लक्ष्मण स्वयं भले ही न सोते हों पर उन्होंने अपने अन्तर्मन में स्थित वीर रस को तो सुला ही दिया था। इस पावन तपोवन में इस रससिक्त भूमि में वीर रस का प्रयोजन भी क्या था ! पर चतुरंगिणी सेना के समाचार ने उसे क्षण-भर में चैतन्य कर दिया। 'मनहुं बीर रस सोवत जागा'। विनम्र वाणी का प्रयोग करने वाले लक्ष्मण के मुख से सिंह-गर्जना का जो स्वर गूंजा, उसने वन-प्रान्तर ही नहीं त्रैलोक्य भी कंपित हो उठा। भरत के प्रति सर्वदा समादर भाव रखने वाले लक्ष्मण आज भरत के नाम का स्मरण करते हुए कटूक्तियों की वर्षा करने लग जाते हैं। इससे भी आगे बढ़कर वे धनुषबाण से सुसज्जित होकर युद्ध की मुद्रा में खड़े हो जाते हैं :

लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू।
कहत समय सम नीति बिचारू॥
बिनु पूँछे कछु कहउँ गोसाईं।
सेवकु समयँ न ढीठ ढिठाईं॥
तुम्ह सर्बग्य सिरोमनि स्वामी।
आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥
नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥
बिषई जीव पाइ प्रभुताई।
मूढ़ मोह बस होइ जनाई॥
भरतु नीति रत साधु सुजाना।
प्रभु पद प्रेम सकल जग जाना॥
तेऊ आज राम पदु पाई।
चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी।
जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू।
आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलप कुटिलाई।
आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जिअ होत न कपट कुचाली।
केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥

भरतहिं दोसु देइ को जाएँ।
जग बौराइ राजु पदु पाएँ॥
ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमि सुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा अधम न बेन समान॥
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ।
रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥
एक कीन्ह नहिं भरत भलाई।
निदरे रामु जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी।
समर सरोष राम मुखु पेखी॥
एतना कहत नीत रस भूला।
रन रस बिटपु पुलक मिस फूला॥
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी।
बोले सत्य सहज बलु भाषी॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा।
भरत हमहिं उपकार न थोरा॥
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें।
नाथ साथ धनु हाथ हमारें॥
छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुज जगु जान।
लातहुँ मारे चढ़त सिर नीच को धूरि समान॥
उठ कर जोरि रजायसु माँगा।
मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि माथा।
साजि सरासनु सायकु हाथा॥
आज राम सेवक जसु लेऊँ।
भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई।
सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू।
प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजा।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजा॥

तैसेहि भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकर आई।
तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

क्या यह लक्ष्मण का आवेशजन्य उतावलापन नहीं है। इस प्रकार के प्रसंगों को पढ़कर ऐसा लगना स्वाभाविक ही है। कई आलोचकों द्वारा इस प्रसंग को लेकर लक्ष्मण की कटु आलोचना भी की गई है। किन्तु अन्तरंग में बैठकर विचार करने पर इस प्रसंग में उनका जो रूप प्रकट होता है वह अभिनन्दनीय ही है, निन्दनीय नहीं। लक्ष्मण के इस भाषण की पृष्ठभूमि क्या है ?

यद्यपि प्रभु के अन्तर्द्वन्द्व का कारण सर्वथा भिन्न था किन्तु उस समय लक्ष्मण को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रभु बन्धु-विरोध और संघर्ष की कल्पना से उद्विग्न हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने भरत के प्रति तीव्र आक्रोश-भरी वाणी का प्रयोग किया। यह कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य तो यही है कि लक्ष्मण राम के अन्तर्भाव को नहीं समझ पाते थे किन्तु उनके विरुद्ध यह आरोप प्रीति-रस की अनभिज्ञता से ही लगाया जा सकता है। रामचरितमानस में लक्ष्मण को एक योगी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। उनका समग्र अन्तःकरण राघवेन्द्र के प्रेम-रस से परिप्लुत है। योगी अपने मन की एकाग्रता के द्वारा दूसरों के मन की बात जान लेता है। वह प्रशान्त स्थिति में निवास करता है। ठीक इसके विरुद्ध प्रेमी का अन्तःकरण ऐसे समुद्र की भांति है जिसमें निरन्तर भाव की लहरें उठा करती हैं। लहरें तर्क अथवा गणित से संचलित नहीं होती हैं। जब आकाश में पूर्ण चन्द्र के उदय को देखकर समुद्र में लोल लहरियों का ज्वार आता है तब उसमें समुद्र की नासमझी देखना हृदयहीनता है।

उसे व्यर्थ श्रम समझकर उसकी आलोचना करना अरसिकता का परिचायक है। लक्ष्मण की उद्विग्नता भी ठीक इसी प्रकार की है। इसीलिए कवि ने उनकी वाणी को 'समय सम' कहकर उसके प्रति अपनी सराहना के भाव प्रकट किए :

लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू।
कहत समय सम नीति बिचारू॥

लक्ष्मण की मनोदशा की तुलना उस वात्सल्यमयी मां से की जा सकती है, जो अपने नन्हें बालक के मुख पर वेदना के चिह्न देखकर बेचैन हो जाती है। यद्यपि उसे ठीक-ठीक यह पता नहीं है कि पीड़ा का केन्द्र कहां है, तथापि उस समय कुछ करने की छटपटाहट ही उसके रोम-रोम से टपकती है। उसके मुख पर चिकित्सक की गम्भीरता ढूंढना व्यर्थ है। श्री भरत का ससैन्य आगमन उन्हें यही सोचने के लिए बाध्य कर रहा था कि भरत युद्ध के उद्देश्य से ही चित्रकूट आ रहे हैं। मनाने के लिए सेना लेकर आना इतना अप्रत्याशित था कि यदि लक्ष्मण ने इसे संशय की दृष्टि से देखा तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वे श्री राम के रक्षक प्रहरी की

भूमिका निभाते हैं। एक प्रहरी आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को संशय की दृष्टि से देखता है। यही उसके लिए उपयुक्त भी है। इसीलिए गोस्वामी जी उनकी वाणी के लिए 'नीति बिचारू' का भी विशेषण देते हैं। भगवान राम ने भी उनके आवेश को इसी सन्दर्भ में देखा। यद्यपि श्री लक्ष्मण ने श्री भरत के विरुद्ध जिन कटूक्तियों का प्रयोग किया था, वे अत्यन्त निर्ममता से भरी हुई थीं, पर उसके पीछे किसी व्यक्तिगत दुर्भावना का लेश भी नहीं था।

श्री लक्ष्मण को आवेश में युद्ध के लिए सन्नद्ध देखकर जिस समय देवता इसके अनौचित्य की ओर संकेत करते हैं, उस समय उनका संकोच दर्शनीय था :

जगु भय मगन गगन भइ बानी।
लखन बाहुबल बिपुल बखानी॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा।
को कहि सकइ को जाननि हारा॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥
सहसा करि पाछें पछिताहीं।
कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥
सुनि सुर बचन लखन सकुचाने।
राम सीयं सादर सनमाने॥

लक्ष्मण के संकोच से भी अधिक आश्चर्यजनक भगवान राम और श्री सीता जी के द्वारा इस प्रसंग में लक्ष्मण को दिया जाने वाला सम्मान था। भरत के प्रति श्री राम का प्रेम विश्वविश्रुत था। भरत के गुणगान करते हुए सारी रात्रि कब बीत गयी, इसका उन्हें पता नहीं चलता था :

लखन राम सीतहि अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥

उनकी मान्यता तो यह थी कि श्री भरत के प्रति कुटिलता का आरोप लगाने से बढ़कर संसार में कोई दूसरा पाप नहीं है, और इस पाप के परिणामस्वरूप आरोपी का लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाता है। प्रभु की दृष्टि में श्री भरत के समान पुण्यात्मा विश्व में कोई हुआ ही नहीं :

तीनि काल त्रिभुवन मत मोरे।
पुण्य सिलोक तात तर तोरे॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई।
जाइ लोक परलोक नसाई॥

ऐसी मनःस्थिति में यही कल्पना की जा सकती है कि लक्ष्मण की कठोर वाणी के लिए प्रभु उनकी भर्त्सना करेंगे। किन्तु इसके स्थान पर 'सादर सनमाने' पढ़कर आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि अन्तर्यामी

रामभद्र अनन्यानुरागी लक्ष्मण के सद्भाव को भलीभांति जानते थे। उन्हें यह पता था कि लक्ष्मण की इस कठोर वाणी के पीछे उनकी प्रीति ही बोल रही है। उसमें अहंकार या मात्सर्य जैसी असद्वृति का लेश भी नहीं है। आगे चलकर जैसा उन्होंने कहा कि इस कार्य के लिए लक्ष्मण को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। उनकी वाणी नीति के सन्दर्भ में सर्वथा सुसंगत थी। राजा सत्ता पाकर उन्मत होने वाले अनेक व्यक्तियों की नामावली इतिहास में भरी पड़ी है। यह बात और है कि श्री भरत इनसे सर्वथा भिन्न हैं :

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब ते कठिन राज मदु भाई॥
जो अचवँत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधु सभा जेहिं सेई॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महं सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

इसके बाद प्रभु श्री भरत की सराहना में इतने मुखर हो गए कि उन्हें समय का भी भान न रहा। इस प्रसंग में भी श्री लक्ष्मण के निश्छल हृदय की झांकी प्राप्त होती है। कुछ क्षण पहले वे जिन भरत के वध के लिए प्रस्तुत हो गए थे, उनके आगमन पर उनका हृदय-स्नेह रस से इतना सराबोर हो गया कि प्रभु से भी पहले भरत से मिलने की उत्कट आकांक्षा उनके हृदय में जाग्रत हो गई। बड़ी कठिनाई से स्वयं को रोककर श्री भरत के शुभागमन की सूचना वे जिस स्वर में देते हैं, उसका मार्मिक शब्द-चित्र मानस की इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

बचन सपेम लखन पहिचाने।
करत प्रनामु भरत जियं जाने॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा।
उत साहिब सेवा बस जोरा॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकबि लखन मन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

किसी भी व्यक्ति के प्रति उनका अनुराग अथवा विरोध अपनी व्यक्तिगत भावनाओं पर आधारित नहीं होता है। उनके सम्बन्ध के केन्द्रीभूत आधार श्री राम हैं। सुमित्रा अम्बा के द्वारा दिया गया गया उपदेश उनके मन और प्राण में सहज

भाव से समाया हुआ था। मां ने अपने लाड़िले पुत्र को वन की ओर विदा करते हुए कहा था :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
मानिअ सबहिं राम के नाते।।

इसीलिए जब वे भरत के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष के लिए प्रस्तुत होते हैं तब अपने ही सगे भाई शत्रुघ्न का वध करने का संकल्प लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। 'सानुज निदरि निपातउं खेता' में उनका उद्‌घोष स्पष्ट है। किन्तु जब श्री भरत के प्रति उनकी धारणाओं में परिवर्तन हुआ तब श्री भरत से मिलन के पश्चात् शत्रुघ्न से मिलते हुए उनका हृदय भावविह्वल हो गया। उस समय श्री भरत के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना इतनी बढ़ चुकी थी कि शत्रुघ्न को हृदय से लगाते हुए वे यह अनुभव नहीं करते कि वे अपने छोटे भाई से मिल रहे हैं। उन्हें तो यह भावना विभोर बना देती है कि भरत जैसे प्रभु के प्रेमास्पद के अनुचर के रूप में शत्रुघ्न अपने जीवन को धन्य बना रहे हैं। उनकी भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही गोस्वामी जी प्रस्तुत प्रसंग में 'लखन लघु भाई' को भरतानुज के रूप में स्मरण करते हैं :

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे।
दुसह बिरह संभव दुख मेटे।।

वनयात्रा के तेरह वर्ष लक्ष्मण के लिए अत्यन्त सुखद थे। मैथिली और राघवेन्द्र की प्रसन्नता ही उनका सबसे बड़ा सुख था और उनका यह सुख प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। विदेहजा के आनन्द और उत्साह की कोई सीमा न थी। उन्हें अयोध्या से न जाने कितना गुणित आनन्द वन में आ रहा था। 'सिय मन राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बन प्रिय लागा।।' में गोस्वामी जी उनकी इसी मन:स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रभु भी परम प्रसन्न थे। उन्हें कभी-कभी अयोध्या और भरत की स्मृति अवश्य विह्वल बना देती थी। इन क्षणों में प्रभु की मन:स्थिति लक्ष्मण को भी व्यथित बना देती थी। पर जहां तक उनका सम्बन्ध था, वे इन स्थितियों से ऊपर उठ चुके थे। अयोध्या, पिता, माता एवं पत्नी की स्मृति ने उन्हें कभी विचलित नहीं किया। इस अनन्य सेवाव्रती के पास समय ही नहीं था इनके चिन्तन का। अपने आराध्य की सेवा करते हुए कभी उनमें विरसता या बासी-पन की भावना का उदय नहीं हुआ। इन वर्षों की मधुर स्मृतियों को गोस्वामी जी इन पंक्तियों के माध्यम से प्रकट करते हैं :

सेवहिं लखन करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी।।
छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु।।

राम संग सिय रहति सुखारी।
पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ।।
छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी।
प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी ।।
नाह नेहू नित बढ़त बिलोकी ।
हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ।।
सिय मनु राम चरन अनुरागा।
अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ।।
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा ।।
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर।
असनु अमिअ सम कंद मूल फर ।।
नाथ साथ सांथरी सुहाई ।
मयन सयन सय सम सुखदाई ।।
लोकप होत बिलोकत जासू ।
तेहि कि मोहि सक बिषय बिलासू ।।
सुमिरत रामहि तर्जाहं जन तृन सम बिषय बिलासु ।
राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आरजु तासु ।।
सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ।।
कहहिं पुरातन कथा कहानी।
सुनहिं लखनु सिय अति सुखु मानी ।।
जब जब रामु अवध सुधि करहीं।
तब तब बारि बिलोचन भरहीं ।।
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई ।
भरत सनेहु सीलु सेवकाई ।।
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी।
धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी ।।
लखि सिय लखनु बिकल होइ जाहीं।
जिमि पुरुष अनुसरहि परिछाहीं ।।
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु ।
धीर कृपाल भगत उर चंदनु ।।
लगे कहन कछु कथा पुनीता ।
सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता ।।

राम लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत।।
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें।।
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।।

इन पंक्तियों के प्रस्तुत करने का गोस्वामी जी का क्रम भी बड़ा अनोखा है। इनमें लक्ष्मण, मैथिली और प्रभु की प्रीति का क्रमिक वर्णन तो किया ही गया है पर उपक्रम और उपसंहार में एक ही शब्द की पुनरावृत्ति की गई है। 'सेवहि लखनु करम मन बानी' के पश्चात् वे अनेक पंक्तियों का वर्णन करते-करते पुनः अन्त में 'सेवहि लखनु सीय रघुबीरहि' की स्मृति दिलाते हैं। मानो वे मैथिली और प्रभु की प्रसन्नता को 'सेवहि लखन' के सम्पुट में ही सुरक्षित और सुशोभित देखते हैं।

किन्तु इन तेरह वर्षों के विपरीत चौदहवां वर्ष अत्यन्त दुखदाई सिद्ध हुआ। यह मैथिली के अपहरण का काल था। रामानुज के लिए यह काल सबसे अधिक पीड़ा का कारण बना। माया-मृग का आकर्षक रूप मैथिली को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और वे प्रभु से इस मृग के चर्म को लाने का अनुरोध करती हैं। मृग के पीछे दौड़ने से पहले राघव लक्ष्मण को सावधान रहने का आदेश देते हैं। उनका कथन था, "यह वन राक्षसों की उपस्थिति के कारण असुरक्षित है। अतः तुम सजग रहकर विवेक और बल का प्रयोग करते हुए मैथिली की रक्षा करना।" पर परिस्थितियों ने उन्हें वैदेही को अकेले छोड़कर जाने के लिए बाध्य कर दिया। और इसका कारण मैथिली बनीं। प्रभु के शर-सन्धान से घायल मारीच मृत्यु के क्षणों में लक्ष्मण का नाम उच्च स्वरों में पुकार उठता है। विदेहजा को उसके स्वर में प्रभु के स्वर की भ्रान्ति हो गई और वे तत्काल उस स्वर की ओर लक्ष्मण का ध्यान आकृष्ट करती हुई उन्हें राघव की सहायता के लिए जाने का आदेश देती हैं। लक्ष्मण इसे सुनते ही जोर से हंस पड़े। इस हंसी ने मैथिली को अत्यन्त मर्माहत कर दिया। साधारणतया यह हंसी अवसर के अनुकूल नहीं जान पड़ती। पर लक्ष्मण के लिए सारा घटनाक्रम इतना अप्रत्याशित था कि वे अपनी हंसी को रोक ही नहीं पाए। प्रभु पर संकट की कल्पना ही उन्हें आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। इस कल्पित संकट से त्राण दिलाने के लिए स्वयं उनके जाने की बात उन्हें इतनी अटपटी लगी कि वे ठठाकर हंस पड़े। संकट में पड़े हुए ईश्वर की रक्षा के लिए महाशक्ति की ओर से जीव की पुकार में असंगति ही असंगति तो दिखाई देती है। वे इस असम्भव कल्पना की ओर मां का ध्यान भी आकृष्ट करते हैं। वे मां से प्रश्न कहते हैं, "जिसकी भृकुटि-विलास से सृष्टि का विनाश हो जाता है, क्या उन प्रभु पर कभी संकट आ सकता है?" पर मैथिली का ध्यान इन वाक्यों की ओर जाता ही नहीं। वे तो केवल इतना ही देखती हैं कि 'राघव के संकट की बात

सुनकर लक्ष्मण हंस रहा है' यह हंसी उन्हें विक्षिप्त जैसा बना देती है। इस हंसी ने उन्हें वह सब कुछ भुला दिया जो इन वर्षों में घटित हुआ था। लक्ष्मण का सर्व-त्याग, उनकी अनन्य निष्ठा, अतुलनीय सेवा की कोई स्मृति उनमें शेष नहीं रह जाती। और तब वे ऐसा कुछ कह जाती हैं जिसके लिखने का साहस भी गोस्वामी जी बटोर नहीं पाते। 'मरम बचन जब सीता बोला' कह कर ही वे इसे टाल जाते हैं। यदि उसे सुनकर लक्ष्मण आवेश में कुछ बोल पड़ते तो यह अस्वाभाविक न होता। मानस में गोस्वामी जी ने उन्हें 'अति गंभीरा' की उपाधि तो दूसरे प्रसंग में दी है (कहि न सकत कछु अति गंभीरा), पर इस उपाधि की सबसे बड़ी सार्थ-कता इसी प्रसंग में है। संशय के इस हलाहल को उन्होंने पचा लिया। उनके बोलने का अर्थ होता उस विषय को उगल देना। वे प्रत्युत्तर में कठोर वाणी के द्वारा मां को दग्ध करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। अब भी मां के विवेक में उनकी अविचल आस्था ज्यों की त्यों बनी हुई थी। उन्होंने यही मान लिया कि 'मैथिली के मुख से जो कुछ निकल रहा है वह उनका कथन हो ही नहीं सकता। लगता है अन्तर्यामी प्रभु ही किसी योजना की पूर्ति के लिए उन्हें यहां से दूर बुलाना चाहते हैं।' वे तत्काल वहां से चलने का निर्णय लेते हैं; पर निर्णय किसी आवेशजन्य प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं था। गोस्वामी जी के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे केवल 'प्रभु प्रेरित' के रूप में कार्य कर रहे थे। सत्य तो यह है कि उनकी यही अविचल आस्था उन्हें टूटने या अशिष्ट होने से रोकती है। अन्याय और अनौचित्य के प्रति असहिष्णु लक्ष्मण इतने बड़े मर्मान्तिक आघात को जिस तरह झेल लेते हैं, वह प्रभु और मैथिली के प्रति अमानित्व की पराकाष्ठा का परिचायक है। वे प्रभु के पास जाने के पहले विदेहजा की रक्षा के लिए जिस रेखा का निर्माण करते हैं, उसकी विलक्षणता अप्रितम थी। उन्हें विश्वास था कि उनके द्वारा खींची गयी रेखा को लांघने की सामर्थ्य मानव, दानव और देवता किसी में नहीं है। पर उसकी यह विचित्रता थी कि मैथिली उसे लांघ सकती थीं। उन्होंने रेखा को ऐसे कारागार का रूप नहीं दिया था जिसमें विदेहजा वन्दिनी की भांति निवास करें। विदेहजा उनके लिए वन्दनीया हैं। वे केवल उनसे अनुरोध कर सकते हैं। उन्हें आदेश देने की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यह रेखा ही मैथिली की सारी कटूक्तियों का उत्तर थी। यह रेखा उनके अग्निमय पावन-चरित्र का ही प्रतीक थी, जिसे लांघना किसी के लिए सम्भव नहीं था। हां विदेहजा ने संशय के माध्यम से और बाद में रेखा लांघकर उन्हें वह सम्मान नहीं दिया जिसके वे वस्तुतः अधिकारी थे। उन्होंने सच्चे साधु लक्ष्मण पर अविश्वास किया और नकली साधु रावण के द्वारा ठगी गईं। अपरहण के क्षणों में उन्होंने पश्चात्ताप भरे स्वर में यह स्वीकार किया कि लक्ष्मण के प्रति कटूक्तियों का फल ही मैं पा रही हूं। गोस्वामी जी की पंक्तियों में मैथिली के अपरहण का चित्र इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

सीता परम रुचिर मृग देखा।
अंग अंग सुमनोहर वेषा ॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला।
एहि मृग कर अति सुन्दर छाला ॥
सत्य संध प्रभु बध कर एही।
आनहु चर्म कहत बैदेही ॥
तब रघुपति जानत सब कारन।
उठे हरषि सुर काज संवारन ॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा।
करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥
प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई।
फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥
सीता केरि करेहु रखवारी।
बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥

× × ×

आरत गिरा सुनी जब सीता।
कह लछिमन सम परम सभीता ॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता।
लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ॥
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।
सपनेहुँ संकट परइ कि सोई ॥
मरम बचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू।
चले जहाँ रावन ससि राहू ॥

× × ×

सून बीच दसकंधर देखा।
आवा निकट जती कें बेषा ॥
जाकें डर सुर असुर डेराहीं।
निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥
सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा।
रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥

नाना बिधि कर कथा सुहाई।
राजनीति भय प्रीति देखाई ।।
कह सीता सुनु जती गोसाईं।
बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ।।
× × ×
क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगनपथ आतुर भय रथ हांकि न जाइ ।।
× × ×
आरति हरन सरन सुखदायक।
हा रघुकुल सरोज दिन नायक ।।
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा।
सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोसा ।।

मां मैथिली का व्यवहार उनके प्रति भले ही निष्ठुर हो गया हो पर लक्ष्मण की श्रद्धा अविचल थी। उनका पता लगाने और लौटा कर पुनः ले आने की अभिलाषा और व्यग्रता का परिचय अनेक अवसरों पर मिला। सुग्रीव राज्य पाकर यदि मैथिली का पता लगाने के कार्य को भुला बैठा तो उसे दण्डित करने का कार्य वे प्रभु पर नहीं छोड़ना चाहते थे। राघव भी सुग्रीव को दण्ड देने के लिए ही प्रस्तुत थे पर इस कार्य को वे 'कल' पर टालना चाहते थे। किन्तु एक दिन की यह देर भी रामानुज के लिए असह्य थी। वे इसी क्षण दण्ड देना चाहते थे। उनके उतावलेपन को देखकर प्रभु को समझाना पड़ा कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए डराना भर यथेष्ट है। लक्ष्मण इससे सहमत भी हो गए :

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।।

आगे चलकर अनेक ऐसे पात्र सामने आते हैं जिनका चरित्र और स्वभाव रामानुज से सर्वथा भिन्न था, किन्तु लक्ष्मण ने उनके प्रति सम्बन्ध-निर्वाह में इसे आड़े नहीं आने दिया। सुग्रीव और विभीषण जैसे व्यक्ति इसी कोटि में आते हैं। सुग्रीव का दुर्बल चरित्र लक्ष्मण को प्रिय हो यह सम्भव नहीं था किन्तु उन्हें वे प्रभु के मित्र के रूप में सर्वदा सम्मान देते रहे। विभीषण के लिए तो वे जिस सीमा तक आगे बढ़े, वह विश्व इतिहास में अतुलनीय है। विभीषण और उनका मतभेद परिचय के प्रथम दिन में ही सामने आ गया। समुद्र पार करने की समस्या को लेकर विभीषण के द्वारा दी गई सम्मति को उन्होंने कायरता और क्लैव्य के रूप में देखा। रामभद्र के द्वारा विभीषण के मत का समर्थन किए जाने पर भी वे उसकी कठोर आलोचना से नहीं चूके। उत्तेजित स्वर में उन्होंने कहा कि "कायर और आलसी ही दैव की पुकार करते हैं। आप शर-सन्धान के द्वारा समुद्र को सुखा दीजिए।"

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥

किन्तु इस अप्रियता के कारण विभीषण की उपेक्षा तो दूर, अवसर आने पर उनके संरक्षण के लिए श्री लक्ष्मण प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं है। यद्यपि राम-चरितमानस में यह कहा कहा गया है कि मेघनाथ ने लंका के रणांगण में रामानुज पर शक्ति प्रहार किया और वे मूर्छित हो गए पर गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने इसे भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। मेघनाथ के आक्रोश के मुख्य पात्र विभीषण थे, इसलिए शक्ति प्रहार भी उन्हीं पर किया गया था। लक्ष्मण को उन क्षणों में यह स्मृति हो आई कि जब प्रभु ने विभीषण को शरणागत के रूप में स्वीकार करते हुए घोषणा की थी : 'रखिहउं ताहि प्रान की नाईं' और विभीषण को पीछे धकेल-कर वे शक्ति को स्वयं छाती में झेल लेते हैं।

मेघनाथ के उस शक्ति-प्रहार से उनका शरीर भले ही धूल-धूसरित हो गया हो किन्तु प्रभु की यश-पताका को उन्होंने लंका के रणांगण में धूल-धूसरित होने से बचा लिया। लक्ष्मण के इस उदार त्याग से विह्वल और असह्य पीड़ा से आक्रान्त प्रभु ने जो वाक्य कहे उन्हें गोस्वामी जी ने गीतावली के इस पद में प्रस्तुत किया है :

राम-लखन उर लाय लये हैं।
भरे नीर राजीव-नयन सब अंग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु-मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक-सखा भगति भायप-गुन चाहत अब अथए हैं॥
निज कीरत-करतूति तात! तुम सुकृती सकल जए हैं।
मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लए हैं॥
मेरे पन की लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति सांगि बिभीषन ही पर, सीपर आपु भए हैं॥
सुनि प्रभु बचन भालु-कपि-गन, सुर सोच सुखाइ गए हैं।
तुलसी आइ पवनसुत-बिधि मानो फिर निरमये नए हैं॥

प्रभु के अन्तःकरण में उन क्षणों में जिस नैराश्य और अवसाद का उदय हुआ उसकी तुलना उनके चरित्र के किसी प्रसंग से नहीं की जा सकती। महाराज श्री दशरथ की मृत्यु से भी वे शोकातुर हुए थे। प्रियतमा मैथिली के वियोग में वे उन्मत्त जैसे हो उठे थे। किन्तु लक्ष्मण के वियोग में उन्हें अपना जीवन जिस प्रकार व्यर्थ लगने लगा वैसी अनुभूति उन्हें कभी नहीं हुई। लक्ष्मण उनके लिए एक भाई

ही नहीं थे। बहुधा उन्होंने कई अवसर पर लक्ष्मण की तुलना में दूसरों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। किन्तु उसकी वास्तविकता इन क्षणों में सामने आ गई।

वे सराहनाएं इनके औदार्य की परिचायक मात्र ही नहीं थीं, सत्य तो यह है कि लक्ष्मण से बढ़कर उन्हें कोई प्रिय नहीं है। इसलिए व्याकुलता के इन क्षणों में जब बाह्य विवेक के सारे नियन्त्रण समाप्त हो गए, तब उन्हें लक्ष्मण के अभाव में सारा संसार सूना लगने लगा। यहां तक कि वे यह कह बैठे कि यदि मैं यह जानता कि वन में लक्ष्मण जैसे भाई का वियोग होगा तो मैं पिता की आज्ञा का भी तिरस्कार कर देता। इससे बढ़कर वे यह कह बैठते हैं कि यदि सीता और तुम्हारे बीच चुनाव होता तो मैं तुम्हें ही चुनता। इस तरह उन्होंने व्यवहार में जिस शिष्टता और मर्यादा से भरी वाणी का प्रयोग किया, उसका स्थान आज आन्तर सत्य ने ले लिया। मानस में प्रभु के विलाप का जो करुण-चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें यही तथ्य प्रत्येक वाक्य से प्रकट होता है :

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ जीव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कौन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं।
नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥

निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।।
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी।।
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई।।
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन।।

निराशा और व्याकुलता के इन चरम क्षणों में आंजनेय के आगमन से कौशल किशोर को अगाध आनन्द की अनुभूति हुई। इसीलिए लक्ष्मण के चैतन्य होने से पहले ही पवनपुत्र को वे हृदय से लगा लेते हैं:

प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।
आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस।।
हरषि राम भेंटेउ हनुमाना।
अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना।।
तुरत बैद तब कीन्ह उपाई।
उठि बैठे लछिमन हरषाई।।

लंका के युद्ध-विजय-श्री का सर्वाधिक भाग लक्ष्मण के ही पुरुषार्थ का परिचायक है। मेघनाद एक ऐसा अप्रतिम योद्धा था जो पूरे जीवन में कभी किसी से पराजित नहीं हुआ था। ऐसा दावा रावण के विषय में भी नहीं किया जा सकता था। रावण को अपने इस पुत्र पर जो अगाध विश्वास था वह यथार्थ तथ्यों पर ही आधारित था। उसके वध का महान् कार्य रामानुज को छोड़कर कौन कर सकता था। राघवेन्द्र इस विषय में पूरी तरह आश्वस्त थे इसीलिए उन्होंने निकुम्भिला स्थल पर लक्ष्मण को भेजते हुए निश्चयात्मक शब्दों में आदेश दिया:

तुम लछिमन मारेउ रन ओही।
देखि सभय सुर दुख अति मोही।।

रामानुज के आत्मविश्वास का तो कहना ही क्या! उन्हें अपनी विजय मे रंचमात्र सन्देह नहीं था। साक्षात् शंकर भी आज मेघनाद की रक्षा नहीं कर सकते, यह उनका उद्घोष था। उन्होंने प्रतिज्ञा की: "यदि आज मैं उसका वध न कर दूं तो प्रभु का सेवक न कहलाऊं, यदि सैकड़ों शंकर भी उसकी रक्षा करें तो भी मैं रघुवीर की शपथ लेता हूं कि उसका वध किये बिना न लौटूंगा।"

जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन।
कटि निषंग कसि साजि सरासन।।
प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा।
बोले घन इव गिरा गंभीरा।।

जौ तेहि आजु बधे बिनु आवौं।
तौ रघुपति सेवक न कहावौं॥
जौ सत संकर करहिं सहाई।
तदपि तहउँ रघुबीर दोहाई॥
रघुपति चरन नाइ सिरु चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल संग सुभट हनुमंत॥

उनका संकल्प साकार हुआ। मेघनाथ की मृत्यु ही लंका की वास्तविक पराजय थी। गोस्वामी जी का विनयपत्रिका में यह कथन सर्वथा सार्थक है जिसमें उन्होंने लक्ष्मण की भुजा की तुलना सेतु से करते हुए कहा कि लंका के युद्ध-समुद्र में प्रभु श्री लक्ष्मण की भुजा-रूपी सेतु के द्वारा ही पार जा सके।

जयति संग्राम-सागर-भयंकर-तरन, राम हित करण बर बाहु-सेतु॥

लंका-विजय के पश्चात् प्रभु प्रिया और इस अनोखे अनुज के साथ अवध की पावन भूमि में लौट आते हैं। उस अवसर पर अपने चरणों में प्रणत लक्ष्मण को देखकर महाभावमयी सुमित्रा अम्बा विह्वल हो उठी थीं। आशीर्वाद के स्थान पर लक्ष्मण को हृदय से लगाकर वे भाव-विभोर हो उठीं। उन्होंने लक्ष्मण को वनयात्रा के प्रारम्भ में जो उपदेश दिया था, वह सौमित्र के जीवन में अपने समग्र अर्थों में साकार हो चुका था। इससे बढ़कर सुमित्रा अम्बा के लिए गर्व की बात क्या हो सकती थी? इस रामानन्य पुत्र को हृदय से लगाकर वे स्वयं में भी गर्व का अनुभव करती हैं :

भेंटेउ तनय सुमित्रा राम चरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई हृदयँ बहुत सकुचानि॥

पर कैकेयी के प्रति उन्होंने जो सद्भाव प्रदर्शित किया वह कल्पनातीत था। श्री राम को देश निकाला देकर वे सारे अयोध्यावासियों की दृष्टि में घृणा की पात्र बन चुकी थीं। यहां तक कि पुत्र के होते हुए भी संत भरत ने जीवन में कभी उन्हें मां कहकर नहीं पुकारा, बात करना तो दूर की बात थी। ऐसी स्थिति में लक्ष्मण से व कैसे व्यवहार की आशा कर सकती थीं। साधारणतया ऐसी कल्पना होती है कि लक्ष्मण की दृष्टि में वे घोर घृणा और उपेक्षा की पात्र होंगी। राम का विरोधी उन्हें असह्य है, इसे कौन नहीं जानता। पर उनका व्यवहार सर्वथा आश्चर्यजनक सिद्ध हुआ। अन्य माताओं के हृदय से लगकर उन्होंने उन सबके प्रति अपना स्नेह और सम्मान प्रदर्शित किया; किन्तु कैकेयी अम्बा से वे बार-बार मिलते हैं। मां के प्रति उनकी दृष्टि सर्वथा भिन्न थी। वनगमन से जिस महान् उद्देश्य की सिद्धि हुई, वे उसके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। लंका में विश्व-द्रोही रावण को विनष्ट करने की जो अतुलनीय कीर्ति प्राप्त हुई थी, इसमें मुख्य सेतु कैकेयी हैं, ऐसी उनकी धारणा थी। उन्हें प्रभु की सेवा का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उसके लिए भी वे कैकेयी के प्रति कृतज्ञ थे। बार-बार वे उनके हृदय से लगकर अपनी भावना और कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं। इस प्रसंग में कैकेयी को जो कलंक और दुःख झेलना पड़ा है,

लक्ष्मण उसमें सहभागी बनना चाहते हैं। उन्हें लगता है मां के प्रति बड़ा अन्याय हुआ है। वे उसके परिमार्जन के लिए सचेष्ट थे। लक्ष्मण की कसौटी पर खरा उतरना बड़ा कठिन कार्य था। तत्कालीन बड़े से बड़े महापुरुषों की आलोचना में भी उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। पर इस अर्थ में अभागिनी के रूप में प्रसिद्ध कैकेयी अम्वा बड़ी सौभाग्यशालिनी निकलीं। वे रामानुज की दृष्टि में खरी सिद्ध हुईं। यह प्रसंग लक्ष्मण के संवेदनशील स्वभाव का एक अद्‌भुत दृष्टान्त है।

राम-राज्य की स्थापना के बाद प्रभु के धनुर्धर रूप का वर्णन मानस में नहीं किया गया। प्रभु को लगा होगा राष्ट्र की सुरक्षा के लिए एक ही धनुर्धर यथेष्ट है, वह हैं लक्ष्मण। वन से नगर में आकर भी उनके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे अब भी प्रभु के सतत सान्निध्य में ही रहे। यहां तक कि जब आंजनेय के द्वारा राम कथा का अद्‌भुत प्रवाह प्रवाहित होता था, तब भी श्रोता के रूप में केवल दो ही भाई होते थे :

भरत सत्रुहन दोनउ भाई।
सहित पवनसुत उपबन जाई॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा।
कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं।
बहुरि-बहुरि करि बिनय कहावहिं॥

लक्ष्मण की अनुपस्थिति का संकेत यही बताने के लिए है कि मौन वृत्ति की समग्र सार्थकता उन्हीं के जीवन में है। प्रभु के सभी भक्त महान् और धन्य हैं पर जो राम के लिए अनिवार्य है और जिनके अभाव में पूर्ण ब्रह्म भी अपूर्ण प्रतीत होता है ऐसे पात्र एकमात्र श्री लक्ष्मण हैं।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री शत्रुघ्न जी

मानस में शत्रुघ्न जी का परिचय 'भरतानुज' और 'लखन लघुभाई' दोनों ही रूपों में दिया गया है :

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे।
दुसह बिरह संभव दुख मेटे॥
× × ×
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥

वस्तुतः उनके व्यक्तित्व में श्री भरत की मौन समर्पण भावना और श्री लक्ष्मण की तेजस्विता एक साथ साकार हो उठी है। किन्तु उनमें दोनों विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का समन्वय होने पर भी वे मुख्यतः 'भरतानुगामी' ही हैं। मानस और विनयपत्रिका के वन्दना-प्रसंगों में गोस्वामीजी ने उनके इसी रूप को प्रधानता दी है :

रिपुसूदन पद कमल नमामी।
सूर सुसील भरत अनुगामी॥

विनय पत्रिका में कवि की भावना इन भाव भरे शब्दों में मुखर हुई है :

जयति जय शत्रु-करि-केसरी शत्रुहन, शत्रुतम-तुहिनपर किरणकेतू।
देव-महिदेव-महि-धेनु-सेवक सुजन, सिद्ध-मुनि-सकल-कल्याण हेतू॥
जयति सर्वाङ्ग सुन्दर सुमित्रासुवन, भुवन विख्यात भरतानुगामी।
वर्मचर्मासि-धनु-बाण-तूणीर-धर, शत्रु-संकट-समय यत्प्रणामी॥
जयति लवणाम्बुनिधि-कुंभसंभव महा, दनुज-दुर्जनदवन दुरितहारी॥
लक्ष्मणानुज, भरत-राम-सीता-चरण-रेणु-भूषित-भाल-तिलकधारी॥
जयति श्रुतिकीर्ति-वल्लभ सुदुर्लभ सुलभ, नमत नर्मद भुक्ति मुक्तिदाता।
दास तुलसी चरण-शरण सीदत विभो, पाहि दीनार्त्त-संताप-हाता॥

इन पंक्तियों में भरतानुगामित्व के साथ उनके नाम की सार्थकता पर विशेष बल दिया गया है। शत्रुघ्न शत्रुओं के लिए उसी प्रकार घातक हैं जैसे हाथी के लिए सिंह अथवा अन्धकार के लिए प्रकाश। यों प्रथम दृष्टि में यह नाम बड़ा विरोधाभासी-सा प्रतीत होता है। लगता है कि इस नाम की सार्थकता तो श्री लक्ष्मण के व्यक्तित्व में है। ओजस्विता और तेजस्विता के मूर्तरूप लक्ष्मण निश्चित रूप से इस नाम के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी थे, किन्तु त्रिकालज्ञ वशिष्ठ ने यह नाम उस पात्र को दिया जिसकी वीरता का कोई दृष्टान्त कम से कम रामचरित मानस में नहीं प्राप्त होता है। हां वे मन्थरा पर प्रहार करते हुए अवश्य दिखाई देते हैं। परन्तु कुबरी

पर उनके द्वारा किया गया प्रहार इस नाम की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं करता है। फिर गुरुदेव के द्वारा इस नामकरण का उद्देश्य क्या था ?

सम्भवतः गुरु वशिष्ठ इस नाम के माध्यम से उस अभाव की पूर्ति करते हैं जो शत्रुघ्न के घटना रहित जीवन के कारण उन्हें लोक-दृष्टि में उपेक्षा का पात्र बना सकता था। पूरे रामचरितमानस में मन्थरा प्रसंग के अपवाद को छोड़कर वे कहीं भी सामने नहीं आते। पूरे चरित्र में उनका महामौन आश्चर्य की सीमा तक पहुंचा हुआ है। क्या यह उनके चरित्र की नगण्यता का परिचायक है ? क्या उनमें स्वयं को अभिव्यक्त करने की कला का अभाव था, अथवा यह स्वेच्छा से स्वीकृत गोपन था ? गुरु वशिष्ठ के द्वारा किया गया नामकरण दूसरे मत का समर्थन करता है। स्वयं के गुणों की सही सन्दर्भ में अभिव्यक्ति बहुत बड़ी कला है, किन्तु सामर्थ्य होते हुए भी अपने आपको छिपा लेना और दूसरों को आगे कर देना इतनी बड़ी महानता है कि किसी भी गुण से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। श्री शत्रुघ्न जी इस महानता के सच्चे अधिकारी हैं। भले ही वे मानस-भवन पर अपनी आभा बिखेरते हुए दृष्टि-गोचर न हों पर जो आधार शिला की अगोचरता के गौरव से परिचित हैं उनके लिए शत्रुघ्न के महिमामय त्याग को समझ पाना कठिन नहीं होना चाहिए। अगणित युद्धों का विजेता भी अहं के सामने पराजित हो जाता है परन्तु शत्रुघ्न उस अहंकार को परास्त करने में समर्थ होते हैं। अतः शत्रुघ्न के नाम की सर्वाधिक सार्थकता 'लक्ष्मणानुज' में ही है। लगता है कि गुरु वशिष्ठ के द्वारा किए जाने वाले नामकरण के पीछे यही रहस्य था।

सत्य तो यह है कि यदि भगवान राम के वनगमन का प्रसंग न आता तो श्री भरत भी लोक-दृष्टि से उतने ही ओझल रहते जितने शत्रुघ्न रहे। आत्मगोपन और मूल समर्पण ही भरत का जीवन-दर्शन है। परिस्थितियों की बाध्यता उन्हें सामने आने और मुखर होने के लिए बाध्य करती है। शत्रुघ्न के सामने ऐसी कोई परिस्थिति न थी। श्री भरत को राम की छाया के रूप में प्रस्तुत किया गया है, 'भरतहि जानु राम परिछाहीं' कहकर बृहस्पति जी ने भयभीत इन्द्र को ढाढ़स बंधाने का प्रयास किया। यह उपमा शत्रुघ्न से अधिक किसी अन्य पात्र के लिए सार्थक नहीं हो सकती। वे वस्तुतः श्री भरत की छाया मात्र है।

केवल एक ही ऐसा प्रसंग है जहां पर वे प्रेममूर्ति भरत से भिन्न आचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। वह है मन्थरा पर उनके द्वारा किये जाने वाला प्रहार। उनका यह व्यवहार अन्याय के प्रति लक्ष्मण के आक्रोश की याद दिलाने वाला है। सम्भवतः इसीलिए महाकवि ने उस प्रसंग में 'लखन लघुभाई' के रूप में ही उनका स्मरण किया है :

लखि रिस भरेउ लखन लघुभाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥

श्री भरत की दया के साथ शत्रुघ्न के द्वारा दिया जाने वाला दण्ड सामाजिक

मर्यादा में सन्तुलन का परिचायक है। अनर्थ करने वाला दण्ड के अभाव में और भी अधिक प्रोत्साहन प्राप्त करता है। अयोध्या में घटित होने वाली सारी दुर्घटनाओं के मूल में मन्थरा की कुटिल प्रकृति ही कार्य कर रही थी। उसने जिस महान् अनर्थ की सृष्टि की उसके लिए किसी प्रकार का पश्चात्ताप भी उनके हृदय में नहीं था। जब सारी अयोध्या अनाथ की भांति बिलख रही थी, प्रजा शोक-संतप्त थी, राजमहल महाराज श्री रामभद्र के अभाव में भूत-भवन सा प्रतीत हो रहा था, उस समय मन्थरा का आचरण सारी सामाजिक मान्यताओं के प्रतिकूल था। भरत के ननिहाल के आगमन का समाचार सुनकर वह बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण करके आती है, क्योंकि उसे यह पूर्ण विश्वास था कि उसने भरत को सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाकर इतना बड़ा कार्य किया है जिससे उसे पुरस्कार और सम्मान से लाद दिया जाएगा। इस प्रकार की क्रूर हृदया नारी किस प्रकार के व्यवहार की अधिकारिणी थी ? निस्संकोच रूप में कहें तो वह प्राणदण्ड की ही पात्र थी। शत्रुघ्न के द्वारा दिया जाने वाला दण्ड तो प्रतीकात्मक मात्र था :

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघुभाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा।
परि मुँह भरि महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू।
दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥

दंडित होने पर भी मंथरा अपनी कुटिलता का परित्याग नहीं करती। प्रहार के क्षणों में भी उसके मुख से जो वाक्य निकलता है, वह उसकी घृणित मनोवृत्ति पर ही प्रकाश डालता है। उस समय भी वह कह उठती है : "हे देव ! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है जो अच्छा करते हुए उसका बुरा परिणाम प्राप्त हो रहा है।"

आह दइज मैं काह नसावा
करत नीक फलु अनइस पावा॥

अपनी भूल पर पश्चाताप के स्थान पर वह प्रवंचना को ही आगे बढ़ाना चाहती है। वस्तुतः यह वाक्य वह श्री भरत को सुनाना चाह रही थी। दंड श्री भरत की ओर से न होकर शत्रुघ्न की ओर से था, अतः वह इस वाक्य के द्वारा भी दोनों भाइयों में फूट ही उत्पन्न करना चाह रही थी। उसका तात्पर्य यह था कि महाराज भरत देखें कि उनको सिंहासन पर अभिषिक्त करने के लिए मैं कितना बड़ा कष्ट उठा रही हूं, दूसरी ओर लक्ष्मण का लघुभ्राता है जो आपके साथ रहकर भी आपकी पदोन्नति से प्रसन्न नहीं है। (हो भी कैसे, लक्ष्मण का सगा भाई जो ठहरा। उसे आपके अभिषेक की तुलना में अपने बड़े भाई का वनगमन अधिक दुखदायी प्रतीत

हो रहा है। आप मौन हैं इसी से प्रतीत हो रहा है कि आप मेरे कार्यों का मूल्यांकन करने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु यदि आपके देखते-देखते मेरे साथ इतना अन्याय किया जाय तो इससे बढ़कर आपका क्या अनादर हो सकता है ?) इस वाक्य को सुनते ही शत्रुघ्न के समक्ष मन्थरा की वीभत्स कुटिलता साकार हो उठी, उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि मन्थरा के व्यक्तित्व में नख से लेकर शिखा तक कुटिलता ही व्याप्त है। उससे सद्‌भाव या पाश्चाताप की आशा करना आकाश से दूध दोहने के समान असम्भव है। और तब वे उस कुटिला नारी पर पूरी तरह पिल पड़ते हैं :

सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी।
लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥

इस प्रकार मन्थरा को दंडित किया जाना अयोध्या के वातावरण को देखते हुए और भी अधिक आवश्यक था। उस समय अयोध्या के सारे वातावरण में शंका की एक गंध व्याप्त थी। बहुतों को यह सन्देह था कि सारी घटनाओं के मुख्य सूत्रधार श्री भरत ही हैं। मन्थरा और कैकेयी के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार लोगों की इस आशंका को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता। वस्तुतः शत्रुघ्न का यह कार्य लोक-दृष्टि की भ्रान्ति को दूर करने वाला भी सिद्ध हुआ। इससे संशय का कुहासा छंटने लगा। यद्यपि बाद में श्री भरत ने मन्थरा को दण्ड से मुक्ति दी पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे उसे दिये जाने वाले दंड से सर्वथा असहमत थे। यदि ऐसा होता तो वे प्रारम्भ में ही शत्रुघ्न को रोकने का प्रयास करते। वस्तुतः वे एक सीमा तक दंड देने से सहमत थे, किन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि वह दंड इस सीमा तक दे दिया जाय कि प्रभु के द्वारा उसके औचित्य पर अंगुली उठाई जाय। इसीलिए वे बाद में मन्थरा को छुड़ा देते हैं।

इसके पश्चात् वे सच्चे अनुगामी की भांति श्री भरत के मूक समर्थक के रूप में सामने आते हैं। श्री भरत के राज्यपद स्वीकार करने के पक्ष या विपक्ष में बोलते हुए भी वे नहीं दिखाई देते। चित्रकूट की यात्रा में भी उनका महामौन अक्षुण्ण है। वे पूरी तरह समर्पित भाव से उस निर्णय की प्रतीक्षा करते हैं जो उनके आचार्य और प्रभु के मध्य में स्नेह के दो पक्षों के रूप में छिड़ा हुआ था। श्री भरत ने प्रभु के समक्ष जो विकल्प प्रस्तुत किए थे उसमें एक यह भी था कि यदि प्रभु चित्रकूट से लौटना स्वीकार करें तो वे स्वयं (श्री भरत) और शत्रुघ्न उनके बदले वन में रहने के लिए कटिबद्ध हैं। श्री भरत ने बिना शत्रुघ्न की अनुमति लिए हुए जिस प्रकार उनकी ओर से स्वीकृत दे दी, वह उनकी और शत्रुघ्न की अभिन्नता का ही परिचायक है। और जब श्री भरत के अयोध्या लौटने का निर्णय हो जाता है तब बिना किसी ननु-नच के वे उनके साथ लौट आते हैं। श्री भरत के तपस्वी जीवन और राज्य संचालन में वे प्रतिक्षण उनके साथ हैं। रामराज्य की आधार शिला में जिन समर्पित व्यक्तियों ने स्वयं को नींव में अर्पित कर दिया, उनमें शत्रुघ्न अग्रगण्य

हैं। मानस में इसके पश्चात् शत्रुघ्न के जीवन की किसी घटना का उल्लेख नहीं है। पौराणिक कथाओं में वे तब अवश्य एक महान् योद्धा के रूप में सामने आते हैं जब मथुरा को लवणासुर के अत्याचार से मुक्त करने का कार्य उन्हें सौंपा जाता है। तब वे उसका वध कर मथुरा को मुक्त करने का श्रेय प्राप्त करते हैं। मथुरा राज्य के संचालन का भार भी प्रभु के द्वारा उन्हीं को दिया गया। युद्ध और राज्य-संचालन की यह घटनाएं इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं कि उनके जीवन का महामौन असामर्थ्य अथवा अयोग्यता से उत्पन्न नहीं था।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री हनुमान जी

'राम ते अधिक राम कर दासा' की उक्ति जितनी पवननन्दन श्री हनुमान जी में घटित होती है उतनी किसी अन्य भक्त में नहीं। भारतीय जनजीवन में पूर्णावतार श्री राम की अपेक्षा भी जिन्हें अधिक गौरव और स्नेह उपलब्ध है, वे सेवा-धर्म के साकार विग्रह आञ्जनेय ही हैं। विशाल नगरी से लेकर नन्हें से गांव तकमें स्थित सिन्दूर से लिप्त उनकी प्रतिमाएं इसी श्रद्धा-भावना की प्रतीक हैं। जिस प्रकार की विलक्षणताओं का समावेश श्री राघवेन्द्र के चरित्र में भी उपलब्ध नहीं होता है, उस प्रकार की अलौकिक गाथाएं उनके जन्म-कर्म के साथ जुड़ी हुई हैं। स्वयं गोस्वामी जी के सम्बन्ध में उपलब्ध जन-श्रुतियों में भी आञ्जनेय का उल्लेख आता है। कहा जाता है कि उन्हीं की प्रेरणा से वे चित्रकूट जाते हैं जहां उन्हें अपने प्रभु का साक्षात्कार होता है। श्री हनुमान जी के प्रति गोस्वामी जी की अगाध आदर-भावना का परिचय उनके ग्रन्थ 'विनयपत्रिका' में प्राप्त होता है। 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भ में वे जिन पात्रों की वन्दना करते हैं उनमें आञ्जनेय का स्थान सर्वोपरि है। ग्यारह पदों में की गई उनकी वन्दना शब्द-सौष्ठव, श्रद्धा एवं अपनत्व की दृष्टि से अनुपम है। श्री रामचरितमानस में प्रभु का जो अन्तिम चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें वे अपने सर्वाधिक अन्तरंग भक्तों से घिरे हुए उपवन में विराजमान हैं। श्री भरत के द्वारा बिछाए गए पीताम्बर पर श्रमित रामभद्र विराजमान थे। श्री भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न उनकी सेवा में संलग्न थे। आंखों में प्रेमाश्रु भरे हुए पुलकित पवननन्दन व्यजन डुला रहे थे। इस मधुर झांकी का चित्र प्रस्तुत करते हुए मानसाचार्य भगवान शंकर ने खुले शब्दों में घोषणा की कि हनुमान के समान भाग्यशाली कोई दूसरा भक्त नहीं है जिनकी प्रीति और सेवा की सराहना प्रभु स्वयं श्री मुख से करते हैं :

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई।
गए जहां सीतल अँबराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई।
बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुतसुत तब मारुत करई।
पुलक बपुष लोचन जल भरई॥
हनुमान सम नहिं बड़ भागी।
नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई।
बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

प्रस्तुत पंक्तियों का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि वे ऐसे समय में कही गई हैं जब श्री भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न जैसे महानतम पात्र वहां विद्यमान हैं। आञ्जनेय की सेवा-भावना की समग्रता पर विचार करते हुए इन पंक्तियों की सार्थकता को हृदयंगम किया जा सकता है। जहां तक सेवा-भाव की पूर्णता का सम्बन्ध है, आञ्जनेय भरत और लक्ष्मण से भी आगे हैं, यह असंग्दिध शब्दों में कहा जा सकता है।

श्री भरत और लक्ष्मण भगवान राम से भ्रातृत्व के सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं, अतः उन दोनों की सेवा-भावना कर्तव्य के नाते भी आवश्यक थी।

आञ्जनेय के साथ इस प्रकार की कोई बाध्यता नहीं थी। भौतिक जगत की दृष्टि से उनमें और राघवेन्द्र में देश, जाति और वर्गगत दूरियां विद्यमान थीं। वे प्रारम्भ से ही रामभद्र के सहचर नहीं हैं। वैदेही के अन्वेषण-काल में विरह व्याकुल राम से उनका मिलन होता है। पर एक क्षण के मिलन में ही प्रभु उनसे इतने अधिक अपनत्व का अनुभव करने लगे कि ऐसा लगा ही नहीं कि वे प्रथम बार मिल रहे हैं। उस समय उनके मुख से एक वाक्य निकला 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना' और अञ्जनानन्दन ने अपनी सेवा के द्वारा इसकी सार्थकता सिद्ध कर दी।

मानस में उनका प्रथम चित्र सुग्रीव के सचिव के रूप में आता है। बालि और सुग्रीव के संघर्ष में बहुत थोड़े-से बन्दर सुग्रीव के साथ रह गए थे। अधिकांश बन्दर विजेता बालि के साथ थे। पराजित और संत्रस्त सुग्रीव का साथ न छोड़ना भी पवनपुत्र के चरित्र की दृढ़ता को प्रकट करता है। उन्हें जो उचित और न्यायपूर्ण प्रतीत होता है, उसका पक्ष लेकर संरक्षण के लिए सन्नद्ध रहना उनके चरित्र में सर्वत्र परिलक्षित होता है। सुग्रीव के चरित्र में यद्यपि अनेक दुर्बलताएं विद्यमान हैं, पर उनका सर्वाधिक विश्वास आञ्जनेय पर है। इसे प्रारम्भ से लेकर बाद में घटित होने वाली सभी घटनाओं में देखा जा सकता है। सुग्रीव और आञ्जनेय की मित्रता के पीछे पौराणिक रहस्य इस प्रकार है :

रावण के वध के लिए जो अवतार होने वाला था, उस कार्य में सहयोग देने के लिए ब्रह्मा ने देवताओं को यह आदेश दिया कि वे ही बानर-शरीर में जन्म लेकर इस कार्य में ईश्वर के सहभागी बनें। प्रत्येक देवता इस आज्ञा को शिरोधार्य कर मर्त्यलोक में जन्म लेता है। बालि इन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है और सूर्यांश से सुग्रीव जन्म लेते हैं। पवननन्दन को एक साथ दो का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। उन्हें शंकर का अवतार माना जाता है पर साथ ही वे पवनपुत्र भी हैं। इस कथा का विचित्र पक्ष यह कि यद्यपि बालि और सुग्रीव सगे भाइयों के रूप में जन्म लेते हैं और बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक दोनों में प्रगाढ़ प्रीति थी; पर बाद में दोनों महान् शत्रु बन जाते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में ही इस कथा के तात्त्विक मर्म को हृदयङ्गम किया जा सकता है। देवता पुण्य के प्रतीक हैं, किन्तु वे अपनी सामर्थ्य के द्वारा पाप के प्रतीक रावण को पराजित नहीं कर पाते हैं। अतः इसके

लिए वे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। ईश्वर आकाशवाणी के माध्यम से उन्हें वरदान देता है कि वह अवतरित होकर रावण का वध करेगा। किन्तु ईश्वर की शरणागति और उसके आश्वासन का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए। भले ही सब कुछ ईश्वर के द्वारा सम्पन्न होता हो पर साधक को स्वयं भी अपनी क्षमता भर इस कार्य में सहयोगी बनना होगा। इसी दृष्टि से विवेक के देवता ब्रह्मा ने देवताओं को यह प्रेरणा प्रदान की थी कि वे भी जन्म लेकर अपनी सार्थकता सिद्ध करें। इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है। स्वर्ग जहां भोगों का बाहुल्य है और जिस स्वर्ग में पहुंचकर व्यक्ति अपने पुण्य के परिणामस्वरूप विविध प्रकार के भोगों को भोगता है। और जब पुण्य की पूंजी समाप्त हो जाती है तब पुनः नीचे की ओर ढकेल दिया जाता है। अतः यों कह सकते हैं कि इन्द्र उस दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है जो भोगों को सुख का केन्द्र मानता है और सत्कर्म के माध्यम से भोगों की उपलब्धि को अपना लक्ष्य मानता है। किन्तु आध्यात्मिक दर्शन यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि इस प्रकार उपलब्ध भोग स्थायी सुख के हेतु नहीं बन सकते। अतः उनकी मान्यता यह है कि सत्कर्म के परिणामस्वरूप जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब साधक को ज्ञान की उपलब्धि होती है। सूर्य इसी विचार का प्रतिनिधित्व करता है। वह प्रकाश का प्रतीक है और ब्रह्मचारी ज्ञान की उपलब्धि के लिए उसकी उपासना करता है। रावण उस भोगवादी दर्शन का प्रतीक है जो देवताओं की ही भांति भोगों को सुखोपलब्धि का साधन मानता है। किन्तु जहां देवता उन्हें पाने के लिए सत्कर्म का आश्रय लेता है वहां राक्षस इस प्रकार की कोई मर्यादा स्वीकार नहीं करता, और चाहे जैसे भी हो भोगों को पा लेना चाहता है। इस संघर्ष में बहुधा राक्षस ही विजयी होते हैं। ईश्वर का आश्रय लेकर ही इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। राक्षस-वध की अनिवार्यता सभी सत्कर्म परायण साधक स्वीकार करते हैं। इसलिए प्रारम्भ में सूर्य और इन्द्र दोनों साथ दिखाई देते हैं। इन्द्रांश से सम्भूत बालि बड़े भाई के रूप में जन्म लेता है और सूर्यांश से उत्पन्न सुग्रीव लघु भ्राता के रूप में अवतरित होता है। इससे ऐसी भ्रान्ति होती है कि भोग-परायण इन्द्र ज्ञानमय सूर्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है, पर यह यथार्थ नहीं है। इन्द्र पदलिप्सु है जब कि सूर्य में इस आकांक्षा का अभाव है।

सुग्रीव जब तक बालि का अनुवर्त्ती रहता है तब तक किसी प्रकार की समस्या का जन्म नहीं होता। किन्तु ज्यों ही बालि को यह प्रतीत होता है कि सुग्रीव उसके सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है त्यों ही वह उसका शत्रु बन बैठता है। भोग-परायण व्यक्ति अपने अधिकार का अतिक्रमण नहीं सह पाता इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए बालि सुग्रीव के सर्वस्व का अपरहण कर लेता है और उसे किष्किन्धा से बाहर निकाल देता है। आञ्जनेय शंकरावतार होने के कारण भगवत् विश्वास के घनीभूत रूप हैं। ऐसी स्थिति में वे किसका साथ दें? निर्विवाद रूप से वे निर्बल सुग्रीव का पक्ष लेते हैं। पुण्य के भोगवादी दर्शन का साथ वे दे भी कैसे सकते हैं?

वैराग्य उनका सहज स्वभाव है। वैराग्य ज्ञान का साथ दे यही स्वाभाविक भी है। भावनात्मक दृष्टि से निर्बल ही बहुधा विश्वासपरायण देखे जाते हैं। स्वयं को सफल समझने वाला व्यक्ति भगवत् विश्वास की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करता है। इसीलिए बालि आञ्जनेय की उपेक्षा करता हैं। पराजित सुग्रीव भगवत् विश्वास के घनीभूत रूप हैं। वे पवनपुत्र का परित्याग नहीं करते, यही उनकी सबसे बड़ी सफलता है। बाल्यावस्था में पवनपुत्र ने सूर्य से विद्या प्राप्त की थी और गुरु दक्षिणा में सूर्यपुत्र सुग्रीव की रक्षा का वचन दिया था। अतः सुग्रीव के प्रति उनका सद्भाव कृतज्ञता से प्रेरित भी है। बालि और आञ्जनेय में किसका बल अधिक था यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है। वाल्मीकि रामायण में यह प्रश्न रामभद्र ने महर्षि अगस्त्य से किया था क्योंकि उनकी धारण थी कि अञ्जनानन्दन की तुलना में बलवान योद्धा विश्व के इतिहास में हुआ ही नहीं। और यदि वे बालि की तुलना में अधिक बलवान थे तो उन्होंने बालि को दण्ड देकर सुग्रीव की रक्षा क्यों नहीं की ? महर्षि अगस्त्य इसका उत्तर देते हुए स्वीकार करतेहैं कि आञ्जनेय बल में अतुलनीय हैं पर मुनियों के श्राप के कारण अपना बल वे भूले रहते थे। इसीलिए वे बालि के अत्याचार से सुग्रीव की रक्षा नहीं कर पाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इसकी व्याख्या यों की जा सकती है कि भौतिक बल से संयुक्त व्यक्ति का बल प्रत्यक्ष रहता है, किन्तु भगवत्-विश्वास का बल लोक में अप्रत्यक्ष होता है। स्मृति के माध्यम से ही भगवत्-विश्वास में सक्रियता आती है । दूसरी ओर बालि जहां स्वयं के बल का विज्ञापन करता है, आञ्जनेय इस आकांक्षा से सर्वथा मुक्त हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर के प्रति समर्पित भक्त के रूप में देखना चाहते हैं। इसीलिए वे सुग्रीव को संरक्षण प्रदान करते हुए भी स्वयं बालि के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ नहीं करते। वे उस उचित अवसर की प्रतीक्षा में थे जब सुग्रीव को श्री राम की कृपा का पात्र बना सकें। सुग्रीव के अन्तर्मन में भी आञ्जनेय के प्रति प्रगाढ़ आस्था विद्यमान थी और चिरप्रतीक्षित वेला आ पहुंची। राम और लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वत के सन्निकट पहुंच गए किन्तु सुग्रीव का भयभीत मन उन्हें नहीं पहचान पाया। उसे यही लगा कि वे बालि के द्वारा भेजें गए राजकुमार हैं, जो उसका संहार करने के लिए आ रहे हैं। दुर्भाग्यवश यदि सुग्रीव ने अपनी ही दृष्टि पर विश्वास किया होता तो वे वहां से भाग खड़े होते; पर वे पवनपुत्र की सम्मति के बिना कोई कार्य नहीं करते हैं। अतः उन्होंने आञ्जनेय से यह अनुरोध किया कि वे यह पता लगावें कि वे दोनों राजकुमार कौन हैं ? इसके लिए हनुमान जी ने ब्राह्मण-वेष का आश्रय लिया। उनकी अनेक विलक्षताओं में एक विशेषता है 'रूप परिवर्तन की कला'। वे चाहे जब जैसा रूप बना लेते हैं । सारे बन्दरों में एकमात्र वे इस कला के निष्णात आचार्य थे।

इस कामरूपता का रहस्य क्या था ? योगशास्त्र की दृष्टि से योगियों को जो सिद्धियां उपलब्ध होती हैं उनमें से एक यह भी है। सारी नामरूपात्मक सृष्टि ही

ईश्वर के संकल्प का परिणाम है। निर्गुण निराकर होते हुए भी वह अनेकों आकारों की सृष्टि कर देता है । ईश्वर से एकत्व प्राप्त कर लेने वाला योगी भी इसी सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। वह स्वयं को चाहे जो आकृति प्रदान कर सकता है। आञ्जनेय का मन पूरी तरह प्रभु से तदाकार है। अतः उनके लिए विविध वेष बना लेना सर्वथा सरल है। यों कोई भी एकाग्रता के अभ्यास द्वारा इस प्रकार की क्षमता प्राप्त कर सकता है। रावण भी इस क्षमता को हस्तगत कर चुका है। पर उसका दुरुपयोग ही उसे विनाश के गर्त में फेंक देता है। वह साधु-वेष में मिथिलेशनन्दिनी का अपहरण करके अपनी दूषित मनोवृत्ति का परिचय देता है। अंजनानन्दन अपनी इस क्षमता का उपयोग सर्वथा सत्कार्य में ही करते हैं। यहां भी उसका सदुपयोग ईश्वर का स्वरूप जानने के लिए किया गया। प्रथम मिलन में ही प्रभु उनकी इस क्षमता से इतने प्रभावित हुए कि जब उन्हें लंका-विजय के पश्चात् श्री भरत तक सन्देश पहुंचाने की आवश्यकता का बोध हुआ, तब उन्होंने यह भार तो पवनपुत्र को सौंपा ही, पर साथ-ही-साथ यह भी कहा कि वे बटु रूप में आयोध्या जाकर यह कार्य सम्पन्न करें :

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई।
धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥
भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु।
समाचार लै तुम्ह चलि आएहु॥

सुग्रीव भी उनकी इस क्षमता से पूरी तरह परिचित थे। इसीलिए उन्होंने भी आञ्जनेय को भेजते हुए उनसे ब्राह्मण-वेष में जाने के लिए कहा :

आगे चले बहुरि रघुराया।
रिष्यमूक पर्वत निअराया॥
तहं रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगुल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियं सयन बुझाई॥

प्रभु के सन्निकट पहुंचकर वे पहली ही दृष्टि में उनके स्वरूप को समझने में सफल हो जाते हैं। यह उनकी ज्ञानमयी दृष्टि का प्रमाण था। मानस में उन्हें ज्ञानियों का सिरमौर बताया गया है। भौतिक जगत के पदार्थों को देखने के लिए जिस प्रकार की दृष्टि चाहिए, वह तो अनगिनत लोगों को प्राप्त है, पर ईश्वर को देखने के लिए जिस दृष्टि की अपेक्षा है वह विरले महापुरुषों को ही प्राप्त होती है। निर्गुण निराकर ब्रह्म के तत्त्व को समझ लेना बहुत कठिन नहीं है पर निर्गुण जब सगुण के रूप में अभिव्यक्त होता है तब उसकी लीलाएं बड़े-बड़े मुनियों को भी

भ्रान्त बना देती हैं। इसी तथ्य को उत्तर काण्ड की इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है :

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण न जानइ कोइ।
सगुण अगुण नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

यहां तो इस प्रकार के भ्रम की सम्भावना और भी अधिक थी क्योंकि प्रभु उन क्षणों में आञ्जनेय से मिले थे जब वे अपने चरित्र के द्वारा विरहजन्य व्याकुलता और दीनता का प्रदर्शन कर रहे थे। ऐसे व्यक्ति को कौन ईश्वर स्वीकार कर लेगा जिसकी पत्नी का अपहरण एक राक्षस ने कर लिया हो और वह विरहातुर होकर वन-वन भटक रहा हो। आञ्जनेय के द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर भी प्रभु ने अपना जो परिचय उन्हें दिया वह भ्रान्ति को बढ़ावा देने वाला ही था। वे अपना परिचय ऐसे राजकुमार के रूप में देते हैं जिसे पिता के आदेश से वन में आना पड़ा है और जो वन में भी संकटों से घिर गया है। किन्तु इस प्रकार का विपरीत परिचय भी उन्हें भ्रान्ति में डालने में समर्थ नहीं होता। वे ईश्वर को पहचान लेते हैं। और प्रभु के चरणों में लिपट जाते हैं :

कोसलेस दसरथ के जाए।
हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई।
संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही।
बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥
आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥
प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

वन्दना-प्रसंग में उनके जिन गुणों का स्मरण गोस्वामी जी ने किया है, उसमें उन्हें 'ज्ञान घन' का विशेषण दिया गया है। इसकी सार्थकता प्रस्तुत प्रसंग में देखी जा सकती है। ईश्वर के प्रसिद्ध लक्षणों में से एक भी ऐसा नहीं था जो रामभद्र के द्वारा दिए गए उनके परिचय में प्राप्त हुआ हो। फिर भी उन्हें पहिचान कर पकड़ लेना ज्ञान-घन के लिए ही सम्भव था। सबसे बड़ी बात जिस पर अंजानन्दन की दृष्टि गई, वह यह थी कि प्रभु ने स्वयं को ईश्वर सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया। अपितु स्वयं को एक साधारण राजकुमार के रूप में ही प्रस्तुत किया। यह निरपेक्षता ब्रह्म के स्वरूप के अनुरूप ही थी। व्यक्ति स्वयं को बड़ा सिद्ध करने के लिए व्यग्र रहता है। इसके लिए वह कोई अवसर नहीं चूकना चाहता। किन्तु पूर्ण में इसकी कोई अपेक्षा हो भी कैसे सकती थी। परशुराम ने श्री राम से यही कहा कि आपने शिव-धनुष तोड़ कर अपने महान् पौरुष का परिचय दिया है। अब आप

यदि विष्णु-धनुष को भी चढ़ाने में समर्थ होते हैं तो मैं आपको अवतार के रूप में स्वीकार कर लूंगा। विष्णु-धनुष को परशुराम के हाथ से लेने की कोई चेष्टा भगवान् राम की ओर से नहीं हुई। इससे पहले शिव-धनुष के संदर्भ में यही सत्य सामने आता है। मैथिली के प्रति प्रगाढ़ अनुराग होते हुए भी श्री राम ने धनुष तोड़ने की कोई व्यग्रता प्रदर्शित नहीं की। वे प्रशान्त भाव से सारा दृश्य देखते रहे। दोनों प्रसंगों का तात्पर्य प्रभु की पूर्णता की ओर इंगित करता है। शिव धनुभँग में जहां गुरुदेव का आदेश कारण बना वहां परशुराम के प्रसंग में धनुष स्वयं ही प्रभु के हाथों में पहुंच जाता है। धनुष तोड़ने या न खींचने से उनकी पूर्णता में कोई अन्तर नहीं आने वाला है। ईश्वरत्व की सिद्धि किसी प्रमाण-पत्र के द्वारा नहीं होती। फिर प्रमाण पत्र देने वाला प्रमाणित किए जाने वाले की तुलना में श्रेष्ठ होना चाहिए। अपूर्ण परशुराम का प्रमाण-पत्र पूर्ण की पूर्णता को प्रमाणित करे, यह सर्वदा हास्यास्पद है। हां, धनुष अपनी अपूर्णता को जानता है, अतः वह यह सिद्ध करने के लिए व्यग्र हो जाता है कि मैं इनका हूं :

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के॥
राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहि चलि गयऊ॥
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥
जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदयं न प्रेमु अमात॥

जनक और परशुराम दोनों ही उस समय के महान् व्यक्ति थे। दोनों के द्वारा ईश्वर की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए प्रयास किया गया किन्तु आञ्जनेय में उसका सर्वथा अभाव है। वे अप्रमेय को किसी प्रमाण के द्वारा प्रमाणित करने की भूल नहीं करते हैं। वे भली प्रकार जानते हैं कि तात्त्विक दृष्टि से कोई भी विधिमूलक लक्षण ब्रह्म का हो ही नहीं सकता। इसलिए श्रुतियां नेति-नेति कहकर उसका प्रतिपादन करती हैं :

नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानन्द निरूपाधि अनूपा॥
× × ×
मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई।
जो तिहुं काल एक रस अहई॥

परशुराम और जनक की तुलना में रुद्रावतार हनुमान का ज्ञान अधिक उत्कृष्ट

हो, यह आश्चर्यजनक नहीं है, शंकरावतार होने के नाते वे विश्वास के घनीभूत रूप हैं। निर्गुण को नेति के रूप में जाना जाता है और सगुण साकार तर्क के स्थान पर प्रीति और विश्वास का विषय हैं। अतः दोनों ही दृष्टियों से आञ्जनेय उन्हें पहचान लेते हैं। ब्रह्म के रूप में जहां वे उन्हें दूर से ही प्रणाम करते हैं, वहां सगुण साकार परिचय का अन्त 'परेउ गहि चरना' से होता है। 'चरन परेउ' का प्रयोग अनेक प्रसंगों में किया गया है परन्तु 'चरन परेउ' के साथ-साथ 'गहि' शब्द का विशेष महत्व है। अन्यत्र केवल 'चरन परेउ' का ही प्रयोग है:

अस कहि परेउ चरन अकुलाई।
निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई॥

× × ×

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

'गहि' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ रखता है। ब्रह्म मन, बुद्धि, बाणी से पकड़ में नहीं आता है ऐसी दार्शनिक मान्यता है। पवननन्दन 'गहि' के द्वारा प्रभु के द्वारा दिए जाने वाला परिचय का विनोद-भरा भावात्मक उत्तर देते हैं। मानो उनका संकेत यह था कि प्रथम प्रतिपाद्य ब्रह्म को केवल दूर से ही प्रणाम किया जा सकता था किन्तु इस नवीन परिचय से हमारा साहस बढ़ा है और यह ईश्वर पकड़ में आने योग्य है। आज जीव और ईश्वर के बीच की दूरी समाप्त हो गई है। जीव सन्निकट आने में समर्थ हुआ। वे ईश्वर से अपनी ओर से आवरण दूर करने की प्रार्थना करते हैं। साथ ही उन्होंने यह प्रार्थना भी की कि भले ही जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तब दोनों एक दूसरे का परस्पर परिचय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं पर इस प्रक्रिया का पालन आपके लिए उपयुक्त नहीं है। आवरण ग्रस्त जीव से मायानाथ का यह खेल न्यायपूर्ण नहीं है:

मोर न्याउ मैं पूंछा साईं।
तुम्ह पूंछहु कस नर की नाईं॥
तब माया बस फिरेउँ भुलाना।
ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एकु मंद मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें।
सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तब माया मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥

इस तरह वे ज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति में होते हुए भी भक्ति और प्रीति की आवश्यकता पर बल देते हुए दिखाई देते हैं। उनकी यह विनम्रता उनके ज्ञान को

और भी गौरवशाली बना देती है। वे यह प्रदर्शित करने की धृष्टता नहीं करते कि उनके पास ऐसी दिव्य दृष्टि है जिसे प्रभु भी आवृत नहीं कर पाये। अपितु वे भक्ति की आवश्यकता के साथ यह भी प्रार्थना करते हैं कि वे भक्ति का स्वरूप नहीं जानते हैं। भावनात्मक दृष्टि से वे अपने और ईश्वर के बीच में मां और पुत्र के नाते की भावना करते हैं। एक नन्हा बालक जैसे मां के भरोसे निश्चित रहता है, वैसी ही मनःस्थिति की अनुभूति वे स्वयं अपने आप में करते हैं :

ता पर मैं रघुबीर दोहाई।
जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

इस नम्रता भरी प्रार्थना के पश्चात् उनका और भी एक रूप सामने आता है जब वे राघवेन्द्र और शेषावतार लक्ष्मण से अपने स्कंध पर आरूढ़ होने का अनुरोध करते हैं। यह उनके शौर्य-सम्पन्न पुरुषार्थमय स्वरूप का साक्षात्कार था। साधारण प्रतीत होने वाली इस घटना में ही उनके असाधारण सेवा-भाव का सत्य सामने आ जाता है। लक्ष्मण, रामभद्र के महानतम सेवक हैं। परन्तु उनके लिए प्रभु को छोड़-कर किसी अन्य की सेवा कर सकना सम्भव नहीं है। भले ही स्वयं प्रभु ही इसका आदेश क्यों न दें। इसलिए वनयात्रा के प्रसंग में प्रभु के द्वारा दिए गए गुरुजनों की सेवा के आदेश को वे अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है कि वे गुरु, पिता, माता किसी को नहीं जानते :

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहहुँ सुभाइ नाथ पति आहू॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरयामी॥

इससे सर्वथा भिन्न समस्या श्री भरत के सामने है। वे स्वभाव से इतने अधिक संकोची हैं कि रामभद्र के सन्निकट रहकर उनकी व्यक्तिगत सेवा नहीं कर पाते। वे उनके आदेश का पालन करते हुए गुरुजनों की ही नहीं, सारी प्रजा की सेवा करते हैं। उनके गुणों का विकास राघवेन्द्र से दूर रहकर ही हो पाता है। इस तरह श्री लक्ष्मण और भरत सेवा के एक ही पक्ष का निर्वाह कर पाते हैं।

सेवा की समग्रता तो केवल पवनपुत्र में ही है। वे प्रभु और उनके भक्तों की सेवा समान रूप से करने में सफल होते हैं। प्रभु के सन्निकट रहकर भी वे उतने ही प्रकाशित होते हैं जितने उनसे दूर जाकर। वे संकोची हैं पर इतने नहीं कि प्रभु की व्यक्तिगत सेवा से वंचित रहें। वे प्रहरी, वाहन और चरण-सम्वाहक के रूप में सन्निकट रहकर सेवा करते दिखाई देते हैं, और दूर जाकर तो उन्होंने इतने असंभव कार्य सम्भव कर दिखाए जिनकी गणना भी कठिन है। उनके सुपुष्ट स्कन्ध भक्त और भगवान् का भार समान रूप से उठा सकते हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म का

समन्वय उनमें साकार हो रहा है। प्रथम मिलन के कुछ क्षणों में ही यह सत्य सामने आ जाता है।

आंजनेय मध्यस्थ के रूप में सुग्रीव और श्री राम की मैत्री सम्पन्न कराते हैं। इस संदर्भ में भी उनकी भूमिका एकपक्षीय नहीं है। लक्ष्मण के द्वारा जहां केवल राघवेन्द्र का पक्ष उपस्थित किया जाता है और मैत्री के अवसर पर वे प्रभु का इतिहास प्रस्तुत करते हैं वहां हनुमान जी के द्वारा 'उभयदिसि' की कथा सुनाई जाती है :

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

× × ×

कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।
लछिमन रामचरित सब भाषा॥

मध्यस्थ की उनकी यह भूमिका बड़े काम की सिद्ध होती है। बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव सिंहासनासीन किए जाते हैं। किन्तु राज्य पाकर उन्हें अपने कर्तव्य की विस्मृति हो जाती है। मैथिली का पता लगाना तो दूर उन्हें विषय-सेवन से इतना भी अवकाश प्राप्त नहीं होता कि वे प्रवर्षण पर्वत पर निवास कर रहे रामभद्र का दर्शन करने जा सकें। इस विस्मृति से प्रभु का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। धर्म-संरक्षण के लिए उनका अवतार हुआ है। बालि-वध के प्रसंग में बालि और प्रभु दोनों ने इसे स्वीकार किया था। बालि को धर्म के विरुद्ध आचरण के लिए ही दण्डित किया गया था। सुग्रीव के द्वारा किये जाने वाला व्यवहार भी मैत्रीधर्म के सर्वथा प्रतिकूल था। यह कृतघ्नता की पराकाष्ठा थी। इसलिए प्रभु के द्वारा क्रुद्ध स्वर में घोषणा की जाती है कि जिस बाण से मैंने बालि को दण्ड दिया था, उस मूर्ख सुग्रीव का वध भी उसी बाण से कल कर दूंगा :

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

लक्ष्मण इस घोषणा का स्वागत करते हैं। पर इस कार्य को कल पर टालना उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए वे यह आदेश मांगते हैं कि उन्हें अभी इस कार्य को सम्पन्न करने की आज्ञा प्रदान की जाय। किन्तु प्रभु को यह अभीष्ट भी तो नहीं था। वे एक योग्य चिकित्सक की भांति सुग्रीव को मानस रोग से मुक्त करना चाहते थे। वैद्य में रोगी से बदला लेने की भावना नहीं होती। उसकी कठोरता भी रोगी को स्वस्थ बनाने के लिए ही होती है।

कभी-कभी रोगी चाहकर भी कुपथ्य का परित्याग नहीं कर पाता है। वह यह सोचकर आत्म-प्रवंचना में रत हो जाता है कि औषधि तो चल ही रही है, अतः

कुपथ्य में कोई विशेष हानि नहीं है। औषधि के समान पथ्य भी परम आवश्यक है। ऐसी स्थिति में कुपथ्यरत रोगी को चिकित्सक मृत्यु भय दिखाकर ही उससे विरत करता है। ठीक यही मनःस्थिति यहां पर थी। सुग्रीव को प्रभु के जिस कृपामय स्वभाव का परिचय प्राप्त हुआ था उसी औषधि के सहारे वे निश्चिन्त होकर विषय-सेवन रूपी कुपथ्य में निमग्न हो जाते हैं। अतः प्रभु को लगा कि सुग्रीव को इससे मुक्त करने के लिए भय दिखाने की आवश्यकता है। क्रुद्ध लक्ष्मण को प्रभु स्नेह से यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि वस्तुतः उनका उद्देश्य सुग्रीव को दण्डित करना नहीं है। लक्ष्मण को चाहिये कि वे सुग्रीव को डराकर उनके पास ले आवें :

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥
तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुनासींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

किन्तु लक्ष्मण के पहुंचने के पहले ही यह कार्य पूरा किया जा चुका था। इसे सम्पन्न करने की भूमिका नीतिज्ञ पवननन्दन के द्वारा सम्पन्न होती है। उनका श्री रामभद्र से परिचय अल्पकालीन था। सुग्रीव के राज्याभिषेक के पश्चात् उन्हें प्रभु के समीप रहने का अवसर भी प्राप्त नहीं हुआ।

यह कम आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होता कि प्रभु का इतना बड़ा अनन्यानुरागी पूरे वर्षा काल में उनसे दूर रहा। वे सुग्रीव के समान विषयरत तो हैं ही नहीं, फिर उनके समक्ष ऐसी कौन-सी बाधा थी जिसने उन्हें रामभद्र के सामीप्य से वंचित रक्खा। इसके दो ही कारण हैं। आंजनेय के चरित्र में अनुशासन की ऐसी पराकाष्ठा है जिसकी तुलना श्री भरत को छोड़कर किसी अन्य पात्र से की ही नहीं जा सकती है। चित्रकूट से लौटने के पश्चात् श्री भरत का पुनः उनके दर्शन के लिए चित्रकूट न जाना अनुशासन के गौरव को ही प्रकट करता है। इसकी पराकाष्ठा आगे चलकर तब दिखाई देती है जब लक्ष्मण की मूर्छा का समाचार सुनकर भी श्री भरत सेना लेकर लंका की ओर प्रस्थान नहीं करते हैं। यद्यपि इस समाचार से वे इतने अधिक व्यथित और व्याकुल हुए थे कि स्वयं को रोक पाना उनके लिए अत्यन्त कठिन था पर वे एक आज्ञाकारी सेवक की भांति सेवा-धर्म का निर्वाह करते हुए प्रजा के संरक्षण में ही संलग्न रहते हैं। आंजनेय का स्वभाव भी इसी प्रकार का है।

राज्याभिषेक के पश्चात् सुग्रीव ने अंजनानन्दन को ही राज्य के संचालन के लिए नियुक्त किया हो, ऐसा स्वाभाविक प्रतीत होता है। वे स्वयं विषय-सेवन के लिए व्यग्र हो रहे थे। युवराज अंगद के प्रति वे सशंक थे अतः हर दृष्टि से उन्हें यही उपयुक्त लगा होगा कि राज्य के संचालन का भार पवनपुत्र को सौंप कर वे स्वयं रास-रंग का रसास्वादन करें। आंजनेय नीति के महान् पण्डित होते हुए भी स्वयं इतने निष्काम थे कि सुग्रीव को उनकी ओर से यह आशंका नहीं थी कि वे स्वयं राज्य सत्ता पर अधिकार कर लेंगे। अंजनानन्दन ने इस आदेश को शिरोधार्य

किया और किष्किन्धा राज्य की सेवा में संलग्न हो गए। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उनके जीवन में अनुशासन का एकरस दर्शन होता है। इसकी पराकाष्ठा राघवेन्द्र के राज्याभिषेक के वाद दिखाई देती है। जब छह मास की अवधि व्यतीत हो गई तब प्रभु को ऐसा लगा कि बन्दरों को अब विदा किया जाना चाहिये। अयोध्या के आनन्द में डूबकर वे अपने परिजनों को भुला दें यह उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। विदा की वेला में एक विरोधाभासी दृश्य सामने आया। प्रभु के सभी अन्तरंग भक्तों का यह विश्वास था कि आंजनेय अयोध्या में रहने के लिए प्रभु से अनुरोध करेंगे। किन्तु लोगों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही होगी कि जब वे विना किसी ननु-नच के विदाई स्वीकार कर लेते हैं। उधर अंगद (जिनसे इस प्रकार के व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती थी) प्रभु के चरणों को पकड़ कर विह्वल स्वर में उनसे यह अनुरोध करते हुए दिखाई देते हैं कि उन्हें घर लौटने का आदेश न दिया जाए। यद्यपि परिणाम सर्वथा भिन्न रूप में सामने आया। अंगद स्नेह और आश्वासन के साथ विदा कर दिए गए और आंजनेय विदा होने के कुछ समय बाद ही सेवा में पुनः लौट आए। आंजनेय विदा लेने के कुछ समय पश्चात् मार्ग में सुग्रीव से यह अनुरोध करते हैं कि यदि वे आज्ञा दें तो वे कुछ दिनों के लिए प्रभु की सेवा में रहकर फिर किष्किन्धा लौटें। हनुमान ज़ी की इस विनम्रता और अनुशासनप्रियता ने सुग्रीव को भाव-विभोर बना दिया और उन्होंने यही कहा कि हम लोगों के पुण्य समाप्त हो चुके हैं किन्तु आप तो पुण्यपुंज हैं, इसलिए आनन्दपूर्वक प्रभु की सेवा में संलग्न रहें :

तब सुग्रीव चरन गहि नाना।
भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा।
पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥
पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा।
सेवहु जाइ कृपा आगारा॥

अनुशासन की इसी भावना के कारण आंजनेय वर्षा ऋतु में प्रभु के पास नहीं गए। उन्हें यह विश्वास था कि वर्षा के व्यतीत होते ही स्वयं सुग्रीव प्रभु के पास पहुंचकर मैथिली के अन्वेषण के कार्य में प्रवृत्त हो जाएंगे। किन्तु जब वर्षा व्यतीत होने पर भी सुग्रीव विषय-सेवन में संलग्न रहे तब पवनपुत्र को यह प्रतीत हुआ कि सुग्रीव को इस मोह-निद्रा से झकझोर कर जगाना होगा। वे सुग्रीव के सन्निकट जाते हैं। सदा की भांति उनके चरणों में नत होते हैं। पर आज उनकी वाणी में ऐसी राजनैतिक सूझ-बूझ थी कि जिससे सुग्रीव संत्रस्त हो उठे। उन्हें अपनी भूल का भान हुआ। उन्होंने हनुमान जी से यह स्वीकार किया कि विषय-सेवन ने उन्हें भ्रान्त बना दिया था। अब तत्काल बन्दरों को मैथिली के अन्वेषण के लिए यत्र-तत्र भेजा जाना चाहिए :

इहां पवनसुत हृदयँ बिचारा।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा।।
निकट जाइ चरनन्हि सिर नावा।
चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा।।
सुनि सुग्रीव परम भय माना।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।।
अब मारुतसुत दूत समूहा।
पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा।।

शंकरावतार हनुमान व्याख्यान कला के महान् पण्डित हैं। यदि उन्हें इस कला में अद्वितीय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वे यह भली प्रकार जानते हैं कि घटनाओं की व्याख्या समय और व्यक्ति को दृष्टिगत रखकर की जानी चाहिये। वे किसी ऐसी रूढ़िमूलक व्याख्या के पक्षपाती नहीं हैं कि जो अपरिवर्तनीय हो। वे पहले भी सुग्रीव के समक्ष राम के चरित्र की व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं। मैत्री-प्रसंग में यह बात बताई जा चुकी है। पर उस समय उनके द्वारा की जाने वाली व्याख्या भक्ति और प्रीति से ओत-प्रोत थी। उसमें श्रीराम के औदार्य का मधुर चित्र प्रस्तुत किया गया था :

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।।

भयभीत सुग्रीव के लिए उस समय इसी प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता थी; किन्तु आज स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी इसलिए आंजनेय के स्वर में प्रीति के स्थान पर नीति की प्रमुखता थी। सर्वप्रथम उन्होंने सामनीति का परिचय देते हुए सुग्रीव को मैत्रीधर्म का स्मरण कराया और उन्हें यह भी याद दिलाया कि किस तरह प्रभु ने मैत्रीधर्म की रक्षा के लिए बालि का वध किया और इससे उन्हें जो अपकीर्ति मिली उसे भी उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब आप अपने कर्तव्य पर विचार कीजिए। मैथिली का पता लगाने में केवल कीर्ति ही कीर्ति प्राप्त होने वाली है। अपयश का तो वहां प्रश्न ही नहीं है। फिर दामनीति का आश्रय लेते हुए उन्होंने कहा कि केवल सेवा का आश्वासन देने मात्र से ही उन्हें किष्किन्धा का राज्य देकर पुरस्कृत किया गया। मैथिली का पता लगा लेने के बाद आपको न जाने क्या प्राप्त हो सकता है। इस तरह प्रलोभन देने के बाद वे अपने भाषण का समापन दण्ड और भेद नीति से करते हैं। उन्होंने सुग्रीव को स्मरण दिलाया कि बालि-वध के पश्चात् प्रभु के द्वारा प्रयुक्त बाण पुनः उनके निषंग में लौट गया था। इसका तात्पर्य यही था कि प्रत्येक मर्यादा का उल्लंघन करने वाला इसका स्मरण रक्खे कि बालि को विनष्ट करने वाला बाण अभी कहीं गया नहीं है। और अन्त में भेद नीति का आश्रय लेते हुए उन्होंने कहा कि प्रभु ने जान-बूझकर ही अंगद को युवराज पद प्रदान किया है। यदि आपके आचरण में

कोई अनौचित्य उन्हें दिखाई देगा तो निश्चित रूप से आपके स्थान पर अंगद को किष्किन्धा का राज्य दे दिया जाएगा।

आंजनेय की इस व्याख्या से सुग्रीव का आतंकित हो उठना स्वाभाविक था। यही भय उन्हें कर्त्तव्य की दिशा में प्रेरित करता है। दूर प्रवर्षण पर्वत पर बैठे हुए प्रभु अपने निकटस्थ अनुज को जो कार्य सौंपते हैं वह आंजनेय के द्वारा लक्ष्मण के आने से पहले ही पूरा किया जा चुका था। अंजनानन्दन शरीर से कहीं भी क्यों न रहें मन से निरन्तर प्रभु के सन्निकट रहते हैं। अपितु गोस्वामी जी के शब्दों में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि राघवेन्द्र रामभद्र ही सदा उनके हृदय में निवास करते हैं :

प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ज्ञान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धरि॥

क्रुद्ध रामानुज के आगमन पर सुग्रीव उनके सामने जाने का साहस नहीं जुटा पाते हैं किंतु उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि इस समस्या का समाधान भी पवनपुत्र के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए वे उनसे अनुरोध करते हैं कि तारा के साथ जाकर वे रामानुज का क्रोध शांत करें। सुग्रीव का विश्वास झूठा सिद्ध नहीं हुआ! विनम्र आंजनेय को सामने देखकर रामानुज का क्रोध पूरी तरह शान्त हो गया। यह प्रसंग दोनों महान् सेवकों के सम्बन्ध की ओर इंगित करता है। बहुधा विशिष्ट व्यक्ति भी स्वयं को ईर्ष्या मुक्त नहीं कर पाते। सेवकों में होड़ की वृति बनी ही रहती है।

इस प्रसंग में अंगद के इसी मनोभाव का परिचय प्राप्त होता है। वे राघवेन्द्र के चरणानुरागी हैं किन्तु सुग्रीव के प्रति अपनी ईर्ष्या-वृत्ति को छिपा नहीं पाते हैं। इसीलिए रामानुज के आगमन पर सबसे पहले वे ही उनके चरणों में जाकर नत होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से इसका तात्पर्य यह था कि सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण के क्रोध से उन्हें आन्तरिक प्रसन्नता हुई और वे अपनी व्यक्तिगत निष्ठा के द्वारा सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण के क्रोध को बढ़ावा देना चाहते हैं। इससे सर्वथा भिन्न मनोभाव आंजनेय का है। वे समान रूप से सबके स्नेह भाजन हैं। लक्ष्मण और उनके सम्बन्ध भी अत्यन्त मधुर हैं और उनमें ईर्ष्या-भाव का संस्पर्श भी नहीं है। यद्यपि प्रथम मिलन में ही प्रभु के द्वारा कथित वाक्य से इस वृत्ति का उदय हो सकता था। तुलना ही ईर्ष्या का मुख्य आधार है। जब तक सामने वाले व्यक्ति से तुलना का प्रश्न न हो तब तक ईर्ष्या का उदय हो भी कैसे सकता है। प्रभु ने पहले ही मिलन में तुलनात्मक वाक्यों का प्रयोग किया था और हनुमान जी को अपने प्रिय अनुज की तुलना में दूना प्रिय कह दिया था :

सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥

निश्चित रूप से प्रभु दोनों भक्तों के उदार हृदय से परिचित थे। यदि उन्हें रंचमात्र सन्देह होता कि इससे इन दोनों के हृदय में ईर्ष्या अथवा होड़ की भावना

का जन्म होगा तो वे इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग ही नहीं करते। यदि इस वाक्य को सुन कर रामानुज को ठेस लगती और आंजनेय के अन्तःकरण में अहंकार उत्पन्न होता तो ईर्ष्या का उदय स्वाभाविक ही था। किन्तु इन दोनों ही महापुरुषों ने इस वाक्य को भिन्न सन्दर्भ में ग्रहण किया। प्रभु के द्वारा प्रयुक्त इस वाक्य ने लक्ष्मण के अन्तःकरण में स्नेह की सृष्टि की। उन्हें लगा कि आज प्रभु को एक ऐसा सेवक प्राप्त हुआ है जो उन कार्यों को भी सम्पन्न कर सकेगा जो मेरे द्वारा सम्भव न थे। प्रभु को पीठ पर उठाकर ले चलना भी इसी प्रकार के कार्यों में से एक था। दूसरी ओर आंजनेय को ऐसा लगा कि लक्ष्मण और प्रभु शरीर से ही भिन्न दिखाई देते हैं पर तत्त्वतः दोनों सर्वथा एक हैं। व्यवहार में स्नेहास्पद की तुलना बहुधा प्राण से ही की जाती है। प्रभु ने मेरी तुलना लक्ष्मण से करते हुए मानों यह स्वीकार कर लिया कि लक्ष्मण तो साक्षात् उनके प्राण ही हैं। इसलिए वे स्वयं को प्रभु के साथ-साथ लक्ष्मण के भी विनम्र सेवक के रूप स्वीकार कर लेते हैं। इसका प्रतीक दोनों को एक साथ स्कन्ध पर धारण कर लेना था। ऐसी मनःस्थिति में ईर्ष्या-वृत्ति के पास फटकने की भी सम्भावना न थी। दोनों सेवकों के परस्पर वार्तालाप के प्रसंग मानस में प्राप्त नहीं होते हैं। मौन रहकर भी वे एक दूसरे से अभिन्न हैं। दोनों ही प्रभु के भावपुत्र हैं :

अब अपलोक सोक सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
× × ×
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
देखिउँ करि बिचार मन माहीं॥

इस तरह यदि लक्ष्मण बड़े भ्राता हैं तो हनुमान छोटे भाई के रूप में प्रभु और लक्ष्मण दोनों के स्नेह-भाजन हैं। इसीलिए सुग्रीव के द्वारा प्रेषित हनुमान को देखकर वे द्रवित हो उठे। परम चतुर आंजनेय रामानुज के स्वभाव से पूरी तरह परिचित थे। उन्हें यह ज्ञात था कि रामानुज आत्म-प्रशंसा से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। उन्हें राघवेन्द्र की कीर्ति ही प्रिय है। इसीलिए आंजनेय ने उनके आते ही चरणों में नत होकर प्रणाम करने के बाद रामभद्र का गुणगान करना प्रारम्भ कर दिया।

तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना॥
करि बिनती मंदिर लै आए।
चरन पखारि पलंग बैठाए॥

आंजनेय की वाणी से रामानुज इतने भावविभोर हो उठे कि उन्हें यह स्मरण ही नहीं रह गया कि उन्हें सुग्रीव को भयभीत करने का कार्य सौंपा गया है। फिर तो हनुमान ने उन्हें जहां बैठाया वहीं जाकर बैठ गए। यद्यपि उन्हें आंजनेय के द्वारा कुछ विचित्र प्रकार का ही आसन प्रदान किया गया। 'पलंग बैठाए' पढ़कर कुछ

अद्‌भुत-सा प्रतीत होता है। पलंग निद्रा के समय शयन के लिए प्रयुक्त होने वाला आसन है। निद्रा के लिए प्रयुक्त होने वाला आसन उस व्यक्ति को दिया जाना जो दिन की तो बात ही क्या रात्रि में भी शयन नहीं करता, क्या अटपटा-सा प्रतीत नहीं होता ? किन्तु यह तो महापण्डित पवनपुत्र के प्रतीकात्मक प्रयोग का परिचायक था। इसके द्वारा वे रामानुज को यह संकेत देना चाहते थे कि आपके बैठने के लिए उपयुक्त आसन इस नगर में है ही नहीं। यहां तमोमयी निद्रा में शयन करने वाले व्यक्ति ही विद्यमान हैं। पर आपके शुभागमन से परिस्थिति परिवर्तित हो चुकी है और जीवन जाग्रत् हो चुका है। आज से यह शैया व्यक्ति की निद्रा के लिए उपयुक्त नहीं होगी। मानो शेषावतार लक्ष्मण का स्मरण आते ही शेष शैय्या पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु का ही स्मरण आवेगा। दूसरी ओर बिना किसी आनाकानी के लक्ष्मण का उस आसन पर बैठ जाना यह सिद्ध करता है कि आंजनेय पर कितना प्रगाढ़ विश्वास है। वे मानो इस प्रक्रिया के द्वारा स्वीकार करते हैं कि अनुमान के द्वारा जो आसन प्रदान किया जाएगा वह बहिरंग रूप से कैसा भी क्यों न प्रतीत हो रहा हो पर अपने तात्त्विक रूप में अमांगलिक अथवा अपवित्र हो ही नहीं सकता। उनके द्वारा प्रयुक्त पलंग भक्ति की चरम स्थिति की ओर संकेत करने वाला है। इस स्थिति का संकेत 'विनयपत्रिका' के इस पद में प्राप्त होता है :

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।
जो जेहि कला कुसल ताकहं सोइ सुलभ सदा सुखकारी।।
सफरी सनमुख जल-प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी।।
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महं, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै।।
सकल दृश्य निज उदय मेलि, सौवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-वियोगी।।
सोक मोह भय हरष दिवस निसि, देस काल तहं नाहीं।
तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निरमूल न जाहीं।।

इस तरह जहां एक ओर वे सुग्रीव के अन्तःकरण में भय का सृजन कर उन्हें भक्ति की दिशा में प्रेरित करते हैं वहीं रामानुज के अन्तःकरण में ऐसी प्रीति का उदय करते हैं कि जिससे उनका सारा क्रोध शान्त हो जाता है और वे सुग्रीव को आलिंगन पाश में बांध लेते हैं। स्वयं सुकण्ठ को साथ लेकर उन्हें प्रभु के पास पहुंचा देते हैं :

तब कपीस चरनन्हि सिर नावा।
गहि भुज लछिमन कंठ लगावा।।

बहुत बड़ी संख्या में बन्दरों को मैथिली के अन्वेषण के लिए भेजा जा चुका था। पर अभी भी उस दिशा में भेजे जाने वाले लोगों का चुनाव नहीं किया गया

था जहां विदेहनन्दिनी के पाये जाने की मुख्य आशा थी। यह वह दिशा थी जहां लंकेश्वर की मुख्य राजधानी लंका थी। संभवत: इस कार्य को राघवेन्द्र के सान्निध्य में ही करना उपयुक्त माना गया हो। अन्ततोगत्वा दक्षिण दिशा में भेजे जाने के लिए सर्वोत्कृष्ट योद्धा और कुशल व्यक्तियों का चुनाव किया गया। आंजनेय भी उनमें एक हैं। अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें उपयुक्त योजना बनाने की क्षमता होती है पर उसे वे क्रियान्वित करने में सफल नहीं होते। इससे भिन्न कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो केवल आज्ञा का पालन मात्र करते हैं, पर स्वयं में स्वतन्त्र चिन्तन का उनमें अभाव होता है। इन दोनों क्षमताओं का समन्वय विरले ही व्यक्तियों में पाया जाता है।

पर पवननन्दन इस प्रकार के व्यक्तियों में भी अप्रतिम हैं। मैथिली के अन्वेषण की जो योजना बनाई गई, उसके मुख्य निर्माता वे ही थे पर वे नियामक के रूप में नहीं, एक सेवक के रूप में उसमें सम्मिलित होते हैं। नेतृत्व की समग्र क्षमता होते हुए भी वे स्वयं को सबसे पीछे रखते हैं। यह उनकी निरहंकारिता के साथ-साथ राजनैतिक सूझ-बूझ का भी परिचायक था। श्रेष्ठ कार्यों में भी नेतृत्व और आगे रहने की होड़ बहुधा ईर्ष्या-वृत्ति को प्रोत्साहित करती है। ईर्ष्या की यह प्रवृत्ति शक्ति को विभाजित कर देती है। क्योंकि ईर्ष्यालु व्यक्ति का ध्यान दो दिशाओं में बंट जाता है। एक ओर जहां वह कार्य-सिद्धि के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है, वहीं दूसरी ओर दूसरे को श्रेय न प्राप्त होने देने के लिए भी व्यग्र रहता है। ऐसी स्थिति में या तो सफलता ही संदिग्ध हो जाती है या उस सफलता के साथ-साथ अहंकार का विष उसे दूषित बना देता है।

अंगद और सुग्रीव के सम्बन्ध परस्पर दो विरोधी भावनाओं से प्रेरित थे। एक ओर तो वे राजा और युवराज के रूप में एक दूसरे से एक सूत्र में आबद्ध थे किन्तु दूसरी ओर वे परस्पर छिपी हुई द्वेष-भावना से ग्रसित थे। आंजनेय की स्थिति इस प्रसंग में और भी जटिल थी। भगवान् राम और सुग्रीव के मैत्री के मुख्य घटक वे ही थे। मैत्री से लेकर राज्याभिषेक तक जो भी घटनाएं हुई थीं, उसके मुख्य सूत्रधार वे ही माने जा सकते थे।

इसलिए यदि अंगद के अन्त:करण में उनके प्रति सर्वाधिक विद्वेष होता तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता था। किन्तु आंजनेय की यह अप्रतिम सफलता कही जा सकती है कि वे सुग्रीव के कृपापात्र तो थे ही पर अंगद से भी उनके सम्बन्ध अत्यन्त मधुर बने रहे। उसका सबसे बड़ा कारण था कि जहां सुग्रीव और अंगद महत्त्वाकांक्षाओं के कारण एक दूसरे से टकराते थे वहां पवननन्दन के हृदय में कामना का सर्वथा अभाव था। वे तो 'सबके प्रिय सबके हितकारी' के मूर्तिमान स्वरूप ही थे। यदि उन्होंने सुग्रीव का साथ दिया था तो इसीलिए कि वे बालि के अन्याय से संत्रस्त थे। अत: अंगद को भली प्रकार यह ज्ञात था कि यदि सुग्रीव ने कभी उनके प्रति अन्याय करने का प्रयास किया तो आंजनेय कभी भी उनका साथ

नहीं देंगे। दक्षिण दिशा में वैदेही के अन्वेषण के लिए जो यात्रा सम्पन्न हुई उसमें अंगद को ही नेतृत्व सौंपकर महावीर हनुमान ने अपने औदार्य का परिचय दिया। वस्तुतः सेवक के लिए आगे अथवा पीछे का कोई महत्त्व नहीं। वह तो हर परिस्थिति में स्वामी के कार्य को सम्पन्न करने का प्रयास करता है। आंजनेय अंगद की भावनाओं का कितना अधिक ध्यान रखते थे इसका पता उस प्रसंग से भी चलता है जब लंका से वे सफलतापूर्वक मैथिली का सन्देश लेकर लौटते हैं। उस समय किष्किन्धा के सन्निकट सुग्रीव की वाटिका को लूट लेने का जो कार्य अंगद के आदेश से सम्पन्न हुआ, उसमें वे रंचमात्र विरोध प्रकट नहीं करते। वे सुग्रीव के आज्ञाकारी सेवक होते हुए भी अंगद के उस उत्साह के अतिरेक में सम्मिलित होकर उनका सौहार्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार का विलक्षण सन्तुलन उन्हें छोड़कर किसी भी अन्य पात्र में मिलना सम्भव नहीं है।

अन्वेषण की महान् यात्रा आंजनेय की गाथाओं से भरी पड़ी है। वे अनगिनत रूपों में सामने आते हैं। इसीलिए भले ही उन्होंने सारे बन्दरों से पीछे रहकर अंगद को नेता के रूप में प्रस्तुत किया हो पर रामभद्र ने इस सेवा-कार्य के लिए उन्हीं का चुनाव किया। उन्हें सन्निकट बुलाकर वे अपनी मुद्रिका उन्हें प्रदान करते हैं और बड़े स्नेह से उनके मस्तक पर अपना कर-कमल स्थापित करते हैं। इन्हें जो कार्य करना है उसे एक नन्हें से सूत्र में कह देते हैं :

पाछें पवनतनय सिरु नावा।
जानि काजु प्रभु निकट बोलावा॥
परसा सीस सरोरुह पानी।
करमुद्रिका दीन्हि जन जानी॥
बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

दूसरों की प्रशंसा में अत्यन्त मुखर होते हुए भी प्रभु के द्वारा इस यात्रा के प्रारम्भ में आञ्जनेय की प्रशंसा न किया जाना कुछ आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता है। किन्तु इसमें भी आञ्जनेय की मनःस्थिति के प्रति प्रभु की धारणा का परिचय प्राप्त होता है। प्रशंसा की मनोभूमि पर विचार करते हुए उसके दो रूप सामने आते हैं। कार्य के पश्चात् की जाने वाली प्रशंसा जहां गुणों की स्वीकृति को प्रकट करती है, वहां वह प्रशंसा करने वाले की कृतज्ञता को भी अभिव्यक्ति देती है। पर कार्य के श्रीगणेश में की जाने वाली प्रशंसा का उद्देश्य सर्वथा भिन्न होता है। अधिकांश व्यक्ति प्रोत्साहन के लिए प्रशंसा सुनने के इच्छुक होते हैं। इससे उन्हें बल प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि उनमें स्वतः स्फूर्ति और बल का अभाव है। आंजनेय को कार्य की सफलता के लिए किसी बाह्य प्रलोभन अथवा प्रोत्साहन की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए जहां अंगद को लंका में राजदूत बनाकर भेजते हुए उनकी सराहना की गई वहां हनुमान जी के प्रति इससे भिन्न व्यवहार किया गया।

किन्तु प्रशंसा का बिना एक शब्द कहे हुए भी प्रभु ने उनके प्रति जिस प्रगाढ़ विश्वास का परिचय दिया वह उनके गौरव के अनुरूप है। आञ्जनेय को उसी में समग्र सुख और सन्तोष की अनुभूति हुई और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे उनका जीवन अब समग्र अर्थों में सार्थक सिद्ध हुआ हो। वृक्ष जिन क्षणों में आरोपित किया जाता है, उसी क्षण से फल की आशा भी अंकुरित हो जाती है। पर पादप के पल्लवित, पुष्पित और फलित होने में समय, श्रम और साधना का एक अनवरत क्रम चलता रहता है। उसकी अन्तिम परिणति उसके फलित होने में ही है। पवनपुत्र का सारा जीवन ही साधना से आलोकित दिखाई देता है। पर साधना की समग्रता भक्ति में ही है। मानस-सर के प्रारम्भ में इसी क्रम पद्धति का संकेत प्राप्त होता है :

संत सभा चहुं दिसि अंबराई।
श्रद्धा ऋतु बसन्त सम गाई।।
सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरिपद रति रस बेद बखाना।।

महावीर के जीवन में यह क्रम पूरी तरह परिलक्षित होता है। सूर्य को गुरु रूप में वरण करने के पश्चात् वे जिस साधना-पद्धति का आश्रय लेते हैं उसका परिणाम प्रभु के साक्षात्कार के रूप में सामने आता है। श्री राम ही अखण्ड ज्ञान घन है। उपरोक्त पंक्ति में ज्ञान का उल्लेख फल के रूप में किया गया है। भगवान् राम के द्वारा मिथिलेशनन्दिनी के सन्निकट भेजा जाना फल की परिपक्वता की ओर इंगित करता है। यह यात्रा भक्तिस्वरूपा मां सीता के निकट पहुंचकर समाप्त होती है। फल परिपक्व होने के बाद ही तृप्ति प्रदान करता है। इसीका संकेत हनुमान जी के द्वारा मां मैथिली से फल खाने की प्रार्थना के रूप में प्राप्त होता है। अतः यात्रा के प्रारम्भ में 'हनुमत जन्म सुफल करि माना' का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया जाता है। अपने कर कमलों की मुद्रिका देकर प्रभु ने जो सहिदानी प्रदान की, वह एक साधारण राज्य-चिह्न मात्र नहीं थी और न तो पवनपुत्र ने उसे इस रूप में देखा। यद्यपि मानस में यह उल्लेख नहीं किया गया कि उस मुद्रिका को वे किस रूप में लेकर जाते हैं। किन्तु रामाज्ञा में गोस्वामी जी यह स्वीकार करते हैं कि उसे उन्होंने मुख में धारण किया था :

नाथ हाथ माथे धरेउ प्रभु मुदरी मुख मेलि।
चलेउ सुमिरि सारंगधर आनिहि सिद्ध सकेलि।।

इस मुद्रिका के साथ प्रभु और मैथिली के प्रगाढ़ प्रेम की अनगिनत स्मृतियां जुड़ी हुई थीं। विशेष रूप से अन्तिम बार जब यह मुद्रिका मैथिली के द्वारा प्रभु को दी गई, वह क्षण दोनों के एकत्त्व का परिचायक था। केवट को उतराई न दे पाने के संकोच से ग्रस्त शील-सिन्धु रामभद्र की मनोभावना को जनकनन्दिनी क्षण भर में जान गईं और तत्काल वे अपने कर कमलों से मुद्रिका उतार कर प्रभु को पकड़ा देती हैं :

केवट उतारि दंडवत कीन्हा।
प्रभु सकुचे यहि कछु नहिं दीन्हा।।
प्रिय हिय की सिय जाननिहारी।
मनि मुंदरी मन मुदित उतारी।।
कहेउ कृपालु लेहु उतराई।
केवट चरन गहेउ अकुलाई।।

केवट इस दिव्य मुद्रिका को स्वीकार नहीं कर पाता। उसके लिए यह कल्पना भी असह्य थी कि मिथिलेशनन्दिनी के श्रीअंग में सुशोभित आभूषणों को उनसे पृथक् करे। अतः उसके द्वारा मुद्रिका लेने की इस अस्वीकृति में उसका भाव भरा हृदय ही परिलक्षित होता है। यह मुद्रिका अनकहे हुए को कह डालने की एक ऐसी प्रतीक थी जो उन्हें मैथिली की तदाकारता और एकत्व की स्मृति दिलाती रहती थी। आज भी जब वे आञ्जनेय को वैदेही के पास भेज रहे थे, तब उनके अन्तःकरण में कहने को इतना कुछ था कि उसे कह पाना उनके लिए सम्भव न था। यह मुद्रिका केवल यह स्मृति दिलाने के लिए थी कि "तुम मेरे हृदय के स्वर को भलीभांति जानती हो, इसलिए वाणी और पत्रिका के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति देना अनावश्यक है।" पवननन्दन जैसा रसिक हृदय ही इस नन्हें से आभूषण के पीछे छिपे हुए रसमय संकेतों को पहिचान सकता था। इसलिए प्रभु ने जब उन्हें आदेश दिया कि वह उनका सन्देश विदेहजा तक पहुंचा दें, तब उस मुद्रिका को मुख में लेकर मानो वे यह बताना चाहते थे कि आपका वास्तविक संदेश तो मुद्रिका ही पहुंचा सकती है। भले ही वाक्य मेरे मुख से निकलता हुआ दिखाई दे पर उसके पीछे मुद्रिका ही अनकहा स्वर होगा। साधना के तत्त्व की दृष्टि से इसे भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। बहिरंग दृष्टि से मुद्रिका एक आभूषण मात्र है। परन्तु भक्त की दृष्टि स्वर्ग और मणि पर न होकर उसमें अंकित राम नाम पर है। सोने और मणि के द्वारा निर्मित आभूषण केवल शरीर के सौंदर्य में वृद्धि करता है किन्तु भगवन्नाम तो शरीर और मन दोनों को ही पूर्णता प्रदान करता है। फिर शारीरिक दृष्टि से ज्ञानेन्द्रियों में एक मात्र जिह्वा ही ऐसी इन्द्रिय है जिसमें कोई बहिरंग आभूषण धारण नहीं किया जा सकता। उसे विभूषित करने के लिए भगवन्नाम से बढ़कर कौन-सा आभूषण हो सकता है। अतः इस नामांकित मुद्रिका से जिह्वा और मन दोनों को धन्य बनाने के लिए उसे मुख में धारण कर लेते हैं।

मैथिली के अन्वेषण की इस यात्रा में एक के पश्चात् दूसरी कठिनाइयां आती हैं। और उन सबका समाधान एकमात्र पवनपुत्र के द्वारा सम्पन्न होता हैं। अन्वेषण के लिए एक अवधि प्रदान की गई थी। लक्ष्य के प्रति उत्साह और सजगता के लिए यह आवश्यक भी था। पर इसका एक दूसरा पक्ष भी तो था। अवधि जहां प्रेरणा प्रदान करती है, उससे जिस आशा का निर्माण होता है, वह असफलता में दुखदाई भी सिद्ध हो सकती है। आशा जितना उत्साहित करती है विफलता उससे कहीं

अधिक दुख देती है। यही बन्दरों के साथ भी हुआ। वे एक मास की अवधि में ही मैथिली को पा लेने के लिए बद्ध परिकर थे। उन्हें पूरी आशा थी कि वे अपने प्रयास में सफल होंगे। एक महीने तक उनका उत्साह अपनी चरम सीमा पर था :

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
रामकाज लयलीन मन बिसरा तन का छोह॥
कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा।
प्रान लेहिं एक एक चपेटा॥
बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिं।
कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं॥

किन्तु उनकी कल्पना साकार नहीं हुई। अनवरत प्रयास के पश्चात् भी वे सीता का साक्षात्कार करने में सफल नहीं हुए। और तब उनमें घोर अवसाद उचित होता है। आशा और निराशा के मनोविज्ञान को लेकर परस्पर विरोधी विचार किए जाते हैं। एक धारणा यह कि व्यक्ति को आशावादी होना चाहिए किन्तु आशावादिता के प्रतिकूल भी अनेक सूक्तियां प्रसिद्ध हैं। श्रीमद् भागवत् में 'आशाहि परमं दु:खं' कहकर उसकी घोर निन्दा की गई है। गोस्वामी जी भी दोहावली रामायण में आशा को ऐसी देवी के रूप में चित्रित करते हैं जो अपने सेवकों को केवल दु:ख ही देती है :

तुलसी अद्भुत देवता आसादेवी नाम।
सेए सोक समर्पई त्यागे मन अभिराम॥

प्रस्तुत प्रसंग में आशा का विपरीत स्वरूप ही परिलक्षित होता है। बन्दर मैथिली के दर्शन की आशा छोड़ बैठे। मृत्यु-भय की काली छाया उन्हें आतंकित करने लगी। सघन वन में वे अपना पथ भूल जाते हैं और प्यास के मारे उनके प्राण कण्ठगत हो जाते हैं।

'लागि तृषा अतिसय अकुलाने' प्रतीकात्मक अर्थों में वन संशय का प्रतीक है। और पथ साधना के मार्ग की ओर इंगित करता है। किसी भी पथ पर चलता हुए व्यक्ति आशा करता है कि समय बीतने के साथ-साथ वह लक्ष्य तक पहुंचता जाएगा किन्तु जब व्यक्ति को गन्तव्य का कोई अता-पता ही न मिल रहा हो तब उसके मन में संशय का उदय हो, यह स्वाभाविक ही है। प्यास का तात्पर्य है अभाव और अतृप्ति। साधक जब भौतिक प्रलोभनों को छोड़कर अध्यात्म अथवा भक्ति पथ-पर चलता है तब उसका उद्देश्य इस अतृप्ति से छुटकारा पाना होता है। पर जब उसे उसकी उपलब्धि होती हुई न दिखाई दे तब उसका यह सोचना स्वाभाविक ही है कि वह दोनों ओर से गया—'न भए जग के न भए जगदीश के।' किन्तु इस मन:स्थिति से ग्रस्त बन्दरों में एकमात्र आंजनेय ही इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त थे। जीवन में आशा जब अकेली होती है तब वह बहुधा दुखदायी ही सिद्ध होती है किन्तु जब उसके साथ ईश्वर के प्रति अटूट आस्था विद्यमान हो, तब व्यक्ति इस

संकट से त्राण पा लेता है। जिनकी आशा केवल अपने पुरुषार्थ पर केन्द्रित होती है वे पुरुषार्थ की समाप्ति पर विचलित हो जाएं, यह स्वाभाविक ही है। पर जो ईश्वर विश्वासी हैं, पुरुषार्थ खोकर और भी निश्चिन्त हो जाते हैं। क्योंकि उन्हें प्रतीत होता है कि ईश्वर की कृपा का अंतिम अवरोध भी दूर हुआ। जैसे एक नन्हा शिशु जब लड़खड़ाते हुए पैरों से पृथ्वी पर चलता है तब उसे गिर पड़ने से बहुत भय की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उसे भरोसा है कि गिरते ही वह मां के द्वारा गोद में उठा लिया जाएगा। नन्हें बालक का प्रत्येक पतन उसे मां की ओर देखने की प्रेरणा प्रदान करता है। आंञ्जनेय इसी निर्भराभक्ति में स्थित दिखाई देते हैं। इस परिस्थिति में वे न केवल अविचलित रहते हैं अपितु अन्य साथियों की समस्या का समाधान भी खोज लेते हैं। वन में भटके हुए प्यास से अधमरे बन्दरों के लिए वे एक ऐसी गुफा का पता लगाते हैं जहां उन्हें अमृतमय जल प्राप्त हो जाता है :

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना।
मरन चहत सब बिनु जल पाना॥
चढ़ि गिरि सिखर चहूं दिसि देखा।
भूमि बिबर एक कौतुक पेखा॥
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं।
बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं॥
गिरि ते उतरि पवनसुत आवा।
सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा॥

प्रारम्भ में सबसे पीछे दिखाई देने वाले आंञ्जनेय अब सबसे आगे दिखाई देते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने स्वयं आगे आने का प्रयास किया। आगे आने की इच्छा का तात्पर्य ही यही है कि दूसरों को पीछे ढकेल कर स्वयं के अहं को सन्तुष्ट करना। पवननन्दन में इस वृत्ति का सर्वथा अभाव है। सारे बन्दर स्वयं ही उनसे आगे चलने का अनुरोध करते हैं। यह बन्दरों की उदारता का परिचायक भी नहीं था। संकट की इस घड़ी में वे स्वयं में नेतृत्व करने की क्षमता का अभाव पाते हैं। नायक के पद पर नियुक्त अंगद अपना आत्मविश्वास खो बैठे हैं। फिर गुफा के साथ जुड़ी हुई पारिवारिक संघर्ष की गाथा से वे इतने अधिक आतंकित थे कि स्वयं गुफा से आगे चलकर बन्दरों को नेतृत्व प्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रतीकात्मक अर्थों में गुफा जीवन की उस स्थिति का परिचायक है जब व्यक्ति को अन्धकार और निराशा की अनुभूति होती है। उसे कोई स्पष्ट मार्ग नहीं दिखाई देता। कुछ विचित्र प्रकार की कल्पित आशंकाओं से घबरा कर वह आगे पग बढ़ाने में संकोच का अनुभव करता है। भले ही उस अंधकार के अन्तराल में प्रकाश का पुञ्ज विद्यमान हो। जैसा कि इस गुफा में भी आगे चलकर सिद्धि का दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ। गुफा में जिस तपस्विनी का दर्शन बन्दरों ने किया, पौराणिक गाथाओं में स्वयंप्रभा के नाम से उसका परिचय दिया गया है। बड़ा ही

सार्थक नाम है। पर स्वयंप्रभा तक पहुंचने के लिए अंधकार भरी गुफा को पार करना ही होगा। यह स्वयंप्रभा वह दिव्य प्रज्ञा है जो वहिरंग चेतना के स्थान पर अन्तश्चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। व्यक्ति जिस बहिरंग वुद्धि के द्वारा सृष्टि व्यापार का संचालन करता है, जीवन के अनन्त रहस्यों के अन्तराल में उसका भी प्रवेश नहीं है। ईश्वर की कृपा का रहस्य हृदयंगम करने के लिए उसे अन्तश्चेतना की आवश्यकता है जो व्यक्ति को यह वता सके कि जहां पुरुषार्थ की सीमाएं समाप्त होती हैं, वहीं से कृपा की अनुभूति का श्रीगणेश होता है। बहिरंग पुरुषार्थ से युक्त बन्दरों का समूह स्वतः उस अन्तः प्रज्ञा तक नहीं पहुंच पाता है। इसीलिए भक्ति चेतना से युक्त अन्तःकरण वाले आञ्जनेय का आश्रय लेता है। हनुमान को आगे कर वे बड़ी ही शीघ्रता से उस स्थान तक पहुंचने में समर्थ हो जाते हैं जहां स्वयं-प्रभा विद्यमान थी। सरोवर, मन्दिर और फलों की विशाल वाटिका भी बन्दरों के लिए वरदान सिद्ध होती है। यहां पहुंचकर वे न केवल प्यास बुझाने में समर्थ होते हैं अपितु उनकी क्षुधा शान्त करने के लिए वहां मधुर फल भी विद्यमान थे। यहीं उन्हें स्वयंप्रभा के द्वारा 'मूदहुं नयन' का संदेश प्राप्त होता है, जो ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाने का संकेत कर रहा था :

आगे कै हनुमंतहि लीन्हा।
पैठे बिबर बिलंबु न कीन्हा॥
दीख जाइ उपवन बर सर बिगसित बहु कुंज।
मंदिर एक रुचिर तहं बैठि नारि तपपुंज॥
दूरि ते ताहि सबिन्ह सिरु नावा।
पूछें निज वृत्तांत सुनावा॥
तेहि तब कहा करहु जल पाना।
खाहु सुरस सुन्दर फल नाना॥
मज्जनु कीन्ह मधुर फल खाए।
तासु निकट पुनि सब चलि आए॥
तेहि सब आपनि कथा सुनाई।
मैं अब जाव जहां रघुराई॥
मूंदहु नयन बिबर तजि जाहू।
पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥

किन्तु स्वयंप्रभा के 'मूंदहु नयन' का संकेत क्या बन्दर पूरी तरह समझ पाए। इसका उत्तर भी नकारात्मक ही देना होगा। निराशा और श्रम के क्षणों में व्यक्ति का अहं कुछ समय के लिए मृत जैसा प्रतीत होता है। किन्तु अहं उस कीड़े की भांति है जो मृत जैसा बन जाने का चतुर स्वांग करना जानता है। खतरे का आभास होते ही कई ऐसे कीड़े हैं जो मृत जैसे बन जाते हैं। पर जैसे ही उन्हें भय की अनुभूति से छुटकारा मिलता है, तीव्र गति से भागते हुए दिखाई देते हैं। इसीलिए अहंकार के

सम्बन्ध में बहुधा बड़े-से-बड़े साधक भी धोखा खा जाते हैं। उन्हें लगता जैसे अब अन्तःकरण अहंकारशून्य हो गया है; उसमें ईश्वर के प्रति समग्र समर्पण का भाव जाग्रत् हो गया है। किन्तु अवसर आते ही उनका अहं पुनः चैतन्य हो जाता है। समर्पण और शरणागति के प्रति मन में पुनः अविश्वास जाग उठता है। वन्दरों की मनःस्थिति भी ठीक इसी प्रकार की दिखाई देती है। स्वयंप्रभा के आदेश का पालन करते हुए वे नेत्र मूंद लेते हैं, पर कुछ समय वाद ही निराशा उन्हें पुनः घेर लेती है :

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा।
ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥

'मूँदहु नयन' को उन्होंने केवल वहिरंग अर्थों में ही ग्रहण किया। यद्यपि इससे भी उन्हें एक विलक्षण चामत्कारिक शक्ति का परिचय प्राप्त हुआ। स्वयंप्रभा की गुफा तक वे अपने पैरों से चलकर पहुंचे थे। किन्तु नेत्र मूंदने के पश्चात् गुफा से लेकर समुद्र-तट तक की यात्रा बिना किसी वहिरंग प्रयास के ही सम्पन्न हुई थी। इसे उन्होंने स्वयंप्रभा की योग-सिद्धि के चमत्कार के रूप में देखा। चमत्कारों को सही सन्दर्भ में न देखने पर वे साधक के लिए सहायक के स्थान पर अवरोध के हेतु वन जाते हैं। चमत्कार है क्या ? वस्तुओं की उपलब्धि के लिए प्रकृति में कुछ नियम परिलक्षित होते हैं। उन नियमों को बहुधा हम शाश्वत सत्य मान लेने की भूल कर वैठते हैं। जाने हुए नियमों से भिन्न रूप में घटना का साक्षात्कार होने पर हम उसे चमत्कार मान बैठते है। और तब व्यक्ति या तो उन्हें अस्वीकार कर वौद्धिक दृष्टि से असंगत सिद्ध करने का प्रयास करता है। अथवा उन्हीं को सव कुछ समझकर नियमों को व्यर्थ मान लेने की भूल कर वैठता है। फिर वह हर समय चमत्कारों के लिए आंख गड़ाए बैठा रहता है। दोनों ही प्रकार की अतिरेकवादी धारणाएं व्यक्ति को सही अर्थ ग्रहण करने से रोकती हैं। चमत्कार केवल सिद्ध करते हैं कि सृष्टि का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसका अपवाद न हो। नियम के द्वारा जिस कठोर पारतन्त्र्य का वोध होता है, अपवाद उसके एक ऐसे चोर द्वार की ओर संकेत करता है जो व्यक्ति के लिए पारतंत्र्य से स्वातंत्र्य की दिशा में जाने की अभीप्सा को प्रोत्साहित कर सकता है। किन्तु चमत्कार न तो नियमों को समाप्त करते हैं और न ही वे व्यक्ति को किसी काल्पनिक सृष्टि में रहने की प्रेरणा देते हैं। इस रहस्य को समझ लेने पर स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य का सही सन्तुलन बना रहता है।

बन्दरों ने स्वयंप्रभा के द्वारा जिस चमत्कार का अनुभव किया, उसने उन्हें और भी अधिक उलझन में डाल दिया। क्योंकि स्वयंप्रभा ने यह कहा था कि 'तुम लोग नेत्र मूंद लो, व्यर्थ पश्चात्ताप मत करो, तुम्हें मैथिली की उपलब्धि होगी। अतः वे यह मान बैठे कि वे नेत्र मूंदने के पश्चात् जब उन्हें खोलेंगे तब मैथिली उनके सामने होंगी। नेत्र मूंदकर खोलने के बाद उन्हें अगाध जलराशि का साक्षात्कार होता है। सामने लहराते हुए समुद्र को देखकर उनमें पुनः नैराश्य का संचार होता है। क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि अब वे पृथ्वी के उस छोर तक पहुंच चुके हैं जहां से आगे

बढ़ने का कोई मार्ग नहीं है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विदेहजा की उपलब्धि की आशा अब पूरी तरह समाप्त हो चुकी है। उन्हें इस भ्रान्ति से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर की ओर से एक अनोखा कौतुक होता है। यद्यपि प्रारम्भ में बन्दर उस अनपेक्षित स्वर से आतंकित हो उठते हैं पर बाद में उन्हें सत्य के नए क्षितिज का ज्ञान प्राप्त होता है। बन्दर इतने निराश हो चले थे कि उन्होंने अनशन के द्वारा प्राण-परित्याग का संकल्प कर लिया। संकल्प को साकार रूप देने के लिए ही वे समुद्र-तट पर कुश बिछाकर अनशन के लिए बैठ गए। तभी उन्हें किसी निकट-वर्ती गुफा से आता हुआ एक स्वर सुनाई दिया। यह स्वर एक बूढ़े गीध का था। सम्पाती नाम के इस बूढ़े गीध ने बन्दरों के आत्मघात के निर्णय पर प्रसन्नता के भाव व्यक्त किए क्योंकि उस अशक्त बूढ़े गीध को ऐसा लगा कि वह इन बन्दरों को खाकर कई दिनों की भूख की समस्या से मुक्ति पा लेगा। अनशन के निर्णय से पहले बन्दर जिस प्रकार के दार्शनिक वार्तालाप में संलग्न थे, उसके सन्दर्भ में प्राण के परित्याग का उनका संकल्प विचित्र विरोधाभासी प्रतीत होता है। इस वार्ता-लाप के दो मुख्य पात्र अंगद और जाम्बवान् हैं। दल के नेता अंगद जहां संशयग्रस्त दिखाई देते हैं वहां ज्ञान और आयु दोनों ही दृष्टि से वयोवृद्ध जाम्बवान् उनके संशय का समाधान करते हुए प्रतीत होते हैं :

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा।
ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा।
जाइ कमल पद नाएसि माथा॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्ही।
अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही॥
बदरीबन कहुँ सो गई प्रभु अग्या धरि सीस।
उर धरि राम चरन जुग जे बंदत अज ईस॥
इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।
बीती अवधि काज कछु नाहीं॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता।
बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता॥
कह अंगद लोचन भरि बारी।
दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई।
उहाँ गए मारिहि कपिराई॥
पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही॥

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥
अंगद बचन सुनत कपि बीरा।
बोलि न सकहिं नयन बह नीरा॥
छन एक सोच मगन होइ रहे।
पुनि अस बचन कहत सब भए॥
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना।
नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना॥
अस कहि लवनसिंधु तट जाई।
बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥
जामवंत अंगद दुख देखी।
कही कथा उपदेस बिसेषी॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु।
निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
हम सब सेवक अति बड़ भागी।
संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥
निज इच्छा प्रभु अवतरहिं सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

इसका तात्पर्य यही है कि दर्शन का बौद्धिक विश्लेषण मात्र व्यक्ति की मनःस्थिति को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं होता। एक ओर तो जाम्बवान् यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि राम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं और हम सौभाग्यशाली हैं कि उनकी सेवा के लिए शरीर ग्रहण कर चुके हैं। दूसरी ओर इसके बाद भी वे इतने निराश प्रतीत होते हैं कि बन्दरों को प्राण-परित्याग के संकल्प से विरत करने का प्रयास नहीं करते हैं। पर इन सब बातों की तुलना में इस विचित्रता की ओर ध्यान जाए बिना नहीं रहता है कि सारे प्रसंग में पवननन्दन मौन रहे। बन्दरों की प्यास के कारण मृत्यु की आशंका से जो जलस्रोत के शोध में संलग्न हो गया था, जिसने स्वयंप्रभा की गुफा में बन्दरों को पहुंचाकर उन्हें नई जीवनशक्ति दी थी, समुद्र-तट पर वही महावीर बन्दरों के अनशन के संकल्प का विरोध नहीं करते हैं। इस चुप्पी का रहस्य क्या था? विचार करने पर इसके दो रहस्य सामने आते हैं। एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गुफा-प्रवेश-काल में सारे बन्दर आंजनेय के नेतृत्व में भीतर जाते हैं। बन्दरों की जीवन-रक्षा का सारा श्रेय अकेले उन्हें था। किन्तु इस सफलता ने उनकी मनोवृत्ति में किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न नहीं किया। वे यह नहीं मान बैठे कि नेतृत्व का सच्चा गुण केवल उनमें विद्यमान है अपितु व्यावहारिक रूप में वे और भी अधिक विनम्र हो जाते हैं। वे अन्य लोगों को

भी यह अवसर प्रदान करते हैं कि समस्या के समाधान की अपनी योग्यता प्रदर्शित कर सकें। पवननन्दन के मौन का परिणाम यह हुआ कि जाम्बवान् की विचार-शीलता और वक्तृत्व-कला सामने आयी। वे इसके द्वारा यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि यह तो संयोग मात्र था कि उनके द्वारा जल की समस्या का समाधान हो सका। कुछ क्षणों के लिए आगे होकर वे पुनः पिछली पंक्ति में जाकर बैठ जाते हैं। उनका यह आत्म-नियन्त्रण सर्वथा अनुपम था। आध्यात्मिक अर्थों में इसका तात्पर्य यह था कि स्वयंप्रभा की वाणी का सच्चा तात्पर्य एकमात्र वे ही ग्रहण कर पाए। 'नयन मूंदि' का तात्पर्य क्या केवल आंखों को मूंद लेना मात्र ही था? वस्तुतः नेत्र का मूंदना तो एक प्रतीकात्मक वाक्य मात्र था। नेत्र सारी ज्ञानेन्द्रियों का उप-करण है। इसका तात्पर्य है समग्र आत्म-नियन्त्रण। इस तरह एक व्यापक सत्य को अत्यन्त स्थूल अर्थ में ग्रहण करना यही सिद्ध करता है कि बन्दरों को अन्तर्मन की गह-राइयों में प्रविष्ट होने का अभ्यास नहीं था। वे उस मौनी की भांति नहीं थे जो मौन का अर्थ केवल जीभ से बोलना बन्द कर लेना समझ बैठता है और अन्य माध्यमों से सौ गुना अधिक बोलने का प्रयास करता है। यह तो मौन का सबसे बड़ा उपहास होता है। इसलिए आंजनेय केवल नेत्रेन्द्रिय को ही नहीं मूंद लेते हैं। अपितु सारी इन्द्रियों से मौन रहकर ईश्वरीय संकेत की प्रतीक्षा करते हैं। वे इस भ्रान्ति में नहीं पड़ते कि वे बन्दरों के लिए इतने अपरिहार्य हैं कि उनके अभाव में सब कुछ समाप्त हो जाएगा। वे उस नई गुफा की प्रतीक्षा करते हैं जिसमें प्रविष्ट होने के लिए उनके नेतृत्व की कोई अपेक्षा न होगी। अंगद और बन्दरों का नैराश्य उन्हें क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं करता। वे बन्दरों को अनशन से विचलित करने का भी कोई प्रयास नहीं करते। उन्हें स्वयंप्रभा के वचनों पर पूरा विश्वास था और उन्हें यह नैराश्य और संकल्प भी साधन-पथ का एक अंग ही प्रतीत होता है। वे यह जानते थे कि यह सूर्योदय के पहले का अंधकार है। प्रारम्भ में यह प्रकाश साधारण नियम से भिन्न अत्यधिक भयावना प्रतीत हुआ। जैसे अंधेरे में बन्द आंखें अचानक प्रकाश से तिलमिला जाती हैं वही स्थिति बन्दरों की थी। जब वे अनशन के संकल्प के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उन्हें प्राणों का मोह नहीं है तब वस्तुतः वे प्राण जाने के भय से ही व्यग्र हो उठे थे। अंगद की वाणी में इसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है :

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥

मरण के विकृत रूप की कल्पना से प्रेरित होकर वे यह सोचते हैं कि दूसरों के द्वारा दण्डित किए जाने की तुलना में स्वयं आत्मघात कर लेना क्या अधिक उदात्त नहीं प्रतीत होगा? दूसरों के द्वारा दण्डित किए जाने का तात्पर्य था कि उन्होंने कोई अपराध किया है। जब कि अनशन के साथ एक पवित्रता की धारणा उन्हें आत्मसन्तोष प्रदान कर रही थी। सम्भवतः इसके पीछे किसी प्रकार के चमत्कार

की आकांक्षा छिपी हुई हो और वे यह सोच रहे हों कि शायद इस अनशन से ही द्रवित होकर ईश्वर उनके लिए कोई चामत्कारिक स्थिति उत्पन्न कर दे। उनका आचरण उस बालक की भांति था जो मां से रूठकर यह कहता है कि मैं भोजन नहीं करूंगा क्योंकि मुझे भूख नहीं है। यद्यपि उसमें भूख और भोजन की आवश्यकता विद्यमान होती है, किन्तु इसकी अस्वीकृति के माध्यम से वह यह आशा करता है कि मां उसे मनाकर भोजन कराएगी। एक साधारण मां भी इस बालोचित चतुराई को जानती है। फिर ईश्वर से बन्दरों का यह आन्तरिक मनोभाव कैसे छिपा रहता! इसलिए उसने उस मां के समान (जो बालक को झूठे बहानों से मुक्त करना चाहती हो) व्यवहार किया। बालक ने कहा 'मुझे भूख नहीं है, मैं नहीं खाऊंगा।' मां ने उलटकर कहा—'ठीक है यदि तुझे भूख नहीं है तो मैं भोजन दूसरों को खिला देती हूं।' ऐसी परिस्थिति में बालक की दशा दयनीय हो जाय, यही स्वाभाविक है। बन्दर अनशन का स्वांग कर रहे थे और तभी सम्पाती का स्वर सुनाई दिया, 'चलो अच्छा ही हुआ, मैं भूखा हूं और लगता है इन बन्दरों को शरीर और प्राण का कोई मोह नहीं इसलिए क्यों न मैं इन्हीं को खाकर स्वयं अपनी क्षुधा शांत कर लूं।' सम्पाती का यह वाक्य सुनते ही बन्दरों की सारी कलई खुल गई। मृत्यु-भय की आशंका से संत्रस्त होकर वे एक-दूसरे का मुख देखने लगे। अंगद ने इस अवसर पर नेतृत्व प्रदान करने का साहस किया। वे स्वयं को तथा अपने साथियों को उपहास का पात्र नहीं बनने देना चाहते थे। इसलिए वे अपनी सान्त्वना-भरी वाणी के द्वारा बन्दरों को दृढ़ रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। उन्होंने जटायु के प्राण-त्याग की घटना का स्मरण कराते हुए बन्दरों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। यदि एक गृद्ध ने श्री सीताजी की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी और वह मुक्ति का अधिकारी बना तो हमें भी यह सोचकर धैर्य धारण करना चाहिए कि हमारे प्राण भी मैथिली के अन्वेषण के मार्ग पर जा रहे हैं :

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥
राम काज कारन तनु त्यागी।
हरिपुर गयउ परम बड़ भागी॥

अंगद की इस वाणी से बन्दरों को जहां आश्वासन प्राप्त हुआ, वहां सम्पाती के स्वर में भी परिवर्तन हुआ। यह कहा जा सकता है कि यह तो अंगद की विशेषता है, इसका हनुमान जी के चरित्र से क्या लेना-देना? पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। अनेक ऐसे लोग होते हैं जो स्वयं तो कार्यकुशल होते हैं किन्तु दूसरों की कार्य-कुशलता को प्रकट होने का अवसर ही नहीं देते। इसलिए उत्कृष्ट चरित्र की केवल यह विशेषता नहीं है कि वह स्वयं की क्षमता को कितना अधिक प्रदर्शित करता है अपितु दूसरों की क्षमता के विकास को कितना प्रोत्साहित करता है। अंगद के लिए इस समय इस प्रकार के भाव सहायक की अपेक्षा थी क्योंकि उनमें एक हीन भावना

का उदय हो चुका था। जब वे स्वयंप्रभा की गुफा में आगे चलने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए तो उससे बन्दरों के समक्ष उनका एक दुर्बल चित्र बन जाना स्वाभाविक था। इस बात को आंजनेय जैसा संवेदनशील सन्त समझ लेता है और वे अपने मौन के द्वारा अंगद को ऐसा अवसर प्रदान करते हैं जिससे यह सिद्ध हो सके कि अंगद प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपना धैर्य नहीं खोते। अतः अंगद के धूमिल चित्र को पुन उज्ज्वलता प्रदान कर उन्होंने ऐसे सन्त स्वभाव का परिचय दिया, जिसके लिए मानस में मैत्री धर्म का लक्षण बताते हुए इस पंक्ति में प्रस्तुत किया गया :

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनहिं दुरावा॥

आगे चलकर गीध सम्पाती और बन्दरों के सम्वाद में सम्पाती के द्वारा बन्दरों को जो प्रेरणा और सहायता प्राप्त हुई, उसके लिए भी गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में हनुमान जी को श्रेय प्रदान किया।

आंजनेय की वन्दना करते हुए वे कहते हैं कि सूर्य की किरणों के द्वारा जिस सम्पाती के पंख विनष्ट हो चुके थे, आप उसे नया शरीर और नई दृष्टि प्रदान करते हैं :

जयति धर्मांशु-संदग्ध-संपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्य देह दाता।
कालकलि-पापसंताप-संकुलसदा-प्रणत तुलसीदास तात माता॥

उपरोक्त पंक्तियां रामचरितमानस में वर्णित तथ्यों से भिन्न सत्य का प्रतिपादन करती हुई प्रतीत होती हैं। रामचरितमानस में यह बताया गया है कि जब सम्पाती ने बन्दरों को अशोक-वाटिका में मैथिली के होने का संकेत दिया, तब उसके नवीन पंख निकल आए। उस समय सम्पाती ने बन्दरों को अपना संस्मरण सुनाते हुए इसका रहस्य बताया, "सूर्य की ओर अभियान करता हुआ जब मैं ऊपर की ओर उठ रहा था तब उसकी किरणों की ज्वाला से मेरे पंख विनष्ट हो गए और मैं पृथ्वी पर आ गिरा। महर्षि चन्द्रमा को मुझपर दया आई और उन्होंने ज्ञान देकर मेरा देहाभिमान नष्ट कर दिया। साथ ही उन्होंने यह आशीर्वाद भी दिया कि तुम्हारे विनष्ट पंख पुनः प्राप्त हो जायेंगे। त्रेता युग में श्री राम का अवतार होगा और उनकी पत्नी का लंकापति रावण के द्वारा हरण किया जायेगा। उनके अन्वेषण में बन्दर भेजे जायेंगे। और तब तुम उन्हें लंका में स्थित विदेहनन्दिनी का साक्षात्कार कराने में अपनी दृष्टि और वाक्य द्वारा सहायता करना। इतने मात्र से ही तुम्हें पुनः पंख और नवयौवन प्राप्त हो जाएगा। आज महर्षि की वाणी सत्य सिद्ध हुई :

हम द्वौ बंधु प्रथज तरुनाई।
गगन गए रबि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा।
मैं अभिमानी रबि निअरावा॥

जरे पंख अति तेज अपारा।
परेउँ भूमि करि घोर चिकारा।।
मुनि एक नाम चंद्रमा ओही।
लागी दया देखि करि मोही।।
बहु प्रकार तेहि ग्यान सुनावा।
देह जनित अभिमान छुड़ावा।।
त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही।
तासु नारि निसिचरपति हरिही।।
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता।
तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता।।
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता।
तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता।।
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।
सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।।

इस संस्मरण के अनुसार चन्द्रमा मुनि ही श्रेय के भागी प्रतीत होते हैं। वस्तुतः विरोधाभासी प्रतीत होने वाले इस तथ्य में ही आंजनेय की अलौकिकता का रहस्य छिपा हुआ है। समुद्र-तट पर पहुंचकर बन्दरों में जिस नैराश्य का उदय हुआ था उसका स्पर्श भी पवनपुत्र के हृदय में नहीं था। वे सर्वज्ञता की योग-सिद्धि से भी सम्पन्न थे। उन्हें यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि मैथिली अशोक वाटिका में वन्दिनी है। न तो उन्हें प्रोत्साहित करने की आवश्यकता थी। फिर भी वे सारी घटनावली में मूकदर्शक बने बैठे रहे। वस्तुतः वे चन्द्रमा मुनि की वाणी को सत्य सिद्ध होने देना चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि सम्पाती भी वाणी के द्वारा प्रभु के कार्य में सहायक बनकर अपने जीवन को सार्थक कर ले। अपनी मर्यादा के संरक्षण की चिन्ता तो अनेकों महापुरुषों के मन में पाई जाती है। पर पूरे रामचरितमानस में आंजनेय में ही यह विशेषता बार-बार दिखाई देती है कि वे अपनी तुलना में दूसरों की मर्यादा को संरक्षण देने पर अधिक महत्त्व देते हैं। लंका में पहुंचकर वे विभीषण से मैथिली तक पहुंचने की युक्ति पूछते हैं। मेघनाद के द्वारा ब्रह्मास्त्र का संधान किए जाने पर ब्रह्मास्त्र से अवध्यता का वरदान प्राप्त होते हुए भी ब्रह्म की मर्यादा की रक्षा के लिए मूर्च्छा को स्वीकार कर लेने जैसी घटनाएं उनकी इसी प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। जहां अनेक व्यक्ति कार्य सिद्धि का अधिकांश श्रेय स्वयं हड़प लेना चाहते हैं, वहां पवनपुत्र सफलता के श्रेय में अधिकाधिक लोगों को भागीदार बनाना चाहते हैं। इसीलिए वे लंका की ओर प्रस्थान करते हुए बन्दरों से समुद्र-तट पर रुके रहने का अनुरोध करते हैं। भौतिक दृष्टि से बन्दरों के वहां रुकने की कोई उपयोगिता न थी। यह भी तो नहीं था कि संकट पड़ने पर वे लंका में महावीर की कोई सहायता कर सकेंगे। वे बेचारे तो समुद्र

लांघ कर लंका तक पहुंचने में भी समर्थ नहीं थे। अतः अधिक व्यावहारिक यही होता कि बन्दर किष्किन्धा लौट जाते। किन्तु आंजनेय यही चाहते थे कि उस महान् कार्य में जो श्रेय उपलब्ध होने वाला है उसमें उनके अन्य साथी समान रूप से भागीदार बन सकें। यदि अंजनानन्दन के प्रति किसी भी बन्दर के मन में ईर्ष्या-भाव का उदय नहीं हुआ तो उसका भी कारण उनका स्वभाव था।

सम्पाती के चले जाने पर सभी बन्दर जिनमें रीछपति जाम्बवान् भी थे, समुद्र लांघने की अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेते हैं। उस समय सबकी दृष्टि महावीर की ओर जाती है। विशेष रूप से जाम्बवान् तो यह आश्चर्य भी प्रकट करते हैं कि ऐसे अवसर पर वे कैसे चुप हैं, जबकि उनके समान बलशाली अन्य कोई दूसरा नहीं है। वे यह स्मरण दिलाते हैं, "आप तो पवनपुत्र हैं और उन्हीं के समान बल और विवेक आप में विद्यमान है।" इस वाक्य का समुचित प्रभाव न पड़ते देख वे अन्त में यह भी स्मरण दिलाते हैं कि उनका तो जन्म ही राम-कार्य के लिए हुआ है :

निज निज बल सब काहूँ भाषा।
पार जाइ कर संसय राखा।।
जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।
नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा।।
जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी।
तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी।।
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ।।
अंगद कहइ जाउँ मैं पारा।
जियँ संसय कछु फिरती बारा।।
जामवंत कह तुम्ह सब लायक।
पठइअ किमि सबही कर नायक।।
कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।
का चुप साधि रहेउ बलवाना।।
पवनतनय बल पवन समाना।
बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।।
कवन सो काज कठिन जग माहीं।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।।
राम काज लगि तव अवतारा।
सुनतहिं भयउ पर्बताकारा।।

इस अन्तिम वाक्य का प्रभाव जादू जैसा हुआ और वे अचानक लघु के स्थान पर पर्वताकार प्रतीत होने लगे। इस प्रसंग में भी उनके भिन्न स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। जहां व्यावहारिक जगत में व्यक्ति जाति और कुल आदि की प्रशंसा

से प्रोत्साहन प्राप्त करता है और इस प्रकार की प्रेरणा उसे कार्य करने की दिशा में उत्तेजित करती है, वहां हनुमान पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसीलिए पवनपुत्र के रूप में अपनी सराहना सुनकर भी वे अपना मौन नहीं तोड़ते हैं। एक ही सम्बन्ध ऐसा है जिसे पूरे अन्तर्मन से स्वीकार करते हैं और वह है राम का नाता। वे राजसिक अभिमान की तो बात ही दूर सात्त्विक अभिमान से भी मुक्त हैं। वे कुल की विशिष्टता द्वारा स्वयं को गौरवान्वित नहीं मानते हैं। जाति और कुल का अभिमान यद्यपि कभी-कभी व्यक्ति को सत्कार्य की प्रेरणा देता है पर उसके दुष्परिणाम ही बहुधा सामने आते हैं। इसलिए पवनपुत्र के रूप में अपना परिचय देने के स्थान पर वे विभीषण के समक्ष 'कपि चंचल सबहीं बिधि हीना' कहकर अपने दैन्य को ही स्वीकार करते हैं। केवल एक ही ऐसा प्रसंग मानस में उपलब्ध होता है जहां वे अपना परिचय मारुतसुत के रूप में देते है :

मारुतसुत मैं कपि हनुमाना।
नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीन बन्धु रघुपति कर किंकर।
सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥

श्री भरत को दिये जाने वाले उस परिचय का उद्देश्य उनके संशय को मिटाना था। प्रभु के आगमन का समाचार श्री भरत को तब तक प्राप्त नहीं हुआ था। वे प्रभु की पैदल यात्रा की कल्पना कर रहे थे, अतः उन्हें यह विश्वास था कि यदि राघवेन्द्र शृंगवेरपुर तक भी पहुंचे होते तो निषादराज ने शुभागमन की सूचना उन तक पहुंचा दी होती। ऐसी स्थिति में जब अचानक ही कोई व्यक्ति प्रभु के कुशल समाचार को लेकर आने का दावा करे तब उसकी वाणी पर विश्वास करना सरल नहीं था। मारुतसुत के रूप में अपना परिचय देकर वे उस गति की तीव्रता का संकेत देना चाहते हैं, जो उनके परिचय में सन्निहित है। अन्त में वहां भी वे अपने परिचय की समाप्ति 'रघुपति कर किंकर' कहकर ही करते हैं।

बहुधा अधिकांश व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्य को नहीं पहचानते। लक्ष्य-विस्मृत व्यक्ति सही पथ का चुनाव कर भी कैसे सकता है। पथिक जीव की इस स्थिति पर विनयपत्रिका में व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किया गया है :

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव-बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे॥१॥
बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चंद मंद मोल बिनु डोला रे॥२॥
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाँव बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥३॥
काँट कुराय लपेटन लोटन ठाँवहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥४॥

मारग अगम संग नहि संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥५॥

अंजनानन्दन उन सौभाग्यशाली पथिकों में हैं जो एक क्षण के लिए भी अपने सहीं गांव का नाम नहीं भूलते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात है कि उनका उद्देश्य राम-काज है। इसीलिए जाम्बवान् की वाणी में यह शब्द आते ही उनका उत्साह उमड़ पड़ा और इसके बाद भी प्रत्येक परिस्थिति में राम-काज के महामन्त्र को वे नहीं भूलते। चाहे उनके समक्ष मैनाक के रूप में स्वर्ण पर्वत का प्रलोभन हो अथवा सुरसा के रूप में मृत्यु की विभीषिका मुंह बाए खड़ी हो, उनकी लक्ष्य स्मृति में एक क्षण के लिए भी व्यवधान उपस्थित नहीं होता। प्रलोभन और भय की परिस्थितियों में उनका एक ही अविचलित स्वर सुनाई देता है :

हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ॥

× × ×

राम काजु करि फिर मैं आवौं।
सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं ॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई।
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥

जामवन्त के उद्‌बोधन के पश्चात् उनकी शौर्य-भरी वाणी से बन्दरों का नैराश्य सर्वथा दूर हो जाता है। पर अमित शौर्य के क्षणों में भी वे अपना धैर्य नहीं खोते हैं। और रावण-वध की सामर्थ्य होते हुए भी वे जाम्बवान् के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि उनका उचित कर्तव्य क्या है :

सिंह नाद करि बारहिं बारा।
लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ॥
सहित सहाय रावनहिं मारी।
आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥
जामवंत मैं पूँछउँ तोही।
उचित सिखावनु दीजेहु मोही ॥

यात्रा यदि वाहन के माध्यम से सम्पन्न की जाए तो लक्ष्य तक पहुंचने में समय और श्रम दोनों की ही बचत होती है। भक्ति देवी की उपलब्धि के लिए की जाने वाली यात्रा संघर्षों से भरी पड़ी थी। इस प्रकार की यात्रा और विजयोपलब्धि के लिए जिस वाहन की अपेक्षा है, लंकाकांड में उसका धर्मरथ के रूप में वर्णन किया गया है। उस रथ को आगे बढ़ाने के लिए जिन पहियों की आवश्यकता हैं उनका नामकरण शौर्य और धैर्य किया गया है :

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥

यात्रा के प्रारम्भ में ही आंजनेय में इन दोनों गुणों का समन्वय उपलब्ध होता है। प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि वे वाहनहीन दिखाई देते हैं किन्तु उनके अन्तर्मन में धर्म-रथ समग्र रूप से विद्यमान है।

सद्गुणों का सन्तुलन उनके अनेक अद्भुत गुणों में से एक है। वस्तुतः धर्मरथ का मुख्य आधार ही सन्तुलन है। अनेक व्यक्ति सद्गुण-सम्पन्न होते हुए भी सन्तुलन के अभाव में समग्र सफलता प्राप्त करने में असफल रहते हैं। इसलिए धर्मरथ में अधिकांश सद्गुण युगल रूपों में रखे गए हैं। शौर्य के साथ धैर्य, सत्य के साथ शील, वल के साथ विवेक, इन्द्रिय-दमन के साथ परोपकार, क्षमा और कृपा के साथ समत्व, वैराग्य के साथ सन्तोष, विज्ञान के साथ सम, यम, नियम का उल्लेख इसी सन्तुलन के सत्य को प्रकट करता है। धर्मरथ के इस सन्तुलन को पूरी तरह साकार देखने के लिए महावीर हनुमान से बढ़कर दूसरा पात्र मिलना सम्भव नहीं है। किष्किन्धा से लेकर लंका तक की इस दुर्गम यात्रा में पग-पग पर उनके इस सन्तुलन की कड़ी परीक्षा हुई और वे सर्वत्र सफल सिद्ध हुए। परस्पर विरोधी प्रकार की प्रवृत्तियां विघ्न रूप में उनके समक्ष उपस्थित होती रहीं और आञ्जनेय समन्वय और सन्तुलन के द्वारा उन विघ्न-बाधाओं को पार करते रहे।

यात्रा का श्रीगणेश होते ही समुद्र के अन्तराल से निकलकर स्वर्ण पर्वत उनके समक्ष आ खड़ा हुआ। पौराणिक गाथाओं के अनुसार यह मैनाक स्वर्ण पर्वत था और जब इन्द्र के भय से वह भाग रहा था तब पवनदेव ने उसकी सहायता की और समुद्र में छिपकर वह सुरक्षित रह सका। समुद्र ने उसी ऋण के परिशोध के लिए मैनाक से यह अनुरोध किया था कि वह अपने मित्र के पुत्र का स्वागत करे :

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी।
तैं मैनाक होहि श्रम हारी॥

पर पवनपुत्र ने इस स्वागत समारम्भ को सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखा। उन्होंने न तो इस स्वागत में अपने पिता के गौरव का अनुभव किया और न ही इसे भगवत्कृपा का प्रतीक मानकर आनन्दित हुए। एक क्षण के लिए भी उनको अपना लक्ष्य विस्मृत नहीं होता है। स्वर्ण पर्वत का प्रलोभन उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर पाता। वे मैनाक पर्वत के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं। किन्तु उनकी अस्वीकृति भी उनके स्वरूप के ही अनुरूप थी। प्रलोभनों से विचलित हो जाने वाले अनगिनत व्यक्ति समाज में दिखाई देते हैं। बड़े कहे जाने वाले अनेक व्यक्ति किस प्रकार प्रलोभनों के समक्ष हार मान बैठे, इसकी अनेक गाथाएं इतिहास में उपलब्ध हैं। किन्तु ऐसे महापुरुषों की भी कमी नहीं है जिनमें लोभ के स्थान पर त्याग की गरिमा का साक्षात्कार होता है जिन्होंने बड़े-से-बड़े प्रलोभनों को ठुकरा दिया। किन्तु क्या प्रलोभनों को ठुकरा देना ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति है ? बहुधा त्याग के पीछे सात्त्विक अहंकार सक्रिय हो जाता है और तब व्यक्ति स्वयं को लोक में त्यागी और विरागी के रूप में देखना चाहता है। समृद्धि के प्रलोभनों को ठुकरा कर भी

व्यक्ति सम्मान के प्रलोभन में उलझ जाता है। लोभी स्वयं के लोभ को छिपाने की चेष्टा करता है क्योंकि उसे यह ज्ञात रहता है कि लोभ सद्गुणों की श्रेणी में नहीं गिना जाता :

गुन सागर नागर नर जोऊ।
अलप लोभ भल कहइ न कोऊ॥

ठीक इसके प्रतिकूल त्याग के प्रति समाज में सम्मान की भावना पाई जाती है और जब कोई व्यक्ति त्याग का प्रदर्शन करता है तब इसका तात्पर्य यही है कि वह लोक-सम्मान का भूखा है। हनुमान जी मैनाक से यह कह सकते थे कि तू मेरे सामने से हट जा, मुझे सोने का लोभ नहीं है, मैं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा हूं। किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। वे मैनाक के समक्ष नतमस्तक होकर उनके प्रति समादर प्रकट करते हैं। स्वागत की वस्तुओं को अपने हाथों से छूकर मैनाक के सद्भाव को सम्मान देते हैं, पर विनम्रतापूर्वक अपने लक्ष्य की स्मृति दिलाते हुए उन्हें अस्वीकार कर देते हैं :

हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

वे प्रलोभन की हीनता और त्याग के अहंकार दोनों से मुक्त हैं। मैनाक पर्वत से विदा लेकर वे ज्यों ही आगे बढ़ते हैं, सुरसा के रूप में एक नई विपत्ति सामने आकर खड़ी हो जाती है। इसे देवताओं ने पवनपुत्र की परीक्षा के लिए भेजा था। मैथिली के अन्वेषण के लिए दक्षिण दिशा में जिन बानरों को भेजा गया था वे सब प्रमुख वीर थे। यदि वे सामूहिक रूप से समुद्र-सन्तरण का अभियान करते तो सम्भवतः देवता उतने संशयग्रस्त न होते जितने कि आञ्जनेय को अकेले जाते देख कर हो गए। यों भी वे रावण के पौरुष और प्रतिभा से अनेक बार पराभूत हो चुके थे। लंका की दुर्धर्षता से वे भलीभांति परिचित थे। अतः आञ्जनेय को अकेले जाते देखकर उनका आतंकित हो उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

परीक्षा के लिए सुरसा की नियुक्ति भी सोच-समझकर ही की गई थी। सर्पिणी यों भी अपनी क्रूरता के लिए लोक में प्रसिद्ध है। अपने ही पुत्रों को खा जाने वाली कामरूपधारिणी सुरसा अञ्जनानन्दन के प्रति सहृदय होकर परीक्षा लेंगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। लंका के जिन राक्षसों के बीच आञ्जनेय जा रहे थे, वे भी निर्दयता की सीमा थे। अतः वहां से बचकर लौट आना आञ्जनेय के लिए कैसे सम्भव होगा, देवताओं की परीक्षा का उद्देश्य यही था। इस परीक्षा में भी वे शत-प्रतिशत खरे उतरे और परीक्षिका स्वयं चकित रह गयी। सुरसा के द्वारा खा लिए जाने का प्रस्ताव किए जाने पर वे असाधारण धैर्य का परिचय देते हैं। मृत्यु के रूप में सुरसा को सामने मुख फैलाए देखकर भी वे आतंकित नहीं होते हैं। जीवन और मृत्यु के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सुलझा हुआ था। वे वीरता की ख्याति के लिए शरीर को व्यर्थ विनष्ट कर देना उपयुक्त नहीं मानते। वे उस

राजपूती गाथा के प्रतीक नहीं हैं जो अकबर के दरबार में प्रकट हुई थी। कहा जाता है कि दो राजपूतबन्धु अकबर की सेना में सम्मिलित होने के लिए सभा में उपस्थित हुए। उनसे जब अपनी वीरता प्रमाणित करने के लिए कहा गया तब वे तलवार खींचकर एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हो गए और लड़ते हुए मारे गए। इस प्रकार की शौर्यगाथाएं रोमांचित भले ही करती हों, पर इनमें विवेक का कहीं स्पर्श भी दिखाई नहीं देता।

ईश्वर के द्वारा प्रदत्त जीवन निरुद्देश्य नहीं है। जीवन के लक्ष्य को विस्मृत कर उसे यों ही विनष्ट हो जाने देना विवेकहीनता का परिचायक है। इसलिए ज्ञान-शिरोमणि ने सुरसा को उत्तर देते हुए सहज स्वर में कहा, "प्रभु का कार्य सम्पन्न कर जब मैं लंका से लौटूंगा और वैदेही का संदेश प्रभु को सुना दूंगा तब उसके पश्चात् तुम्हारे मुख में पैठ जाऊंगा। तब तुम मुझे खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लेना :"

सुरसा नाम अहिन्ह कै माता।
पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता।।
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।
सुनत बचन कह पवनकुमारा।।
राम काजु करि फिर मैं आवौं।
सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।।
तब तव बदन पैठिहउँ आई।
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई।।

इस उत्तर में जहां ईश्वर की सेवा के लिए शरीर की सार्थकता का समर्थन है, वहीं उसके प्रति आसक्ति का भी अभाव है। यह शरीर कभी विनष्ट न हो, ऐसी आकांक्षा उनमें नहीं दिखाई देती है। जीवन के चरम उद्देश्य की उपलब्धि के पश्चात् यदि शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाय तो उन्हें इसमें कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता। इस तरह वे जीवन और मृत्यु को विचार के शिखर पर बैठकर सहज भाव से देखते हैं। जीवन का मोह और मृत्यु का भय उन्हें नहीं छू पाता है।

सुरसा उनके दर्शन को नहीं समझ पाती। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह समझकर भी इसे स्वीकार नहीं करना चाहती। इसीलिए उन्हें वह खाने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। किन्तु अपने रौद्र रूप के द्वारा भी वह महारुद्र को विचलित नहीं कर पाती है। वे उसकी चुनौती को स्वीकार कर लेते हैं। उनका स्वरूप सीमाओं से परे है, इसलिए वे सुरसा के बढ़ते हुए विकराल मुख के समक्ष स्वयं को दुगुने रूप में प्रस्तुत करते जाते हैं। किन्तु सुरसा का मुख जब सौ योजन तक फैल जाता है तब वे सर्वथा भिन्न दर्शन का परिचय देते हैं। उनके लिए दो सौ योजन का रूप बना लेना सहज था। इस होड़ को बहुत लम्बे काल तक चलाया जा सकता था किन्तु तब हनुमान, हनुमान न होते। अभिमान और नम्रता के बीच में सीमा रेखा खींचना बहुत ही कठिन है। व्यवहार में सर्वथा विनम्रता का परिचय देना

कभी-कभी कायरता का पर्यायवाची बन जाता है। इसलिए कायरता की तुलना में स्वाभिमान की सराहना की जाती है। किन्तु स्वाभिमान के नाम पर जब व्यक्ति अभिमान का प्रदर्शन करने लग जाता है तब वह केवल संघर्ष की ही सृष्टि करता है। अतः धन्य वह है जो इन दोनों के मध्य में रहकर विश्व के व्यावहारिक संघर्ष में सन्तुलित रहकर विजयी होता है। आञ्जनेय लंका में अपने पौरुष अथवा अहंकार का प्रदर्शन नहीं करने जा रहे थे। उनके समक्ष एक महान् लक्ष्य था जिसकी पूर्ति के लिए कायरता के साथ-साथ अहंकार के त्याग की भी आवश्यकता थी। अति लघु बनाकर जब वे सुरसा के मुख में प्रविष्ट होकर पुनः लौट आते हैं तब वे इसी विवेक का परिचय देते हैं। पवनपुत्र के इस सन्तुलन से सन्तुष्ट होकर सुरसा उन्हें सफलता का आशीर्वाद प्रदान करती है :

कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना।
ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥
जोजन भर तेहिं बदनु पसारा।
कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ।
तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥
जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा।
तासु दून कपि रूप दिखावा॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।
मागा बिदा ताहि सिर नावा॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।
बुधि बल मरमु तोर मैं पावा॥
राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

समुद्र-तट पर बन्दरों के समक्ष केवल एक ही समस्या थी कि शत योजन विस्तीर्ण समुद्र को कैसे पार किया जाय। उस समय उन्हें यह ज्ञात ही नहीं था कि चार सौ कोस के उस अन्तराल में इतने विशाल विघ्न थे कि जिनके सामने समुद्र की बहुलता अल्प थी। महोदधि के मार्ग में आञ्जनेय को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा उनमें से एक भी समस्या बड़े-से-बड़े व्यक्ति को असफल करने में यथेष्ट थी। सिंहिका के रूप में जो विघ्न सामने आया उसे पार करना आञ्जनेय को छोड़कर अन्य किसी के लिए सम्भव न होता। व्यक्ति को पकड़ लेने से छाया की गति अवरुद्ध हो जाती है, इस नियम को तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है। किन्तु छाया भी पकड़ी जा सकती है और उसके पकड़ लेने से व्यक्ति की गति में

अवरोध आ सकता है, इसे समझ पाना क्या सरल था ? किन्तु लंका के पथ में महावीर को यही अनुभूति हुई। समुद्र पार करते हुए उन्हें अचानक ऐसा जान पड़ा कि जैसे किसी ने उन्हें आगे बढ़ने से रोका हो। इसका मानस में अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह राहु दैत्य की माता लंकिनी थी। रामाज्ञा प्रश्न में उसका नामकरण सिंहिका किया गया है। इसने अपने निवास के लिए समुद्र की गहराइयों को चुना था। समुद्र में भयानक जलचरों की कल्पना की जा सकती थी, किन्तु जलचरों से भय भी तो उसे ही हो सकता था जो समुद्र को तैर कर पार करने का प्रयास कर रहा हो। आकाश मार्ग से जाने वाले की गति को समुद्रस्थ जलचर से क्या भय हो सकता था ? किन्तु असम्भव प्रतीत होने वाला व्यापार ही यहां यथार्थ रूप में सामने आ गया।

अञ्जनानन्दन गति के अवरुद्ध होने के कारण को तत्काल समझ गए। यही उनके अद्भुत विवेक का प्रमाण था। किन्तु वह कोरा विवेक मात्र ही न था, उसे विनष्ट करने की सामर्थ्य भी उनमें विद्यमान थी। सिंहिका उनके एक ही प्रहार से समाप्त हो जाती है :

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई॥
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा॥
ताहि मारि मारुतसुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मति धीरा॥

प्रतीकात्मक दृष्टि से इस प्रसंग के रहस्य को अधिक गम्भीरता से हृदयंगम किया जा सकता है। पवनपुत्र को एक ऐसे साधक का प्रतीक कह सकते हैं जो लंका में भक्ति देवी का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जा रहा है। वे सारे बन्दर जो उनके अन्वेषण में प्रवृत्त हुए थे, ऐसे साधक हैं जो विघ्न-बाधाओं के कारण लक्ष्य तक पहुंचने में असफल रहे। यद्यपि साधना का श्रीगणेश बड़े उत्साह से किया गया था किन्तु अवरोधों के कारण मार्ग में ही रुक जाने को बाध्य हो गए। एकमात्र आञ्जनेय ही चरम विश्वास के साथ लक्ष्य की ओर बढ़ते जा रहे हैं। मैनाक और सुरसा के रूप में प्रलोभन और भय उन्हें लक्ष्य की ओर बढ़ने से रोक नहीं पाते। किन्तु प्रलोभन ओर भय सामने थे, उन्हें पहिचान पाना कठिन नहीं था। परन्तु सिंहिका के रूप में जो विघ्न आया वह दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। वस्तुतः सिंहिका ईर्ष्यावृत्ति की प्रतीक जान पड़ती है। यह राहु की माता थी और राहु

मात्सर्य का प्रतीक कहा जा सकता है। संस्कृत व्युत्पत्ति के अनुकूल (मत्तः सरति) दूसरों को स्वयं से आगे बढ़ते देखकर जिस आक्रोश का उदय होता है वही मात्सर्य का यथार्थ स्वरूप है। देवताओं को अमृत पीते देखकर राहु में इसी भाव का उदय हुआ था, और उसने यह निर्णय किया था कि किसी भी उपाय से उसे भी अमृत पीना है। इस राहु को जन्म देनेवाली सिंहिका ईर्ष्यावृत्ति के रूप में मनुष्य के अन्तकरण में विद्यमान रहती है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि ईर्ष्या के अभाव में मात्सर्य का जन्म नहीं हो सकता। विशाल समुद्र के अन्तराल में इसका छिपकर रहना भी सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि दुर्गुणों में दुराव की प्रवृत्ति सहज रूप में देखी जाती है, किन्तु उसमें भी एक तारतम्य होता है। कुछ दुर्गुण ऐसे होते हैं जिनके प्रकट हो जाने पर व्यक्ति इतना संकुचित नहीं होता। किन्तु ईर्ष्या एक ऐसी वृत्ति है जिसे व्यक्ति अपने हृदय के निगूढ़तम प्रदेश में छिपा कर रखता है। ईर्ष्या एक कपटी वृत्ति है जो बहुत बड़े कहे जाने वाले व्यक्तियों के हृदय में भी विद्यमान रहती है। ईर्ष्या के मुख्य आखेट भी वे ही होते हैं जो स्वयं की तुलना में ऊपर उठते हुए दिखाई देते हैं। इसीलिए समुद्र के अन्तराल में छिपकर रहने वाली सिंहिका जलचरों को खाने में तृप्ति का अनुभव नहीं करती। उसे ऊपर की ओर उठते हुए व्यक्तियों को गिराकर खाने में ही तृप्ति और आनन्द का बोध होता है। गिराने के लिए भी वह शरीर के स्थान पर छाया का आश्रय लेती है। शरीर को पकड़ कर गिराने के लिए स्वयं भी तो ऊपर की ओर उठना होगा। ईर्ष्या व्यक्ति को ऊपर उठने नहीं देती। इसलिए ईर्ष्यालु इसमें ही चरम तृप्ति का अनुभव करता है कि दूसरे लोग उसकी अपेक्षा हीन स्थिति में पहुंच चुके हैं। ईर्ष्या में दोष दर्शन की जो प्रवृत्ति होती है उसी को यहां छाया के ग्रहण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आंजनेय लंका की ईर्ष्या प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि वे सर्वदा दूसरों को ऊपर उठाकर आनन्दित होते हैं। इसीलिए वे स्वयं प्रभु के दास्य-भाव में रहकर सुग्रीव और विभीषण जैसे व्यक्तियों को प्रभु से मिलाकर उन्हें सख्य-पद दिलाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में उत्थान के साथ-साथ जिस सात्त्विक अभिमान का उदय होता है, उसी को हम साधक की छाया कह सकते हैं। ईर्ष्यालु किसी को गिराने में तभी सफल होता है जब उसमें अहंकार की छाया का दर्शन हो। क्या पवनपुत्र में भी छाया विद्यमान थी? क्योंकि सिंहिका के द्वारा उनकी छाया पकड़ ली गई ऐसा वर्णन किया गया है। इसका उत्तर यही कि उनमें एक ऐसे अभिमान की छाया विद्यमान है जो बहिरंग रूप से अभिमान प्रतीत होते हुए भी भक्तों को परम प्रिय है। यह वही अभिमान है जिसकी याचना सुतीक्ष्ण के द्वारा प्रभु से की की गई है :

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

जहां सांसारिक अभिमान व्यक्ति को नीचे गिराता है वहीं यह अभिमान

व्यक्ति का पतन रोकने में समर्थ होता है। बहिरंग आकृति देखकर सिंहिका का भ्रमित हो जाना स्वाभाविक था क्योंकि ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरों में भी वही देखता है जो स्वयं उसमें विद्यमान होता है। इसीलिए सिंहिका स्वयं के अभिमान को आंजनेय में आरोपित कर लेती है। यही भ्रान्ति सिंहिका के विनाश का कारण बनी। आंजनेय की अनगिनत सफलताओं में से यह एक अद्भुत सफलता थी। व्यावहारिक विश्व में ईर्ष्या एवं मात्सर्य की वृत्तियों को स्वाभाविक मानकर स्वीकार किया जाता है और कभी-कभी उसे प्रोत्साहित भी किया जाता है। प्रतियोगिता के द्वारा उत्थान का सिद्धान्त इसी भावना पर आधारित है। किन्तु भगवद्भक्ति के क्षेत्र में ईर्ष्या और मात्सर्य का रंचमात्र भी उपयोग नहीं है। इसी लिए हनुमान जी ने क्षण भर में उसका हनन कर दिया। उसे समझाने या उससे समझौता करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु आगे चलकर जब लंकिनी ने उन्हें ठीक उसी प्रकार खाने का प्रयास किया तब वे उसे मृत्युदण्ड नहीं देते हैं। केवल मुष्टिका-प्रहार के द्वारा उसे ऐसी मनःस्थिति में ला देते हैं जब वह स्वयं सहायिका बनकर उन्हें लंका में प्रविष्ट होने देती है। समान परिस्थिति में व्यवहार की यह भिन्नता भी उनकी दृष्टि के पैनेपन का परिचय देती है।

वह राक्षसी जो प्रारम्भ में कटूक्तियों का प्रयोग करती हुई दिखाई देती है, मानस में उसका परिचय लंकिनी के रूप में दिया गया है। स्वभाव से वह बुरी नहीं थी। अपितु जब उसे प्रारम्भ में यह ज्ञात हुआ था कि लंका नगर की रक्षिका के रूप में उसे रावण की सेवा करनी है तब वह विचलित हो उठी थी। बड़ी अनिच्छा से वह इस कार्य में प्रवृत्त हुई थी। किन्तु उस समय भी उसे ब्रह्मा के द्वारा यह आश्वासन प्राप्त हुआ था कि यह परिस्थिति सर्वदा रहने वाली नहीं है। एक दिन उसे रावण के पारतन्त्र्य से मुक्ति मिलेगी। पर रावण के सन्निकट रहते हुए लंकिनी इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसे अब रावण की सेवा में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता। रावण की आज्ञा का पालन ही सच्चा धर्म है उसे ऐसा प्रतीत होता है। लंकिनी को हम मानवीय प्रवृत्ति का प्रतीक कह सकते हैं। प्रवृत्ति स्वभाव से अच्छी अथवा बुरी नहीं होती है। विचार (ब्रह्मा) के साहचर्य में जहां वह असद् कर्मों का विरोध करती है, वहीं मोह (रावण) के साहचर्य से उसकी सद्भावनाएं धूमिल पड़ जाती हैं। प्रवृत्ति की भयानकता का अनुभव करने वाले अनेक साधक इसीलिए निवृत्ति पथ का आश्रय ग्रहण करते हैं किन्तु सारा विश्व तो प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही संचालित होता है और जो प्रवृत्ति में प्रविष्ट होते हैं, प्रवृत्ति उन्हें बहुधा खा लेती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति में चुनाव करना सरल नहीं है। यहां भी आंजनेय ने एक नवीन सन्तुलन-सेतु की स्थापना की। स्वयं वे गार्हस्थ्य-जीवन के बन्धनों से मुक्त हैं। बालब्रह्मचारी के रूप में उन्हें निवृत्ति-पथ का अनुगामी कह सकते हैं। पर वे जिन प्रभु की सेवा में संलग्न हैं, उन्होंने प्रवृत्ति के पथ को स्वीकार किया है। वे गृहस्थ हैं और अपनी प्राण-प्रिया सीता के प्रति

प्रगाढ़ अनुराग से प्रेरित होकर ही उन्होंने आंजनेय को यह कार्य सौंपा है कि वे उनका संदेश मैथिली तक पहुंचा दें। ऐसी स्थिति में पवनपुत्र के द्वारा प्रवृत्ति के विनाश का कार्य उनके इष्ट-दर्शन के प्रतिकूल होता। अतः उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य का मार्ग चुना। वे प्रवृत्ति पर प्रहार करते हैं और यह प्रहार उसे उस विसरे हुए सत्य का स्मरण दिला देता है जो कभी ब्रह्मा और उसके वार्तालाप में अभिव्यक्त हुआ था। इसीलिए वह जहां प्रारम्भ में महावीर के मुष्टि-प्रहार से मुंह के बल गिर पड़ी थी, वहां बाद में संभल कर उठ खड़ी होती है और हाथ जोड़-कर हनुमान के समक्ष सत्संग की महिमा का वर्णन करती हुई दिखाई देती है :

मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।
मोर अहार जहां लगि चोरा॥
मुठिका एक महाकपि हनी।
रुधिर बमत धरनीं ढनमनी॥
पुनि संभारि उठी सो लंका।
जोरि पानि कर बिनय ससंका॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा।
चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥
बिकल होसि तैं कपि के मारे।
तब जानेसु निसिचर संघारे॥
तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखेउँ नयन राम कर दूता॥
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग॥

तात्त्विक दृष्टि से इसका तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति को सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ देना कल्याणकारी नहीं है। प्रवृत्ति जब मिथ्या-धर्म को ही वास्तविक बताकर मोह की सेवा में सलग्न होने की चेष्टा करे, तब उस पर विचार के माध्यम से प्रहार किया जाना चाहिए। महावीर के मुष्टिका-प्रहार से जो रक्त प्रवाहित हुआ, उसका तात्पर्य था, राग में न्यूनता। विरागी बनकर प्रवृत्ति में प्रवेश करने वाला व्यक्ति रागहीन होकर कर्तव्य कर्म का पालन करता है। सत्संग के माध्यम से विराग सबल होता है। इसलिए जो व्यक्ति मुक्ति की याचना नहीं करते, वे भी प्रभु से यही मांग करते हैं कि भले ही कर्मों के कारण संसार में बार-बार जन्म लेना पड़े किन्तु वहां भी भक्ति के साथ-साथ सज्जनों का संग प्राप्त होता रहे :

यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्म वस, भ्रमत संसार संकट अनेकम् ।
तत्र त्वदभक्ति सज्जन समागम सदा, भवतु मे राम विश्राममेकम् ॥

भक्ताग्रगण्य हनुमानजी के द्वारा लंकिनी में आनेवाला परिवर्तन इसी दर्शन की सार्थकता को सिद्ध करता है । प्रहार में भी उसे प्रभु की कृपा का साक्षात्कार हुआ और वह इस भ्रान्ति से मुक्त हो जाती है कि रावण की सेवा करना उसका अपरिहार्य कर्तव्य है । आनन्द भरे स्वर में वह कोसलपुर राजा का स्मरण करते हुए महावीर से लंका में प्रविष्ट होने के लिए कहती है :

प्रविसि नगर कीजे सब काजा ।
हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥

लंका में प्रविष्ट होकर वे जो अद्भुत कार्य करने में सफल होते हैं, वह किसी अन्य पात्र के लिए कल्पनातीत था । उन्हें आदेश भी केवल इतना दिया गया था कि वे मैथिली को प्रभु का संदेश सुनाकर लौट आवें । सम्पाती के द्वारा यह सूचना भी उन्हें प्राप्त हो चुकी थी कि विदेहजा अशोक-वाटिका में वन्दिनी बनाई गई हैं । फिर भी वे उनके अन्वेषण में समग्र लंका के भवनों को खोज डालते हैं । यह पवननन्दन की नीति-चातुर्य का ही एक प्रमाण था । उन्हें यह ज्ञात था कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए शत्रु के मर्मस्थल पर प्रहार किया जाना चाहिए । इसके लिए यह आवश्यक था कि लंका जैसे दुर्धर्ष नगर के कोने-कोने से परिचित हो लिया जाय । इस तरह वे लंका के प्रत्येक घर में प्रविष्ट होकर योग्य गुप्तचर की भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह करते हैं । अतः जामवन्त द्वारा कहा गया यह वाक्य 'कोई ऐसा कार्य ही नहीं है कि जिसका निर्वाह आपके द्वारा सम्भव न हो' स्तुति-परक न होकर तथ्य के अनुकूल सिद्ध होता है । अन्वेषण की इस यात्रा में वे रावण के महल में सबसे अन्त में प्रविष्ट होते हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि यदि उनका लक्ष्य केवल मैथिली का पता लगाना होता तो वे सर्वप्रथम रावण के राज-महल और अशोक-वाटिका में ही प्रविष्ट होने का प्रयास करते किन्तु इस कार्य को वे सबसे अन्त में सम्पन्न करते हैं ।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना ।
पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा ।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥
गयउ दसानन मंदिर माहीं ।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥
सयन किएँ देखा कपि तेही ।
मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ॥

यह भी सम्भव है कि उनके अन्तर्मन में यह आकांक्षा विद्यमान रही हो कि लंका में किसी ऐसे व्यक्ति से परिचय प्राप्त किया जाय जो रावण के अन्याय पूर्ण

कृत्यों से सहमत न हो। यदि लंका में एक भी व्यक्ति ऐसा न होता तो उनकी दृष्टि में वह एक निष्प्राण नगर मात्र होता जहां व्यक्ति अभिव्यक्तियों से शून्य केवल कठपुतली मात्र होते। लंकिनी से जो उनका वार्तालाप हुआ था उससे भी उन्हें यही आशा बंधी होगी। उनकी यह आशा व्यर्थ नहीं गई और विभीषण के रूप में एक सच्चा साथी उन्हें उपलब्ध हो गया। प्रारम्भ में वे विभीषण का भवन देखकर चौंक पड़े थे। क्योंकि उन्हें जो दृश्य दिखाई पड़ा वह उनकी कल्पना में भी असंभव था। विभीषण के भव्य भवन के निकट हरि-मन्दिर की अवस्थिति उन्हें क्षण भर के लिए चौंका देती है :

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥
रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृन्द तहँ देखि हरष कपिराइ॥
लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥

लंका में शिव-मन्दिरों का होना आश्चर्यजनक नहीं था। किन्तु रुद्र की उपासना में संलग्न दैत्य और राक्षस सर्वदा हरि को विरोध में प्रस्तुत करते रहे हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु दैत्यों के विरोधी और देवताओं के पक्षधर हैं। इतिहास में घटित होने वाली घटनाओं से भी वे यही निष्कर्ष निकालते हैं। रुद्र में वाह्य दृष्टि से लोक-मर्यादा के पालन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। असुर ऐसे देवता को अपना आराध्य मान लें, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वे शिव के तात्त्विक दर्शन से अपरिचित बाहरी क्रिया-कलापों को ही उनका सच्चा स्वरूप मानने की भूल कर बैठते हैं। देवता और मनुष्यों को विनष्ट करते हुए वे इसे भी अपनी इष्ट निष्ठा का ही प्रमाण मान लेते हैं। हरि और हर में विरोध की कल्पना करते हुए वे जातीय युद्ध को धार्मिक रंग दे देते हैं। सम्भवतः इससे उन्हें अपनी क्रूरता भी आदर्श से ओत-प्रोत दिखायी देती हो। ऐसे नगर में रावण के भवन के इतने निकट हरि-मन्दिर को देखकर आंजनेय का चौंक पड़ना स्वाभाविक ही था। वे लंका के बहुरूपियेपन से सर्वथा परिचित थे। मैथिली के अपहरण में भी उस बहुरूपियेपन का प्रयोग किया गया था। अतः बहिरंग वातावरण और वेशभूषा से ही वे किसी को सन्त मानने की भूल नहीं दोहरा सकते थे। वे प्रतिक्षण चौकन्ने थे और बौद्धिक तर्क से विश्लेषण किये बिना किसी भी तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। विश्वास और विवेक का समन्वय भी उनके चरित्र में दर्शनीय है। भगवद्विश्वास उनके मन प्राण में भरा हुआ है। किन्तु वे उन अन्धविश्वासियों में नहीं हैं जो पात्र का विचार किये बिना ही चाहे जहां भरोसा करने की भूल कर बैठते हैं। विश्वास तभी वरदान सिद्ध होता है जब वह उपयुक्त पात्र से सम्बद्ध हो। अन्यथा प्रतापभानु के समान वह सर्वनाश का भी हेतु बन सकता है। फिर जहां

भौतिक कामनाओं से प्रेरित होकर विश्वास किया जाता है, वहां ठगे जाने की सम्भावना और भी अधिक होती है। आंजनेय के चरित्र में केवल एक ही ऐसा अवसर आता है जब उन्होंने प्यास से व्याकुल होकर सुवेश सन्तत्व की कल्पना करली। यह कालनेमि था जो रावण के द्वारा उनका मार्ग अवरुद्ध करने के लिए भेजागया था :

मारुतसुत देखा सुभ आश्रम।
मुनिहि बूझि जलु पियौं जाइ श्रम ॥

किन्तु वहां भी वे शीघ्र ही सावधान हो जाते हैं। इसीलिए अत्यन्त प्यासे होते हुए भी कालनेमि के कमण्डलु का जल स्वीकार नहीं करते और सरोवर में मकरी से सूचना प्राप्त होते ही कालनेमि को विनष्ट करने में वे क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते हैं। किन्तु लंका में वे इतने अधिक सावधान थे कि उनमें क्षण भर का भी प्रमाद नहीं दिखाई देता है। विभीषण का यह भव्य भवन और हरि-मन्दिर जहां उन्हें आनन्दित करता है वहीं उन्हें यह सोचने की प्रेरणा भी देता है कि यह कैसे सम्भव है कि विष्णु विरोधी रावण हरि-मन्दिर की उपस्थिति को सह ले। उनके इस तर्क-वितर्क का समाधान विभीषण के स्वर से हुआ। ब्राह्म वेला में जाग्रत् विभीषण उच्च स्वर में प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं और उस स्वर ने आंजनेय को पूरी तरह आश्वस्त कर दिया। वाणी के द्वारा भगवन्नाम का उच्चारण कोई भी व्यक्ति कर सकता है, किन्तु उसमें हृदय का रस घोल पाना सबके लिए सम्भव नहीं है। प्रीति पुरस्सर रामनाम का स्मरण सुनते ही पवनपुत्र पुलकित हो उठे। उन्होंने विभीषण से परिचय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया :

मन महुँ तरक करैं कपि लागा।
तेहीं समय बिभीषनु जागा ॥
राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा।
हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी।
साधु ते होइ न कारज हानी ॥

यदि एक ओर विश्वास उनके विवेक को विनष्ट नहीं करता है तो दूसरी ओर उनकी विचारशीलता उन्हें संशयात्मा भी नहीं बनाती है। अन्धविश्वास यदि घातक है तो प्रतिक्षण संशय में जीते रहना उससे कहीं अधिक दुःखदायी है। अन्धविश्वासी प्रारम्भ में सुख की कल्पना से संतुष्ट हो लेता है; किन्तु निरन्तर संशय में जिस त्रास का उदय होता है, वह व्यक्ति को सर्वदा दुःख की दिशा में ही ले जाता है। इसलिए अन्धविश्वास और संशय दोनों ही चरम लक्ष्य नहीं हो सकते।

आंजनेय का विचार रजोगुण के अहंकार से मुक्त है इसीलिए वे विभीषण से परिचय प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करते हैं। यह परिचय दोनों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। जहां पवननन्दन को विभीषण के रूप में एक ऐसा साथी प्राप्त हुआ जो न केवल उनके लिए, अपितु प्रभु के लिए

भी महान् सहायक सिद्ध हुआ, वहीं विभीषण भी उस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो गए जो उन्हें अनजाने में रावण के अन्यायपूर्ण कृत्यों का मूक दर्शक बनाये हुए था। पवन-नन्दन विभीषण को वार्तालाप में भ्राता के रूप में सम्बोधित करते हैं :

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता॥

इस नन्हें से शब्द ने विभीषण को जिस वैचारिक क्रान्ति की दिशा में मोड़ दिया उसी ने अन्त में उन्हें शरणागति के पथ पर पहुंचा दिया और वे निःसंकोच भाव से रामभद्र का साथ दे सके। विभीषण की मनःस्थिति प्रारम्भ से ही हरि-भक्ति की दिशा में उन्मुख थी। वे उस सामाजिक धारणा से आबद्ध थे, जिसमें भाई का स्थान पिता के तुल्य माना जाता था, और यह मान लिया गया था कि प्रत्येक परिस्थिति में भाई का साथ देना धर्म है। इसी भावना ने उन्हें रावण के कार्यों का मूक दर्शक बने रहने की प्रेरणा प्रदान की। पर आज एक भिन्न देश और जाति से आये हुए व्यक्ति ने उन्हें भाई कहकर चौंका दिया। भ्रातृत्व का आधार क्या है ? एक पिता अथवा माता से उत्पन्न सन्तान ही परस्पर भाई माने जाते थे।

विभीषण और रावण इसी दृष्टि से बंधुत्व के रूप में आबद्ध थे। किन्तु आंज-नेय उन्हें भ्रातृत्व का नया अर्थ देते हैं। जीव के शरीर को प्रत्येक जन्म में एक नई माता की उपलब्धि होती है, किन्तु अखण्डित मातृत्व तो एकमात्र महाशक्ति सीता में ही सन्निहित है। भक्तों की दृष्टि में मैथिली जगन्माता हैं और राम साक्षात् जगत्पिता। इस यथार्थ तत्त्व को हृदयंगम कर लेने के बाद भ्रातृत्व का वह घेरा टूट जाता है जो सामाजिक जीवन में अपने और पराये में भेद की सृष्टि करता हुआ अन्याय को प्रोत्साहित करता है। जगज्जननी सीता के अपहरण ने विभीषण को विचलित कर दिया था। किन्तु आंजनेय के आने से पहले वे अन्याय के निवारण में कोई सक्रिय भूमिका सम्पन्न नहीं कर पाये थे। हनुमान के साहचर्य से वह भ्रान्ति मुक्त हो जाते हैं और मैथिली तक पहुंचने में वे उनके सहायक बनते हैं :

जुगुति बिभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥

अशोक-वाटिका में उनके शौर्य, धैर्य और विवेक, सत्य और शील परिस्थिति के तराजू पर तौले जाते हैं और वे सर्वथा अतुलनीय सिद्ध हुए। जब वे अशोक-वाटिका में मां मैथिली का वियोग-कृश मलिन शरीर देखते हैं उस समय उनके लिए स्वयं को रोक पाना सरल न था। मिथिला की राजकुमारी हर प्रकार की प्रतिकूल परि-स्थिति में राक्षसियों द्वारा सताई जा रही हैं, इस दृश्य को शौर्य-सिन्धु महावीर अपनी आंखों से देखते हैं।

दुःख और व्याकुलता से उनका हृदय विदीर्ण होने लगता है। इन राक्षसियों को दण्डित करना उनके बाएं हाथ का खेल था, पर वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जो मां मैथिली के लिए संकट का कारण बने। किन्तु अवसर आते ही क्रूरकर्मा

राक्षसों को अपने पौरुष का ऐसा परिचय प्रदान करते हैं कि जिससे उनमें विदेह-नन्दिनी की ओर दृष्टि उठाकर देखने का साहस भी नहीं रह जाता। वे राक्षसियों के अपराध के लिए उन्हें दण्ड न देकर जब राक्षसों को दण्डित करते हैं तब उनकी सूक्ष्म न्यायपरायणता का परिचय प्राप्त होता है। राक्षसियाँ स्वयं अपनी इच्छा से विदेहजा को भयभीत करने का प्रयास नहीं करती हैं वे तो अपने पति की अनु-गामिनी थीं। अतः आंजनेय की दृष्टि में वास्तविक अपराधी तो राक्षस ही थे। राक्षसियों की दयनीय स्थिति से वे परिचित थे और इसीलिए उनके क्रूर प्रयासों को भुला सके। अशोक-वाटिका के पत्तों की आड़ में छिपे हुए वे जिस विचारशीलता का आश्रय लेते हैं वह भी उनके सन्तुलित मस्तिष्क का ही परिचय देती है :

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई।
करइ बिचारु करौं का भाई।।

विचार के इन्हीं क्षणों में दशग्रीव अपनी रानियों के साथ मैथिली के सम्मुख पहुँचकर उन्हें प्रलोभन और भय के द्वारा अपनी वशवर्तिनी बनाने का प्रयास करता है। तेजमयी मैथिली की वाणी से उसके अहंकार पर इतना तीव्र प्रहार हुआ कि वह आवेश में तलवार निकालकर उनकी ओर झपटने का प्रयास करता है। ऐसे अवसर पर आंजनेय का अविचलित रहना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है।

किन्तु इस दृश्य में उनकी नीति, प्रीति और भक्ति सभी कसौटियों पर खरी उतरती हैं। वे चारित्रिक विशेषताओं के अद्भुत पारखी थे। सम्भवतः उन्हें रावण का दुर्बल पक्ष ज्ञात था। नारी उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी और उसे इस बात का गर्व था कि अगणित महिलाएं उसके शौर्य और ऐश्वर्य से प्रभावित होकर उसकी अंकशायिनी बन चुकी थी। यद्यपि वह विदेहनन्दिनी का बलात् अपहरण कर लाया था पर उसे यह पूर्ण विश्वास था कि लंका की समृद्धि और उसका अतुलनीय ऐश्वर्य विदेहकुमारी को आकृष्ट किए बिना न रहेगा। किन्तु मैथिली के द्वारा की जाने वाली उपेक्षा उसे असहनीय प्रतीत हो रही थी। कृपाण से उनका सिर काट लेना उसकी पराजय का सबसे बड़ा प्रतीक बन जायगा, इसे समझना उस जैसे राज-नीतिज्ञ के लिए कठिन न था। इसलिए वह भय की सृष्टि करते हुए भी आगे न बढ़ेगा ऐसा पवननन्दन को पूर्ण विश्वास था। साथ ही साथ वे महाशक्ति के ऐश्वर्य से भी भली भांति परिचित थे। प्रभु के द्वारा उन्हें जो कार्य सौंपा गया था उसे उन्होंने अपनी योग्यता के प्रमाण-पत्र के रूप में नहीं देखा था। वे अहंकार के उस शिखर पर नहीं पहुंचना चाहते थे, जहां पहुंच कर व्यक्ति पहाड़ की भी ऊंचाई को स्वयं अपनी ऊंचाई मानने की भूल कर बैठता है। उन्हें यह पूरी तरह विश्वास था कि प्रभु अपना कार्य चाहे जिससे सम्पन्न करा सकते हैं। अतुलनीय ऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर ने यह कार्य सौंपकर उन्हें जीवन को सार्थक बनाने का अवसर प्रदान किया है। अतः उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि दिखाई देने वाला यह महासंकट भी प्रभु की दृष्टि से ओझल नहीं होगा।

और इस अवसर पर हस्तक्षेप करते हुए उन्हें यह प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए कि मिथिलेशनन्दिनी की रक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य केवल उनकी उपस्थिति से ही सम्भव हो सका। आगे के घटनाक्रम ने उनके इस विश्वास की पुष्टि ही की। जब रावण की पट्टमहिषी ने आगे बढ़कर रावण को इस दुष्कृत्य से विरत बना दिया। इसीलिए आंजनेय को किसी भी कार्य में स्वयं अपनी विशेषता नहीं दिखायी देती। उन्हें लगता है कि जब आवश्यक होने पर प्रभु अपना कार्य शत्रु-पत्नी से भी करा सकते हैं तब उसमें मेरे कर्तृत्व और गर्व का क्या महत्त्व हो सकता है? इसीलिए उन्हें लोक-दृष्टि से उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों में भी प्रभु का प्रताप ही दिखाई देता है। प्रभु के द्वारा प्रशंसा के स्वर सुनकर उन्होंने इसी सत्य की अभिव्यक्ति की थी। आश्चर्य के स्वर में राघवेन्द्र ने प्रश्न किया, "आंजनेय रावण द्वारा पालित लंका को तुमने कैसे जला डाला?" पवनपुत्र ने इस प्रसंग में उन सारे कार्यों का स्मरण किया जो उनके द्वारा सम्पन्न हुए माने जाते थे और विनम्र स्वर में उत्तर देते हुए कहा, "प्रभु प्रशंसा के द्वारा मुझे भ्रम में न डालें। मुझे अपनी सामर्थ्य की सीमाओं का भली भांति पता है। बन्दरों के द्वारा एक शाखा से दूसरी शाखा पर छलांग लगा लेना ही यथेष्ट माना जाता है। समुद्र का उल्लंघन, वाटिका का विध्वंस, राक्षसों का दर्पदलन और लंका-दहन जैसे कार्य आपके प्रताप से ही सम्भव हुए। मुझे जैसे क्षुद्र व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न होने वाले यह कार्य इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि आपके पौरुष और प्रताप का आश्रय लेकर छुद्र रुई बड़वानल की ज्वाला को विनष्ट कर सकती है:"

कहु कपि रावन पालित लंका।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।।
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।
बोला बचन बिगत अभिमाना।।
साखा मृग कै बड़ि मनुसाई।
साखा ते साखा पर जाई।।
नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।
निसिचर गन बिधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।
ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।।

समुद्र-तट से लेकर लंका से लौटने तक की ऐतिहासिक यात्रा में वे बार-बार परिवर्तित होते हुए दिखाई देते हैं। कभी वे अत्यन्त लघु बन जाते हैं तो कभी उनका शरीर पर्वताकार दिखाई देता है। समय और आवश्यकता के अनुकूल रूप परिवर्तन की प्रक्रिया में जहां आंजनेय की सामर्थ्य और सूझ-बूझ का परिचय प्राप्त

होता है वहीं वे इसकी भिन्न व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। मां मैथिली के समक्ष वे नन्हें कपि के रूप में प्रकट हुए थे। मां जिस नैराश्य और संशय से ग्रस्त थीं, उससे उन्हें उबारने के लिए उन्होंने ओजस्वी वाणी का उपयोग किया। उसमें उन्होंने मां को यह विश्वास दिलाया कि "प्रभु के बाण अकेले ही लंका को विनष्ट करने में समर्थ हैं। किन्तु यदि स्नेह के कारण आपको उनके अकेलेपन से भय लग रहा है तो मैं यह विश्वास दिलाता हूं कि वे अकेले नहीं हैं। बन्दरों की विशाल वाहिनी उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत है। उनके सहित प्रभु का लंका में आगमन होगा और राक्षसों के विनाश के पश्चात् आप उनके साथ लंका से लौटेंगी।" मां उनकी ओजस्वी वाणी से प्रभावित जरूर हुईं किन्तु जब उनकी दृष्टि उनके लघु शरीर की ओर गई तब वे यह पूछे बिना नहीं रह सकीं कि क्या सारे बन्दर तुम्हारे समान ही ह्रस्वकाय हैं ? इसके उत्तर में पवनपुत्र का जो विशाल विग्रह हुआ उसे देखकर विदेहनन्दिनी का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही था। उनकी आंखों में जो विस्मय का भाव था उसमें यह जिज्ञासा झलक रही थी कि इसमें बन्दर का वास्तविक रूप कौन-सा है ? आञ्जनेय यह कह सकते थे कि उन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त है कि जिससे वे इच्छानुकूल रूप ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु उन्होंने इसे भी प्रभु के प्रताप के रूप में ही प्रस्तुत किया। उन्होंने मां से कहा कि "वस्तुतः मैं लघु हूं किन्तु प्रभु के प्रताप से क्षुद्र जीव कितना महत् बन सकता है, मेरा वृहत् रूप इसी का प्रमाण है :

राम बान रबि उएँ जानकी।
तम बरूथ कहँ जातुधान की॥
अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई।
प्रभु आयसु नहिं राम दुहाई॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥
निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।
तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।
जातुधान अति भट बलवाना॥
मोरे हृदय परम संदेहा।
सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा॥
कनक भूधराकार सरीरा।
समर भयंकर अतिबल बीरा॥
सीता मन भरोस तब भयऊ।
पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ॥
सुन माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥

महावीर हनुमान के द्वारा जो अगणित आश्चर्यजनक कृत्य सम्पन्न हुए उनमें से प्रत्येक ऐसा था जो किसी भी व्यक्ति को अभिमान से उन्मत्त बनाने के लिए यथेष्ट था। किन्तु वे यदि इस अभिमान से अछूते रहे तो इसका कारण उनका प्रभु पर अटूट विश्वास ही था। वे घटनाओं को जिस विलक्षण दृष्टिकोण से देखते हैं उसमें अभिमान का प्रश्न भी नहीं उठ सकता था। जब वे नागपाश में बन्दी होकर स्वेच्छा से रावण की सभा में जाते हैं तब भी उसके पीछे उनका प्रगाढ़ विश्वास ही प्रेरक बनकर उन्हें निश्चित बनाए हुए था। मन्दोदरी के द्वारा मैथिली की रक्षा का प्रयास उनकी दृष्टि में इसी तथ्य का परिचायक था। तार्किक दृष्टि से तो यही उपयुक्त प्रतीत होता है कि मन्दोदरी मैथिली की मृत्यु से प्रसन्न हो, क्योंकि रावण विदेहनन्दिनी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए यह आश्वासन दे चुका था कि यदि उन्होंने उसके स्नेह का समादर किया तो मन्दोदरी सहित सारी रानियां सेविका के रूप में उनकी अनुगामिनी बनकर रहेंगी। इससे यदि पट्टमहिषी मन्दोदरी का अभिमान आहत हो और वह मैथिली का विनाश चाहने लगे तो यह अस्वाभाविक नहीं। किन्तु ऐसा सुअवसर हाथ आने पर यदि वही बाधक बनकर सामने आ खड़ी हो तो इसे प्रभु की प्रेरणा छोड़कर और क्या माना जा सकता है?

हनुमान जी के व्यक्तित्व में दिखाई देने वाली अभयवृत्ति इसी प्रगाढ़ विश्वास का परिणाम है। चाहे वन हो अथवा पर्वत, जल हो अथवा अग्नि, प्रत्येक स्थल पर वे अपने प्रभु के सान्निध्य का अनुभव करते हैं। कहीं भी कोई आशंका उन्हें संत्रस्त नहीं बनाती। उनकी निर्भयता और निःशंकता देखकर ही दशानन चकित हो उठा। उसके मन में यह धारणा दृढ़ हो गई कि यह अभय वृत्ति स्वयं बन्दर की विशेषता नहीं हो सकती। जिस रावण की सभा में पहुंचकर इन्द्र, ब्रह्मा, वरुण और कुबेर भी आतंकित हो जाते थे वहां एक बन्दर की प्रशान्त मुखमुद्रा रावण को ऐसे चौंकाती है कि वह यह पूछे बिना नहीं रह पाता कि "तेरे पीछे किसका बल है :"

दसमुख सभा दीखि कपि जाई।
कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥
कर जोरें सुर दिसिप बिनीता।
भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥
देखि प्रताप न कपि मन संका।
जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका॥
कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदयँ बिषाद॥
कह लंकेस कवन तैं कीसा।
केहि के बल घालेसि बन खीसा॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही।
देखउँ अति असंक सठ तोही॥

रावण का एक मात्र यही ऐसा प्रश्न था जो आंजनेय को अत्यन्त प्रिय लगा था। महावीर और रावण के सारे मत परस्पर एक दूसरे के विरोधी थे, किन्तु एक मात्र यही ऐसा प्रश्न था जिसमें वे रावण से पूरी तरह सहमत थे। वे यह स्वीकार करते हैं कि अपने पौरुष की प्रतीति मात्र से व्यक्ति में सच्चा अभय नहीं आ सकता। व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य की एक सीमा होती है। अतः उस सामर्थ्य के परिज्ञान से जिस निर्भयता का उदय होता है वह पूरी तरह निरपेक्ष हो ही नहीं सकती। निरपेक्ष निर्भयता असीम ईश्वर से स्वयं को सम्बद्ध कर लेने पर ही आती है। इसीलिए वे रावण के अनेक प्रश्नों में से इस एक प्रश्न का उत्तर बड़े विस्तार से देते हैं। वे रावण को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड में जो क्रिया-कलाप सम्पन्न हो रहे हैं उसके पीछे एक मात्र ईश्वर की शक्ति ही कार्य कर रही है। यहां तक कि रावण की सफलताओं के पीछे भी उसी प्रभु के प्रताप का यत्किञ्चित् अंश विद्यमान है। उनकी यह धारणा थी कि यदि रावण इस सत्य को समझ पाता तो सारा संघर्ष ही समाप्त हो जाता :

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।
पाइ जासु बल बिरचित माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन।
अंड कोस समेत गिरि कानन॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता।
तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा।
तेहि समेत नृपदल मद गंजा॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली।
बधे सकल अतुलित बलसाली॥
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

अशोक-वाटिका में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को उन्होंने प्रभु की अतुलनीय कृपा के सन्दर्भ में देखा था। मन्दोदरी के आग्रह से रावण-वध की चेष्टा से विरत हो जाता है पर जाते-जाते वह राक्षसियों को यह आदेश दे जाता है कि मैथिली को इतना आतंकित करें कि उसका प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए वे बाध्य हो जाएं। इसके लिए एक मास की अवधि का निर्धारण करता है। इस तरह यह एक मास की अवधि दोनों दिशाओं से सामने आती है। एक ओर जहां सुग्रीव मैथिली के अन्वेषण के लिए एक मास का समय देते हैं वहीं दूसरी ओर रावण एक मास में ही वैदेही को अपनी वशवर्तिनी बनाना चाहता है। विनय पत्रिका में सुग्रीव

और रावण को ज्ञान और मोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान जहां समय के सदुपयोग के लिए भक्ति के अन्वेषण की ओर साधकों को प्रेरणा देता है वहां मोह अपने विनाश के सत्य को न समझकर भक्ति को ही विनष्ट करने पर तुला हुआ है। या तो मैथिली को उसकी इच्छा के अनुकूल चलना होगा अथवा एक मास में स्वयं के विनाश के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिए। ऐसा उसका सुदृढ़ संकल्प था। पर उसके आदेश का पालन करती हुई राक्षसियों के समक्ष त्रिजटा ने एक नये सत्य का उद्घाटन किया जिसका संकेत उसे स्वप्न में प्राप्त हुआ था। निर्भीक स्वर में उसने राक्षसियों को चेतावनी देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि वे अपना कल्याण चाहती हैं तो उन्हें मिथिलेशनन्दिनी की सेवा करनी चाहिए :

भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृन्द।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मन्द॥
त्रिजटा नाम राच्छसी एका।
राम चरन रति निपुन बिबेका॥
सबन्हौं बोलि सुनाएसि सपना।
सीतहि सेइ करहु हित अपना॥
सपने बानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा।
मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई।
लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई।
तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी।
होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥

यह स्वप्न आञ्जनेय के लिए प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हुआ। लंका को जलाने का संकल्प इस स्वप्न से ही उत्थित हुआ; यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यद्यपि इस सन्दर्भ में भी पवनपुत्र के निर्णय की एक विलक्षण पद्धति का परिचय प्राप्त होता है। प्रभु के द्वारा यात्रा के प्रारम्भ में जो आदेश दिया गया था उसमें लंका-दहन जैसी कोई आज्ञा न थी। समुद्र तट पर जामवन्त के द्वारा जो सम्मति प्राप्त हुई थी उसमें भी उनसे यही अनुरोध किया गया था कि वे लंका जाकर प्रभु और मैथिली के संदेश का आदान-प्रदान मात्र ही करें :

एतना करहु तात तुम्ह जाई।
सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥

इस प्रकार दो स्पष्ट आदेशों के होते हुए भी उनके द्वारा अनेक ऐसे कार्य किए

गए जो प्रत्यक्ष रूप से आज्ञा के उल्लंघन के रूप में ही प्रतीत होते हैं। किन्तु वे इस सत्य के परिचायक हैं कि वास्तविक सेवक केवल शाब्दिक आज्ञा को ही यथार्थ मानकर सेवा-धर्म में सफल नहीं हो सकता। यह महान् सेवक के विवेक की परीक्षा थी और इसमें वे पूरी तरह सफल हुए। वाटिका-विध्वंस और राक्षसों के वध की प्रेरणा उन्होंने प्रभु के आदेश में ही खोज ली थी। यह उनके सूत्रात्मक आदेश का भाष्य था। राघवेन्द्र ने प्रस्थान करते हुए जो संक्षिप्त वाक्य कहे थे वे इस प्रकार थे :

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

'बहु प्रकार' शब्द ही इस पंक्ति का प्राण है। एक ओर जहां उन्हें प्रभु की विरह-व्यथा का वर्णन करना था वहीं उन्हें उनके अतुलनीय बल का परिचय देते हुए मैथिली को आश्वस्त करने की आवश्यकता थी। यदि केवल उनका शब्दशः संदेश दुहरा देना ही उद्देश्य था तो उसमें 'बहु प्रकार' की कोई सार्थकता न थी। गुलाब के पुष्प का परिचय केवल शब्द के माध्यम से ही सही अर्थों में नहीं दिया जा सकता। शाब्दिक परिचय के साथ-साथ गुलाब के पुष्प को दिखलाकर ही उसके वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम कराया जा सकता है। प्रभु में अतुलनीय बल विद्यमान है इसे शब्द के रूप में रटकर दुहरा देना किसी भी व्यक्ति के लिए सरल है। पर बहुधा कहने वाले का उसपर सही विश्वास नहीं होता। ऐसा व्यक्ति दूसरों को विश्वास कैसे दिला सकता है? इस यात्रा के प्रसंग में यही सत्य तब सामने आता है जब पवनन्दन को छोड़कर प्रत्येक बन्दर समुद्र लांघने में अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेता है। क्या उन्हें ईश्वर के अतुलनीय बल के विषय में ज्ञान नहीं था? सम्पाती से प्रभु की महिमा सुनकर भी तो वे आश्वस्त नहीं हो पाते हैं।

इस 'बहु प्रकार' का ही एक प्रकार वह था जो उन्होंने मैथिली के समक्ष अपने विशाल रूप को प्रकट कर प्रदर्शित किया था। जब वे मां मैथिली से फल खाने का आदेश प्राप्त करते हैं तब इसके पीछे भी उनका यही छिपा हुआ ध्येय था। वे यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि किस प्रकार एक अकेला व्यक्ति प्रभु के बल और प्रताप का आश्रय लेकर महान् बलशाली राक्षसों को चुनौती दे सकता है। राक्षसियों के मध्य में निवास करती हुई मां मैथिली के समक्ष इस प्रकार का प्रदर्शन परमावश्यक था। इससे जहां एक ओर वे विदेहजा को आश्वस्त करने में सफल होते हैं वहीं उनकी निर्भयता और बल का ऐसा आतंक लंका के राक्षसों में फैल गया कि वे प्रतिक्षण इसी आशंका से संत्रस्त रहने लगे कि न जाने कब और कहां से वह बन्दर आकर विध्वंस की सृष्टि कर डाले। "उहां निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका ॥" में इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन है। इस मनोवैज्ञानिक आतंक का सबसे बड़ा प्रमाण तब सामने आता है तब अंगद के लंका में प्रविष्ट होने पर यह समाचार फैल जाता है कि लंका जलाने वाला बन्दर पुनः लौट आया है :

भयउ कोलाहल नगर मझारी।
आवा कपि लंका जेहिं जारी॥

ऐसी मनःस्थिति में कोई राक्षस अथवा राक्षसी मैथिली को डराने का प्रयास कर सकेगी यह कल्पना के बाहर की वस्तु थी। इस तरह उन्होंने अपने विलक्षण शौर्य के द्वारा अपनी अनुपस्थिति में भी उपस्थिति का ऐसा भान कराया कि वह सर्वव्यापी ईश्वर की भांति लंका में परिव्याप्त हो गई।

किन्तु वे स्वयं त्रिजटा की अवस्था से अत्यधिक प्रभावित हुए। त्रिजटा ने अपने स्वप्न के माध्यम से ही राक्षसियों को उस क्रूरकर्म से विरत बना दिया था, जिसे वे रावण के आदेश से सम्पन्न करने में संलग्न थीं। राक्षसियोंके दूर चले जाने पर भी मिथिलेशनन्दिनी की निराशा दूर नहीं होती है। केवल त्रिजटा की सहानुभूति मात्र उन्हें जीवन धारण करने की प्रेरणा प्रदान नहीं कर पाती है। वे स्वयं त्रिजटा से ही आत्मदाह में सहायिका होने का अनुरोध करती हैं। व्याकुलता भरे स्वर में उन्होंने त्रिजटा से अग्नि और चिता की सामग्री एकत्र करने की प्रार्थना की। त्रिजटा मैथिली के नैराश्य को दूर करने का भरसक प्रयास करती है। साथ ही उसे यही उचित प्रतीत हुआ कि इस समय विदेहनंदिनी को अकेले छोड़ दिया जाय। वह उनसे अनुरोध करती है कि वह सूर्योदय की प्रतीक्षा करें, रात्रि के अंधकार में आत्मदाह उपयुक्त नहीं होगा :

जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि मारिहि निसिचर पोच॥
त्रिजटा सन बोली कर जोरी।
मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥
तजौं देह करु बेगि उपाई।
दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई।
मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी।
सुनै को श्रवन सूल सम बानी॥
सुनत बचन पद गहि समुझाएसि।
प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥
निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।
अस कहि सो निज भवन सिधारी॥

मैथिली को एकान्त असह्य प्रतीत होने लगा। व्याकुलता की मनःस्थिति में वे अशोक वृक्ष से ही अग्नि की याचना करने लग जाती हैं। व्याकुलता के इन क्षणों में आञ्जनेय ने मुद्रिका के माध्यम से उनकी पीड़ा को दूर करने का प्रयास किया। किन्तु मुद्रिका को मैथिली तक पहुंचाने की उनकी प्रक्रिया भी सर्वथा अनोखी थी।

बहिरंग दृष्टि से उसमें शिष्टता का अभाव प्रदर्शित होता है। अशोक वृक्ष से उतर कर यदि वे आदरपूर्वक मैथिली को मुद्रिका भेंट करते तो यह शिष्ट परिपाटी के अनुरूप होता किन्तु उन्होंने मुद्रिका को ऊपर से ही डाल दिया :

कपि करि हृदय विचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु अशोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥

आञ्जनेय का यह कार्य अविचारित नहीं था। उपर्युक्त पंक्ति के शब्दों से यह स्पष्ट है। बहिरंग दृष्टि से अटपटी प्रतीत होने पर भी मुद्रिका को मां तक पहुंचाने की यह प्रणाली गहरी भावुकता से भरी हुई थी। मां मैथिली नैराश्य और विरह-वेदना के जिस समुद्र में डूब रही थीं उससे उबारने के लिए इससे अधिक उपयुक्त कोई प्रणाली हो ही नहीं सकती थी। इस नन्हे-से क्रिया-कलाप में उनकी संवेदन-शीलता, सूझ-बूझ और भक्ति-भावना का परिचय प्राप्त होता है। बन्दिनी विदेहजा दस मास से अनवरत राम-नाम का जप कर रही थीं। किन्तु व्याकुलता के इन क्षणों में वे कुछ समय के लिए अपना धैर्य खो बैठती हैं और प्रभु के स्थान पर जड़ अशोक का आश्रय लेती दिखाई देती हैं। वे अशोक शब्द के अर्थ को महत्त्व देती हुई अशोक से शोक दूर करने की प्रार्थना करती हैं। विरह-वेनना के कारण उन्हें अशोक वृक्ष के लल-छौंहे पत्ते अग्नि-पुंज के समान प्रतीत होते हैं। करुणा-भरे स्वर में वे अशोक से अग्नि की याचना करती हैं :

सुनहि बिनय मम बिटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
नूतन किसलय अनल समाना।
देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥

आञ्जनेय के लिए यह स्थिति सर्वथा असह्य थी कि जब प्रभु की अन्तरंगा शक्ति मैथिली प्रभु को छोड़कर जड़ वृक्ष का आश्रय लें। मुद्रिका को डालकर वे मां को उपालम्भ देते से प्रतीत होते हैं—"मां ! जब यात्रा के प्रारम्भ में प्रभु ने अपनी नामांकित मुद्रिका उतारकर दी तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे अपने नाम का आश्रय प्रदान कर दिया। इस कठिन यात्रा में मुझे प्रतिक्षण नाम-महिमा का बोध होता रहा है। मुझे ऐसा लगा कि मेरी सारी समस्याओं का समाधान राम-नाम में निहित है। किन्तु यहां आकर आपकी जिस मनःस्थिति का साक्षात्कार हुआ उससे नाम की अतुलनीय महिमा के प्रति संशय का उदित हो जाना ही स्वाभाविक था। जब आप प्रभु के नाम को छोड़कर अशोक के नाम का आश्रय लेने लगीं तब दूसरों को भी यही प्रतीति होगी कि भगवान्नाम की सामर्थ्य समाप्त हो चुकी है। यदि आप ही प्रभु के नाम के प्रति आस्था खो बैठेंगी तो क्या चंचल बन्दर से यह आशा की जा सकती है कि उसकी आस्था अडिग बनी रहे ? अतः यह मुद्रिका नहीं अपितु प्रभु के नाम की महिमा ही है जो नीचे गिर रही है। अब इसके गौरव की रक्षा आपके हाथों से ही सम्भव है।" इस प्रतीकात्मक उपलम्भ के द्वारा आञ्जनेय जिस

उद्देश्य को पाना चाहते थे उसे तत्काल पा लिया। मैथिली को लगा कि सम्भवत: उसकी प्रार्थना से द्रवित होकर वृक्ष ने ही अग्नि दान दिया है। मुद्रिका के भूमि पर गिरने से पहले ही वे उठकर उसे हाथों में ले लेती हैं। हनुमान आनन्द-विभोर हो उठे। उन्हें लगा कि नाम-महिमा का अवमूल्यन होते-होते बचा भक्ति देवी के कर कमलों में मुद्रिका ही नहीं राम-नाम का गौरव भी पूरी तरह सुरक्षित रहेगा :

कपि करि हृदय विचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठिकर गहेउ॥

मुद्रिका के हाथ में आते ही मैथिली चकित हो जाती है। उन्हें प्रभु के ऐश्वर्य की स्मृति हो आती है और वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगती हैं कि "यह मुद्रिका यहां कैसे आ गई? रघुवंश शिरोमणि सर्वथा अजेय हैं। उन्हें परास्त कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। माया के द्वारा भी इसकी रचना असम्भव है। ऐसी स्थिति में इस मुद्रिका का यहां आना कैसे सम्भव हुआ :"

तब देखी मुद्रिका मनोहर।
राम नाम अंकित अति सुंदर।
चकित चितव मुंदरी पहिचानी।
हरष विषाद हृदयँ अकुलानी॥
जीति को सकइ अजय रघुराई।
माया तें असि रचि नहिं जाई॥
सीता मन विचार कर नाना।
मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥
रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई।
आदिहु तें सब कथा सुनाई॥

रामकथा का यह गायक उन घटनाओं का स्वयं साक्षी नहीं था जिनका वह मां के समक्ष वर्णन कर रहा था। इनमें से अधिकांश घटनाएं ऐसी थीं जो मिथिलेश-नन्दिनी को ही केन्द्र बनाकर घटित हुई थीं। प्रभु की शाश्वत संगिनी आज एक ऐसे व्यक्ति से कथा श्रवण कर रही थीं जिसका प्रभु से परिचय अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्पकालीन था। किन्तु वह वक्ता जिस रूप में रामकथा को प्रस्तुत कर रहा था उससे मां को जिस आनन्द की अनुभूति हुई वह घटित होने वाली घटनाओं को सामने देखकर भी नहीं हुई थी। उत्कृष्ट कथावाचक की विशेषता भी यही होती है। कथा केवल घटनाओं का स्थूल वर्णन मात्र नहीं है। मनीषी व्याख्याता के पास घटनाओं को देखने की जो दृष्टि होती है वही दृष्टि श्रोता के समक्ष एक ऐसी सृष्टि उपस्थित कर देती है कि जो उसके लिए चिरपरिचित होते हुए भी अपरिचित-सी थी। जैसे एक चतुर चिकित्सक रोगी के शरीर और उसके रोगों का निदान ऐसे

रूप में प्रस्तुत करता है कि उसे सुनकर रोगी यह सोचने के लिए बाध्य हो जाय कि अपने शरीर का ज्ञान उसे वैसा नहीं था जैसा वैद्य महोदय को है।

आञ्जनेय के द्वारा रामकथा किस रूप में प्रस्तुत की गई होगी इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि उस कथा का मुख्य केन्द्र मिथिलेशनन्दिनी के प्रति प्रभु का अनुराग था। विश्वामित्र के साथ श्री रामभद्र की मिथिला-यात्रा और उस समय घटित होने वाली घटनाओं का रसमय वर्णन जब एक रसिक भक्त के द्वारा किया गया होगा तब उससे जिस अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि हुई होगी उसकी यत्किंचित् कल्पना ही की जा सकती है। पवनपुत्र इन घटनाओं के माध्यम से मैथिली को यह स्मरण दिलाना चाहते हैं कि प्रभु के अन्तःकरण में प्रारम्भ से ही आपके प्रति कितना अनुराग था। उनका वह प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही जा रहा है। आज भी वे आपकी सुधि पाने के लिए व्यग्र होकर वन-वन भटक रहे हैं। कथा श्रवण के द्वारा परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी उसके माध्यम से यदि मां का दुःख दूर हो गया तो उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य हनुमान जी के द्वारा प्रस्तुत कथा की शैली में था। मां को सबसे बड़ा दुःख क्या था? प्रभु से मृगचर्म की याचना से लेकर बाद में घटित होने वाली प्रत्येक घटना उसके लिए दुःखमयी थी। किन्तु इन दस महीनों में उन्हें जो बात सबसे अधिक दुःख दे रही थी, वह यह थी कि प्रियतम प्रभु ने भी उन्हें भुला दिया है। इस दुःख की तुलना में सारे दुःख अल्प थे। आगे चलकर इसकी स्मृति से वे इतनी व्याकुल हो जाती हैं कि उसे शब्द के माध्यम से प्रकट कर पाना भी उनके लिए असम्भव हो जाता है :

बचन न आव नयन भरि बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

पवननन्दन प्रेम रस के अनुभविता हैं। उन्हें प्रेमी हृदय का सच्चा परिचय प्राप्त है। उन्होंने स्वयं भी कुछ क्षणों के लिए उस दुःख का अनुभव किया है। प्रथम मिलन में प्रभु उनसे कुछ समय तक अपरिचित जैसा व्यवहार करते रहे। उन्होंने ऐसा व्यवहार किया कि जैसे वे हनुमान को जानते ही न हों। उन्होंने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा सुनाने के बाद अन्त में यह जिज्ञासा प्रकट की "मैंने अपना चरित्र सुना दिया अब ब्राह्मण देवता आप अपना परिचय दें :"

आपन चरित कहा हम गाई।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥

आञ्जनेय को इस प्रश्न से जिस पीड़ा का अनुभव हुआ, उसे वे उपालम्भ भरे स्वर में प्रभु के समक्ष रख देते हैं। वे स्नेह भरे स्वर में प्रभु पर अन्याय का आरोप भी लगाते हैं। उनका यह कथन था कि प्रभु यदि मायाग्रस्त जीव आपके स्वरूप को भुलाकर अपरिचित जैसा व्यवहार करे तो उसका यह कार्य अनौचित्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता है किन्तु जब आप भी दीनबन्धु होकर दीन को बिसरा दें तब जीव के कल्याण की कल्पना भी कैसे की जा सकती है :

मोर न्याउ मैं पूँछा साईं।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरेउँ भुलाना।
ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एक मंद मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

प्रभु ने भक्त की इस पीड़ा का अनुभव किया था और बाद में आञ्जनेय को हृदय से लगाते हुए अपने रूक्ष प्रतीत होने वाले व्यवहार के लिए खेद प्रकट किया। उन्होंने यह कहा, "हनुमान ! मेरे व्यवहार से तुम किसी प्रकार न्यूनता का अनुभव न करना, तुम मुझे लक्ष्मण की अपेक्षा भी दूने प्रिय हो :

तब रघुपति उठाइ उर लावा।
निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥
सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥

भक्त हृदय को इससे जो आश्वासन मिला था, संवेदनशील आञ्जनेय ने उसे रामकथा सुनाते हुए ध्यान में रक्खा हो यह स्वाभाविक ही था। कथा के बाद जब मां से उनका साक्षात् परिचय हुआ तब उन्होंने प्रभु की उसी शैली का प्रयोग करते हुए कहा कि आप प्रभु से जितना प्रेम करती हैं प्रभु उसकी तुलना में दूना स्नेह करते हैं :

जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना॥

रामकथा के इस अद्‌भुत वर्णन का मां के हृदय पर इतना विलक्षण प्रभाव पड़ा कि उन्होंने यह कह कर वक्ता से सामने आने का अनुरोध किया कि जिसने अमृतमयी कथा सुनाकर मेरी पीड़ा का अपहरण किया है वह स्वयं क्यों नहीं प्रकट होता है :

श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई।
कही सो प्रगट होति किन भाई॥

आञ्जनेय मां का आदेश पाते ही उनके समक्ष पहुंच जाते हैं। किन्तु मां मैथिली उनको सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाती हैं। इतनी विलक्षण कथा सुनाने वाला कोई बन्दर हो सकता है, इसकी कल्पना कर पाना भी उनके लिए असम्भव था। रावण पर विश्वास करके वे ठगी गई थीं इसलिए भी उनके लिए किसी व्यक्ति पर सरलता से विश्वास कर पाना कठिन था।

अतः पवनपुत्र को सामने देखकर वे उनकी ओर से दृष्टि हटा लेती हैं और पीठ कर देती हैं। ऐसी विपरीत मनःस्थिति में मां के विश्वास को पुनः पा लेना अञ्जनीनन्दन जैसे भक्त हृदय के लिए ही सम्भव था। मुद्रिका जैसा चिह्न भी मां

को आश्वस्त नहीं कर पाया था। हनुमान जी ने शपथ लेकर मां को आश्वस्त करने का प्रयास किया और मां ने उन पर भरोसा कर लिया :

रामदूत मैं मातु जानकी।
सत्य सपथ करुनानिधान की।।
यह मुद्रिका मातु मैं आनी।
दीन्ह राम तुम्ह कहँ सहिदानी।।

मां ने आश्चर्य भरे स्वर में प्रश्न किया कि "मनुष्य और बन्दर एक दूसरे के संगी कैसे हो सकते हैं ?" तब आंजनेय ने प्रभु से अपने परिचय की गाथा को सुना कर मां का विश्वास अर्जित कर लिया। इस प्रसंग में भी भक्त की निरभिमानता की एक झांकी सामने आती है। यद्यपि प्रारम्भ में ही यह कहा गया है कि उन्होंने आदि से लेकर सारी रामकथा मां को सुना दी पर यह प्रश्न ही बता देता है कि उन्होंने कथा का उपसंहार अरण्यकाण्ड के अन्तिम प्रसंग से कर दिया था। किष्किन्धाकाण्ड में मुख्य रूप से आञ्जनेय की गौरव-गाथा का परिचय प्राप्त होता है। जिसमें पग-पग पर उनकी ही महिमा का दर्शन हो रहा हो उसे छिपा लेना उनके भक्त-हृदय के अनुरूप था। मां के द्वारा अविश्वास का संकट पैदा होने पर ही वे उस कथा को सुनाने के लिए बाध्य होते हैं। पर केवल कथा के शब्दों द्वारा ही मां का विश्वास जीतने में सफल नहीं हो जाते। वह तो उनके अन्तर का प्रेम था जो मां को आश्वस्त करता है कि यह स्वर सच्चे हृदय से ही प्रकट हो सकता है :

नर बानरहि संग कहु कैसे।
कही कथा भइ संगति जैसे।।
कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।।

इसके पश्चात् वे अपनी विलक्षण वाणी के प्रभाव से मिथिलेशनन्दिनी का वात्सल्य प्राप्त कर लेते हैं। मां ने उन्हें पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया। सारे रामचरितमानस में उन्हें छोड़कर किसी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। लक्ष्मण उनके वात्सल्य-भाजन अवश्य थे किन्तु विपत्ति के क्षणों में उन्होंने उनके प्रति जिस कटूक्ति का प्रयोग किया उससे निश्चित ही इस सम्बन्ध की गरिमा पर आघात लगा। लक्ष्मण का इससे मर्माहत हो जाना स्वाभाविक ही था क्योंकि यह अविश्वास सर्वत्यागी लक्ष्मण की सेवा के बाद प्रकट किया गया था। ऐसी परिस्थिति में सर्वथा अज्ञात कुलशील आंजनेय के लिए मां का विश्वास और वात्सल्य प्राप्त कर लेना आश्चर्यजनक चमत्कार ही था। यह हनुमान जी के लिए इतनी महान् उपलब्धि थी कि इससे बड़ी किसी उपलब्धि की कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। मां के इस व्यवहार की भिन्नता का एक मनोवैज्ञानिक रहस्य भी था। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज की अप्रतिम सेवा होते हुए भी वार्तालाप में वे जिस शैली का उपयोग करते हैं उससे मैथिली विक्षुब्ध हो उठीं। मारीच

के स्वर को सुनकर जनकजा को ऐसा लगा कि रामभद्र संकट में पड़कर लक्ष्मण को पुकार रहे हैं। इसलिए उन्होंने लक्ष्मण को प्रभु की सहायता के लिए जाने का आदेश दिया। इस आज्ञा को सुनते ही लक्ष्मण उन्मुक्त भाव से हंस पड़े। यद्यपि इस हंसी के पीछे राम के ईश्वरत्व और सामर्थ्य का परिज्ञान था किन्तु इसे समयानुकूल कह पाना सम्भव नहीं है। यदि उन्होंने "लछिमन बिहसि कहा सुनु माता" के स्थान पर विनम्र और गम्भीर स्वर में मां के समक्ष ईश्वर के ऐश्वर्य की स्मृति दिलाई होती तो वे इतनी विक्षुब्ध न होतीं। किन्तु प्रतिजन्य संकट की मनोवैज्ञानिक वेला में उन्मुक्त हास्य और ऐश्वर्य-ज्ञान के भाषण ने मानसिक विस्फोट की स्थिति उत्पन्न कर दी। आंजनेय के सारे वार्तालाप में एक भी शब्द ऐसा नहीं निकलता जो मैथिली की मनःस्थिति के प्रतिकूल हो। मां को उनके प्रत्येक वाक्य में भक्ति, प्रीति और ऐश्वर्य-ज्ञान की अनुभूति होती है। वे भी प्रभु के अतुलनीय बाणों की प्रभुता का वर्णन करते हैं, पर साथ ही वे यह कहना नहीं भूलते कि यदि प्रभु को उनकी सुधि प्राप्त हो गई होती तो वे क्षण भर का भी विलम्ब नहीं करते। और वे तो मैथिली की स्मृति में इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें अपने ऐश्वर्य ज्ञान की भी विस्मृति हो गई है। साथ ही वे भाव भरे स्वर में मां को आश्वस्त करना चाहते हैं कि वे स्वयं भी तत्काल उन्हें प्रभु के पास पहुंचा सकते हैं किन्तु आदेश न होने से ही चुप रहने के लिए बाध्य हैं। फिर यह मैथिली के गौरव के अनुरूप होगा कि राघवेन्द्र स्वयं आकर दैत्यों का दर्पदलन करते हुए उन्हें लेकर अयोध्या लौटें। वे उन्हें यह कह कर और भी अधिक सुख पहुंचाते हैं कि इस युद्ध में कौशलेन्द्र अकेले नहीं होंगे। वानरों की विशाल वाहिनी उनके साथ होगी। इस तरह समयानुकूल वाणी के प्रयोग से वे मां का अतुलनीय वात्सल्य और आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। परिचय से लेकर आशीर्वाद की उपलब्धि तक का प्रसंग भक्ति, विवेक और रस से परिप्लुत है। मानस की इन पंक्तियों में उसका रस प्राप्त किया जा सकता है :

हरि जन जानि प्रीति अति बाढ़ी।
सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना।
भयउ तात मो कहुँ जल जाना॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी।
अनुज सहित सुख भवन खरारी॥
कोमल चित कृपाल रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक।
कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता।
होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥

बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥
देखि परम बिरहाकुल सीता।
बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।
तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥
जनि जननी मानहुँ जियँ ऊना।
तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना॥
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कहि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥
कहेउ राम बियोग तव सीता।
मो कहुं सकल भए बिपरीता॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।
काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा।
बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग स्वाँस सम त्रिबिध समीरा॥
कहेहु तें कछु दुख घटि होई।
काहि कहौं यह जान न कोई॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मन मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही।
मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥
कह कपि हृदयँ धीर धरु माता।
सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई।
सुनि मम बचन तजहु कदराई॥
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥
जौं रघुबीर होति सुधि पाई।
करते नहिं बिलंबु रघुराई॥

राम बान रबि उएँ जानकी।
तम बरूथ कहँ जातुधान की॥
अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई।
प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥
निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।
तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना।
जातुधान अति भट बलवाना॥
मोरें हृदय परम संदेहा।
सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा॥
कनक भूधराकार सरीरा।
समर भयंकर अति बलबीरा॥
सीता मन भरोस तब भयऊ।
पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ॥
सुनु माता साखा मृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥
मन संतोष सुनत कपि बानी।
भगति प्रताप तेज बल सानी॥
आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना।
होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

इसके पश्चात् वाटिका-विध्वंस और रावण की सभा में उनके अतुलनीय शौर्य, धैर्य और विवेक का परिचय प्राप्त होता है। युद्ध करते हुए भी वे कितने सन्तुलित रहते हैं, इसका एक चित्र तब सामने आता है जब मेघनाद पराजित होकर उन पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। उन्हें वरदान प्राप्त था कि ब्रह्मास्त्र उन पर व्यर्थ सिद्ध होगा। किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि यदि वे मूर्च्छा स्वीकार नहीं करते हैं तो ब्रह्मा का सारा गौरव नष्ट हो जाएगा और वे मूर्च्छित होकर गिरते दिखाई देते हैं। दूसरे के गौरव की रक्षा के लिए स्वयं अपनी ही पराजय स्वीकार कर लेना आञ्जनेय जैसे महापुरुष को छोड़कर किसके लिए सम्भव है ? यद्यपि यह पराजय भी मेघनाद के लिए बड़ी महंगी सिद्ध हुई। क्योंकि स्वयं को गिराते हुए भी वे उसी दिशा में गिरते हैं जहां राक्षसों की विशाल वाहिनी खड़ी थी। परिणामस्वरूप न जाने कितने राक्षसों की मृत्यु हुई :

ब्रह्म अस्त्र तेहि साँधा कपि मन कीन्ह विचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार॥
ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहिं मारा।
परतिहुँ बार कटकु संघारा॥

रावण की सभा में वार्तालाप करते हुए आञ्जनेय का चित्र शील और सौजन्य का घनीभूत रूप है। यथासाध्य वे रावण को अपमानित करने का प्रयास नहीं करते हैं। वे उसे 'स्वामी और प्रभु' कह कर सम्बोधित करते हैं। मिथिलेशनंदिनी को लौटा देने का अनुरोध करते हैं। स्वयं अपनी प्रशंसा में वे एक भी शब्द नहीं कहते। यहां तक कि वे अपनी पितृ-परम्परा तो दूर स्वयं का नाम बताने की भी आवश्यकता नहीं समझते। वे रावण के अहंकार पर भी उसी सीमा तक प्रहार करते हैं जिससे वह मानसिक रोग से मुक्त होकर प्रभु के चरणों का आश्रय ले सके। उनका वार्तालाप भक्ति सिद्धान्त के ही अधिक सन्निकट था। उसमें राज-नीति का अभाव नहीं था पर मुख्यतः वे एक सन्त की भाषा बोलते हैं। रावण यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से कठोरतम शब्दों का प्रयोग करता हुआ मृत्युदण्ड का आदेश देता है, किन्तु जिस तरह वे लंका-दहन के पश्चात् चुनौती भरी गर्जना करते हुए चले जाते हैं, उससे एक भिन्न प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव रावण पर पड़ता है। अतुलनीय सामर्थ्य के साथ इतनी विनम्रता उसके लिए कल्पनातीत बात थी। इसलिए वह इस घटना के पश्चात् अनेक अवसरों पर पवनपुत्र की प्रशंसा के लिए बाध्य हो जाता है। शील गुण से शत्रु को भी सम्मोहित कर लेने वाले हनुमान मानस के अकेले पात्र हैं। लंका जैसे नगर को रावण के देखते-देखते भस्मसात् कर देने वाले आंजनेय जब मां मैथिली के समक्ष पुनः उपस्थित होते हैं तब उनका यही शील उनके लघुरूप में प्रदर्शित होता है :

पूँछ बुझाइ खोइ स्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता कें आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि॥

मिथिलेशनंदिनी से वार्तालाप करते हुए वे उन घटनाओं की कोई चर्चा नहीं करते जो इस बीच में घटित हो चुकी हैं। जैसे कुछ हुआ ही न हो, इस प्रकार कर-बद्ध प्रणामांजलि के साथ वे मां से विदा लेने के लिए प्रस्तुत हैं। इस अवसर पर न केवल उनकी विनम्रता, अपितु भावुकता का भी परिचय प्राप्त होता है। वे स्पष्ट शब्दों में मां मैथिली से यह नहीं कह पाते कि वे उनसे विदा लेने के लिए आए हुए हैं। इतनी विपरीत परिस्थितियों में जनकजा को छोड़ जाना उन्हें बड़ा अप्रिय कार्य प्रतीत होता है। उन्हें यह भी ज्ञात है कि इससे मां का अन्तःकरण कितना अधिक मर्माहत होगा। पर कर्तव्य की गुरुता उन्हें निष्ठुरता के लिए बाध्य करती है। फिर भी वे मां से यही कहते हैं कि आप भी कोई उसी प्रकार का चिह्न प्रदान करें, जिस प्रकार की सहिदानी प्रभु ने मुद्रिका के रूप में प्रदान की थी :

मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा।
जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥

पुत्र की भाव भरी वाणी सुनकर मां विह्वल हो जाती हैं। अपने सिर से चूड़ामणि उतार कर देते हुए वे उस शीतलता की बात कहना नहीं भूलती हैं, जो आंजनेय की उपस्थिति से उन्हें प्राप्त हुई थी :

चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।
हरष समेत पवनसुत लयऊ॥
कहेहु तात अस मोर प्रनामा।
सब प्रकार प्रभु पूरन कामा॥
दीन दयाल बिरदु संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥
तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहिं समझाएहु॥
मास दिवस महुँ नाथु न आवा।
तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा॥
कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना।
तुम्हहू तात कहत अब जाना॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती।
पुनि मो कहुँ सोइ दिन सो राती॥

पराभक्तिस्वरूपा किशोरी जी के द्वारा दी जाने वाली चूड़ामणि केवल चिह्न-मात्र नहीं थी। यह भक्त को उसकी सिद्धि का प्रमाण-पत्र था। आते समय यदि रामभद्र ने रामनाम की मुद्रिका के द्वारा साधन-पथ का पाथेय प्रदान किया था तो मैथिली के द्वारा दी जाने वाली चूड़ामणि भक्त-चूड़ामणि की सिद्धिसूचिका थी। सुन्दर काण्ड के प्रारम्भ में श्री राम को भूपाल चूड़ामणि की उपाधि दी गई है। भूपाल चूड़ामणि की बन्दना से जो प्रसंग प्रारम्भ होता है। वह भक्त चूड़ामणि हनुमान की गाथा से समाप्त होता है।

चूड़ामणि देते हुए मां मैथिली ने उसी प्रकार प्रभु को समझाने का भार उन पर छोड़ दिया जिस प्रकार यात्रा के श्रीगणेश में प्रभु ने उन्हें 'बहु प्रकार सीतहि समुझायउ' का आदेश प्रदान किया था। और इस कार्य को भक्त-शिरोमणि ने अनोखे रूप में सम्पन्न किया। वे मां से विदा लेकर सरलता से समुद्र पार कर लेते हैं। मित्र-मण्डली में उनका अनोखा स्वागत होता है। उन्हें आंजनेय ने नवजीवन प्रदान किया था किन्तु इस सफलता के बाद भी उनके साथी के स्वभाव में रंचमात्र परिवर्तन नहीं आया था। कवितावली में गोस्वामी जी ने बन्दरों के उत्साह का बड़ा ही भाव भरा चित्र प्रस्तुत किया है।

गगन निहारि किलकारी भारी सुनि, हनु-
मान पहिचानि भए सानंद सचेत हैं।
बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाजु, मानो
आजु जाए जानि सब अंकमाल देत हैं ॥
'जै जै जानकीस, जै जै लखन-कपीस' कहि,
कूदें कपि कौतुकी नटत रेत-रेत हैं।
अंगदु मयंदु नलु नीलु बल सील महा
बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं ॥
आयो हनुमानु प्रानहेतु, अंकमाल देत,
लेत पगधूरि एक, चूमत लंगूल हैं।
एक बूझैं बार-बार सीय-समाचार, कहैं
पवनकुमारु, भो बिगत-श्रम-सूल हैं ॥
एक भूखें जानि, आगें आनें कंद-मूल-फल,
एक पूजैं बाहु बल मूल तोरि फूल हैं।
एक कहै 'तुलसी' सकल सिधि ताकें जाकें
कृपा-पाथनाथ सीतानाथु सानुकूल हैं ॥

फिर भी बार-बार जिज्ञासा करने पर ही उन्हें महावीर की सफलताओं का इतिहास सुनने को मिलता है। आत्म-श्लाघा का उनमें लेश भी नहीं है। सत्य तो यह है कि उनके साथियों ने उनकी सफलता से स्वयं में कहीं अधिक गौरव का अनुभव किया। अंगद के व्यवहार में इसकी अभिव्यक्ति तब हुई जब उन्होंने सुग्रीव की वाटिका में, फलरक्षकों के द्वारा रोके जाने पर भी साथियों को खाने का आदेश दिया। उन्हें लगा कि यदि पवनपुत्र शत्रु नगर की वाटिका के फल खा सकते हैं तो उनसे प्रेरणा लेकर हम अपने ही नगर की वाटिका के फलों से वंचित रहें यह कैसे सम्भव है। वाटिका के रक्षकों का स्वभाव अशोक-वाटिका के रक्षकों के समान ही था। उन्होंने भी बन्दरों को रोकने का प्रयास किया। उन्हें प्रतिकार में दण्डित भी होना पड़ा। किन्तु रक्षकों के द्वारा समाचार सुनने के बाद सुग्रीव पर वह प्रभाव नहीं पड़ा जो रावण पर पड़ा था। वे इस समाचार को सही सन्दर्भ में देखते हैं। उन्हें स्पष्ट रूप से इसका भान हो जाता है कि दक्षिण दिशा में जाने वाले बानर सफल होकर लौटे हैं। इसलिए वे उस उद्दण्डता के लिए उन्हें दण्डित करने के स्थान पर स्नेह और सम्मान से पुरस्कृत करते हैं।

चले हरषि रघुनायक पासा।
पूंछत कहत नवल इतिहासा ॥
तब मधुबन भीतर सब आए।
अंगद संमत मधु फल खाए ॥

रखवारे जब बरजन लागे।
मुष्टि प्रहार हनत सब भागे॥
जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज॥
जौं न होत सीता सुधि पाई।
मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥
एहिं बिधि मन बिचार कर राजा।
आइ गए कपि सहित समाजा॥
आइ सबन्हि नावा पर सीसा।
मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा॥

इस प्रसंग में आध्यात्मिक साधना का अद्भुत संकेत प्रस्तुत किया गया है। अधिकांश कर्म ऐसे होते हैं, जिनका सांगोपांग निर्वाह करने पर ही सफलता और सिद्धि प्राप्त होती है। रंचमात्र प्रमाद सारे कर्मफल को विनष्ट करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु भक्तिमार्ग की विशेषता ही यही मानी जाती है कि भक्ति के लिए किया जाने वाला कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। यह सत्य प्रस्तुत प्रसंग में मुखर हो उठता है। बन्दर उन साधकों के समान थे जो साध्य तक न पहुंच कर बीच में ही रुक जाते हैं। किन्तु उनमें यह विश्वास अवश्य था कि स्वतः वे भले ही भक्ति देवी तक न पहुंच सकें पर पवननन्दन इसमें अवश्य सफल होंगे। और इस सफल भक्त के दर्शन से ही उन्हें वह परिणाम प्राप्त हो जाएगा, जिसे शास्त्रों में कृत-कृत्यता के रूप में बताया गया है। यही होता भी है। यदि आंजनेय रावण की वाटिका के फल खाकर तृप्त होते हैं तो बन्दर उनके दर्शनों के पश्चात् सुग्रीव की वाटिका से वैसी ही परितृप्ति पा लेते हैं। इस तरह भक्ति और भक्त का एकत्व सामने आ जाता है।

सुग्रीव और उसके पश्चात् प्रभु आंजनेय की सफलताओं से अभिभूत हो जाते हैं। प्रभु तो कृतज्ञतापूर्वक उनके ऋणी ही बन जाते हैं। वे उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। किन्तु आंजनेय का ध्यान तो कहीं अन्यत्र था। वे मैथिली की विरह-व्यथा से व्याकुल थे और उन्हें प्रत्येक क्षण का बिलम्ब असह्य प्रतीत हो रहा था। आंजनेय ने विदेहजा की गाथा को ऐसे करुण रूप में प्रस्तुत किया कि मतिधीर प्रभु भी अधीर होकर आंसू बहाने लगे और उन्होंने तत्काल लंका पर अभियान का आदेश दे दिया :

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीन दयाला॥
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥
सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना॥

बचन कायँ मन मम गति जाही।
सपनेहुँ बुझिअ बिपति कि ताही॥
कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥
सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
देखेउँ करि बिचारि मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता।
लोचन नीर पुलक अति गाता॥

विभीषण-शरणगति के प्रसंग में भी उनकी विलक्षण भूमिका तब सामने आती है जब प्रधानमंत्री सुग्रीव के द्वारा उन्हें शरण में लेने का विरोध किया जाता है। विभीषण को शरण में आने की प्रेरणा देने वाले आंजनेय ही थे। फिर भी उस अवसर पर वे अत्यन्त सन्तुलित दिखाई देते हैं क्योंकि सुग्रीव से उन्होंने जो समादर का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया था वे उसमें किसी भी प्रकार न्यूनता नहीं आने देना चाहते थे। सुग्रीव की यह धारणा थी कि विभीषण भेदिए के रूप में रावण के द्वारा भेजे गए हैं। उन्हें शरण में लेने से सेना के सारे भेद रावण तक पहुंच सकते हैं। साथ ही वे श्री राम से सजगता का अनुरोध करते हैं। उन्हें यह विश्वास था कि राघवेन्द्र भोलेपन के कारण व्यक्ति की ठीक-ठीक परख नहीं कर पाते हैं :

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दसानन भाई॥
कह प्रभु सखा बूझिऐ काहा।
कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥
जानि न जाइ निसाचर माया।
काम रूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिअ बांधि मोहि अस भावा॥

गीतावली के अनुसार सुग्रीव की इस सम्मति को सुनकर भगवान राम उन्मुक्त भाव से हंस पड़ते हैं और वे अञ्जनानन्दन से पूछ बैठते हैं कि विभीषण के विषय में उनकी सम्मति क्या है? इस उन्मुक्त हास्य के पीछे सुग्रीव के प्रति भी विनोद की भावना भरी हुई है। प्रथम दृष्टि में सुग्रीव ने प्रभु को भी बालि के द्वारा भेजा

गया राजकुमार समझ लिया था। इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए वे अंजना-नन्दन का आश्रय लेते हैं :

आगें चले बहुरि रघुराया।
रिष्यमूक पर्बत निअराया॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥
पठए बालि होहिं मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला॥

प्रभु का तात्पर्य यह था : "मित्र यदि तुम्हारी मान्यता यह हो कि मैं व्यक्तियों के विषय में सही परख नहीं कर पाता तो यही बात समान रूप से तुम्हारे लिए भी कही जा सकती है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त यही होगा कि निर्णय का भार हनुमान पर छोड़ दिया जाय क्योंकि संशय की मनःस्थिति में उसके निराकरण के लिए तुमने भी उन्हीं का आश्रय लिया था। फिर हम दोनों ही विभीषण से अपरिचित हैं, अतः उनके विषय में अनुमान ही कर सकते हैं। इस विषय में हमारे-तुम्हारे अनुमान सर्वथा भिन्न हैं। अतः लंका से सुपरिचित महावीर से ही क्यों न पूछ लिया जाय कि विभीषण के विषय में उनकी क्या धारणा है।" इस प्रश्न के उत्तर में पवननन्दन ने जो कुछ कहा, वह उनकी जागरूकता, भक्ति-भावना और अनुशासन वृत्ति के अनुकूल था। यदि वे विभीषण की सराहना करते तो इसका तात्पर्य यह होता कि वे सुग्रीव की धारणा का खण्डन कर रहे हैं। अतः विभीषण की प्रशंसा के स्थान पर वे प्रश्न को ही नई दिशा दे देते हैं। वे मानो प्रभु से पूछ बैठते हैं, "इस प्रश्न की आवश्यकता ही कहां है कि विभीषण कैसे हैं! आपने शरणागत के संरक्षण का व्रत लिया है। अतः खोटे और खरे जैसे भी हों उन्हें, स्वीकार कर लेना आपके विरद के ही अनुकूल होगा।"

हिय बिहसि कहत हनुमान सों।
सुमति साधु सुचि हृदय विभीषण बूझि परत अनुमान सों॥
'हौं बलि जाउँ और को जानै?' कही कृपा निधान सों।
छलो न होइ स्वामि सनमुख, ज्यों तिमिर सातहय-जान सों॥
खोटो खरो सभीत पालिये सो, सनेह सनमान सों।
तुलसी प्रभु कीबो जो भलो, सोइ बूझि सरासन बान सों॥

इस तरह वे विभीषण की शरणागति में भी उसी प्रकार सहायक बनते है जिस प्रकार उन्होंने सुग्रीव और प्रभु की मित्रता का कार्य सम्पन्न कराया था।

सुग्रीव और विभीषण को जो सत्ता उपलब्ध होती है वह पवनपुत्र की ही कृपा का परिणाम था। दूसरों को प्रभु के सन्निकट पहुंचाकर न केवल पारमार्थिक अपितु भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि करा देना भी उनका सहज स्वभाव है, पर स्वयं अपने लिए वे प्रभु की सेवा छोड़कर और कुछ नहीं चाहते।

लंका के रणांगण में भी उनकी भूमिका सर्वथा अप्रतिम थी। वे बानरी सेना के महान् संरक्षक थे। संकट के प्रत्येक क्षण में बन्दरों की सुरक्षा का भार उन्हीं पर था। उन्हें युद्ध करते देखकर रघुवंश-शिरोमणि चकित हो जाते थे और वे स्वयं युद्ध बन्द कर उनके युद्ध-कौशल को देखने लग जाते थे। ऐसे अवसरों पर वे लक्ष्मण का ध्यान इस युद्ध कला की ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रह पाते थे। प्रभु और लक्ष्मण जहां दिव्यास्त्रों से सुसज्जित थे, वहां बिना किसी अस्त्र के महावीर राक्षसों की विशाल वाहिनी का संहार कर रहे थे। इस युद्ध में उन्होंने एक अनोखे युद्धास्त्र का आविष्कार किया। वे हाथियों का संहार करने के लिए रावण के ही हाथियों को अस्त्र के रूप में उपयोग कर रहे थे। यही व्यवहार उन्होंने रथी और घुड़सवारों के साथ भी किया। पीछे से आक्रमण करने का प्रयास करने वालों को वे लम्बी पूंछ के द्वारा विनष्ट कर देते थे। आंजनेय के इस अद्भुत पराक्रम की सराहना करते हुए रघुवीर नहीं थकते हैं। कवितावली में तुलसी ने मुख्य रूप से महावीर हनुमान के ही युद्ध-कौशल का चित्र प्रस्तुत किया है। उन्हें लगता है कि इस युद्ध में विजय का सर्वाधिक श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को देना हो तो वह निर्विवाद रूप से हनुमान को छोड़कर और कोई नहीं हो सकता :

हाथिन सो हाथी मारे, घोरे सो संघारे घोरे,
रथिन सों रथ बिदरनि बलवान की।
चंचल चपेट, चोट चरन, चकोट चाहें,
हहरानी फौजें भहरानीं जातुधान की॥
बार बार सेवक सराहना करत रामु,
'तुलसी' सराहै रीति साहेब सुजान की।
लांबी लूम लसत, लपेटि पटकत भट,
देखौ देखौ, लखन ! लरनि हनुमान की॥
दबकि दबोरे एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में, एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
चीरि-फारि डारे, एक मीजि मारे लात हैं॥
'तुलसी' लखत, रामु, रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति, चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं॥

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुबंड बीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरि कै।
महा बल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि, भट
जहाँ-जहाँ पटके लंगूर फेरि फेरि कै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात हाहा खात,
कहैं 'तुलसीस ! राखि' राम की सौं टेरि कै।
ठहर-ठहर परे, कहरि कहरि उठै,
हहरि-हहरि हरु सिद्ध हँसे हेरि कै॥
जाकी बाँकी बीरता सुनत सहमत सूर,
जाकी आँच अबहूँ लसत लंक लाह-सी।
सोई हनुमान बलवान बाँको बानइत,
जोहि जातुधान सेना चल्यो लेत थाह-सी॥
कंपत अकंपन, सुखाय अतिकाय काय,
कुंभऊकरन आइ रह्यो पाइ आह-सी।
देखे गजराज मृगराजु ज्यों गरजि धायो,
बीर रघुबीर को समीर सुनु साहसी॥

लंका के युद्ध में लक्ष्मण को जीवनदान देने का जो महान् कार्य उन्होंने सम्पन्न किया उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। लंका के युद्ध को भगवान राम ने जिस दो व्यक्तियों के पौरुष से जीत लेने का संकल्प किया था, वे लक्ष्मण और हनुमान थे। मेघनाद के द्वारा लक्ष्मण के मूर्छित होने पर प्रभु युद्ध में जीतने की सारी आशा खो बैठते हैं। लक्ष्मण के अभाव में उन्हें सारा जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है। ऐसे कठिन अवसर पर महावीर का अद्भुत पराक्रम और विवेक आड़े आता है। वे तीन असम्भव कार्यों को अकेले ही सम्पन्न कर दिखाते हैं। लक्ष्मण की चिकित्सा के लिए जिस वैद्य का चुनाव किया गया, यह शत्रु-नगरी दुर्धर्ष लंका नगर का निवासी था। शत्रु-नगर में प्रविष्ट होकर उसे भवन सहित उठा लाना उनके ही बलबूते का कार्य था। पर वैद्य ने आकर जिस औषधि की मांग की थी, उसकी उपलब्धि वहां से हजारों योजन दूर द्रोणाचल पर्वत पर होगी यह भी उसका कथन था, पर इससे भी कठिन शर्त यह थी वह औषधि सूर्योदय से पूर्व ही आ जानी चाहिए। वैद्य, औषधि, और समय का यह संयोजन असम्भवप्राय था। प्रत्येक योद्धा अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। वहां भी पवनकुमार का कभी न चुकने वाला पराक्रम असम्भव को सम्भव कर दिखाता है। इसीलिए औषधि आने के पश्चात् लक्ष्मण से भी पहले प्रभु हनुमान को गले लगाकर भाव-विह्वल हो जाते हैं। अपनी कृतज्ञता के ज्ञापन के लिए उनके पास शब्दों का अभाव है। उन्हें प्रतीत होता है कि भले ही संसार अपनी रक्षा के लिए मेरी शरण में आता हो किन्तु मेरे शरण्य तो एकमात्र पवनपुत्र ही हैं। कवितावली रामायण में गोस्वामी जी सारी

कठिन परिस्थितियों की चर्चा करते हुए इसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं :

बाप दियो काननु भो आननु सुभाननु सो,
बैरी भो दसानन सो, तीय को हरनि भो।
बालि बलसालि दलि पालि कपिराज को,
बिभीषनु नेवाजि, सेत सागर-तरनु भो॥
घोर रारि हेरि त्रिपुरारि-बिधि हारे-हिएँ,
घायल लखन बीर बानर बरनु भो।
ऐसे सोक में तिलोकु कै बिसोक पलही में,
सबही को तुलसी को साहेबु सरनु भो॥

प्रभु ही नहीं उनके परिवार का प्रत्येक सदस्य स्वयं को आंजनेय का ऋणी मानता है। प्रभु उनकी गुण गाथा सुनाते हुए गद्गद् हो जाते है। मैथिली को तो उनके गुणों की स्मृति मात्र से शरीर का भान भूल जाता हैं। भरत की कृतज्ञता की तो कोई सीमा हीं नहीं है। लक्ष्मण के तो वे प्राणदाता ही हैं। सारी अयोध्या उनकी उपकृत है :

सुनु-सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
देखेउँ करि बिचारि मन माहीं॥

× × ×

हरषि राम भेंटेउ हनुमाना।
अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥

× × ×

अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥
सुनु मातु मैं पायो अखिल जग राजु आजु न संसयं।
रन जीति रिपुदल बंधु जुत पस्यामि राममनामयं॥
सुनु सुत सदगुन सकल तब हृदय बसहु हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत॥

× × ×

कपि तब दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता।
तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

उपरोक्त पंक्तियों में रामभद्र और उनके परिजनों के द्वारा की जाने वाली यह स्तुतियां अतिशयोक्ति न होकर सर्वथा यथार्थ हैं। इसलिए यदि भगवान शंकर ने निस्संकोच यह स्वीकार कर लिया कि हनुमान के समान सौभाग्यशाली और रामचरणानुरागी कोई दूसरा नहीं है तो यह तथ्य की स्वीकृति मात्र है :

हनूमान समान नहिं बड़भागी।
नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई।
बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

यदि कृतज्ञ भारतीय जनता ने प्रभु की तुलना में उनके भक्त को अधिक पूज्य माना तो यह उसकी परम्परा के ही अनुरूप था :

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री मनु और श्री दशरथ जी

हिन्दू धर्म पुनर्जन्मवादी है। इसलिए किसी व्यक्ति के चरित्र पर विचार करते हुए उसकी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही नहीं होती है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूरी तरह हृदयगंम करने के लिए उसके भूतकाल पर भी दृष्टि रखनी होगी, ऐसी उसकी मान्यता है। एक ही देश, काल और परिवार में जन्म लेने पर भी व्यक्ति में दिखाई देने वाली विभिन्नताओं की व्याख्या वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार पर करता है। व्यक्ति का अन्तर्मन अगणित जन्मों के संस्कारों से घिरा होता है। व्यक्ति के स्वभाव और आचरण के मूल में पूर्वजन्मों के संस्कार ही प्रेरक के रूप में कार्य करते हैं। महाराज श्री दशरथ के व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए भी इसी पद्धति का आश्रय लेना अपेक्षित है। मानस के प्रथम सोपान में इस तथ्य को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है कि वे महाराज श्री मनु ही हैं, जो आगे चलकर दशरथ के रूप में जन्म लेते हैं। मानव जाति के आदि स्वायम्भुव मनु का परिचय इन पंक्तियों में दिया गया है :—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा।
जिन्ह तें भै नर सृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका।
अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥
नृप उत्तानपाद सुत तासू।
ध्रुव हरि भगत भयउ सुत जासू॥
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही।
बेद पुरान प्रसंसहिं जाही॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी।
जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदि देव प्रभु दीन दयाला।
जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला॥
सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना।
तत्त्व विचार निपुन भगवाना॥
तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला।
प्रभु आयसु सब विधि प्रतिपाला॥

इन पंक्तियों में सर्वप्रथम नर-सृष्टि के विस्तारक के रूप में उनका परिचय दिया गया है। मनु मनुष्य जाति के आदिपुरुष हैं। मनुष्य शब्द की मूल व्युत्पत्ति भी मनु शब्द से ही सम्बद्ध है। इस तथ्य को हृदयगंम करने के लिए सृष्टके विस्तार

की उस प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा, जिसका वर्णन विविध पुराणों के अनेकानेक प्रसंगों में किया गया है। इस सृष्टि का श्रीगणेश जब कुछ नहीं था, के चित्र से होता है। अगाध जलराशि में भगवान् नारायण शयन कर रहे हैं। उनकी नाभि से एक कमल निकलता है और उस कमल से ब्रह्मा का जन्म होता है। ब्रह्मा स्वयं को उस अगाध जलराशि में अकेला पाते हैं। वे जिस कमल पर आसीन थे, उसके नाल का मूल केन्द्र उनके दृष्टिपथ से बाहर था। वे अकेलेपन में भय और अभाव का अनुभव करते हैं, और तब उन्हें एक स्वर सुनाई देता है जिसमें उन्हें सृष्टि के निर्माण का आदेश प्राप्त होता है। हजारों वर्षों की तपस्या के पश्चात् वे सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया में संलग्न होते हैं। इस प्रक्रिया का एक भाग मानव जाति का निर्माण और विस्तार भी था। इसके मूल घटक मनु हैं। पौराणिक परम्परा का यह चित्र जीवन के जिस सत्य का उद्घाटन करता है, उसे हृदयंगम करने के लिए इस प्रतीकात्मक उपाख्यान के अन्तरंग में प्रविष्ट होना होगा।

जब सृष्टि के आदिकाल की कथा कही जाती है, तब उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उससे पहले सृष्टि थी ही नहीं। संसार अनादि है। उसमें सतत् निर्माण और विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है। इसे स्पष्ट करने के लिए क्षीरसागर में शेषशय्या पर शयन करते हुए भगवान् नारायण का चित्र प्रस्तुत किया गया है। एक व्यक्ति जब निद्रा-निमग्न होता है, तब उसकी दृष्टि में कोई सृष्टि नहीं होती है। निद्रा अद्वैत की वह स्थिति है, जो व्यक्ति के जीवन में प्रतिदिन आती है, और उसमें एक दिन का भी व्यवधान व्यक्ति को व्याकुल बना देता है। निद्राकाल में व्यक्ति परम शान्ति का अनुभव करता है। अनिद्राकाल की व्याकुलता उसके वास्तविक मूल्य को प्रकट करती है। साधारणतया प्रलय की कल्पना से व्यक्ति आतंकित हो उठता है किन्तु यह प्रलय भगवान् का शयन ही तो है। निद्रा की यह अद्वैत स्थिति भी सार्वकालिक नहीं होती। व्यक्ति सोते समय जागरण का संकल्प लेकर ही सोता है। इस तरह 'कुछ नहीं' की स्थिति में भी वह 'सब कुछ' को साथ लेकर सोता है। व्यक्ति के जीवन का यह सत्य ही समष्टि के स्वरूप को प्रकट करता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह स्वभाव व्यक्ति को समष्टि चेतना से ही उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त हुआ है। भगवान् विष्णु समष्टि चेतना के प्रतीक हैं। अद्वैत और द्वैत उस चेतना के दो पक्ष हैं। उसमें श्रेष्ठता और निकृष्टता की कल्पना व्यर्थ है। यह तो व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर है कि वह इन दोनों में से किसी एक को अधिक महत्व दे। ब्रह्मा ने भी प्रारम्भ में जिस मनोमयी सृष्टि का सृजन किया उसमें यह प्रश्न उभरकर सामने आया। उनकी मन:सृष्टि से जन्म लेने वाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें द्वैत विस्तार की तुलना में अद्वैत ही अधिक प्रिय था। इन्हें लोगों ने निवृत्तिपरायण महापुरुषों के रूप में देखा। तब सृष्टि के विस्तार के लिए नारी और पुरुष के शरीर की आवश्यकता का अनुभव हुआ। मन की समग्र शान्ति यदि अद्वैत स्थिति में सम्भव है तो शरीर के संरक्षण

के लिए द्वैत की आवश्यकता है। ब्रह्मा जब सृष्टि का सृजन करने चलते हैं तब वे शरीर को अधिक महत्त्व दें, यह उनके लिए स्वाभाविक ही था। अत: मानव जाति के रूप में वे जिस अद्भुत सृष्टि को बनाना चाहते थे, उसके मूल घटक मनु को जो गौरव प्राप्त है उसे अस्वाभाविक अथवा असंगत नहीं कहा जा सकता।

प्रवृत्ति के साथ अगणित समस्याओं का भी जन्म होता है। विविधता में सौन्दर्य के साथ स्वाद और संघर्ष की समस्याएं भी बढ़ जाती हैं। उसके नियमन के लिए संविधान का निर्माण किया जाता है। मन ने भी सृष्टि-विस्तार के साथ सन्तुलन और समन्वय के लिए जिस शास्त्र का निर्माण किया यह मनुस्मृति के रूप में सामने आया। मनु ने उस संविधान के आधार पर ही सृष्टि को चलाने का प्रयास किया हो यह स्वाभाविक ही था। यात्रा में ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति के लिए मार्ग का निर्णय करना कठिन हो जाता है। उस समय व्यक्ति लीक अथवा चिह्न के माध्यम से मार्ग निर्धारण का प्रयास करता है। लीक यह सूचित करती है कि पहले भी इस दिशा में कोई गया है। मनुस्मृति इसी लीक का परिचायक है। 'अजहुं गाव श्रुति जिनकै लीका' कहकर इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है। किन्तु स्मृति द्वारा संचालित धर्म के प्रतिपादन का अन्तिम उद्देश्य क्या है? जिनकी दृष्टि केवल व्यक्ति के सामाजिक पक्ष पर ही है, वे यह सोचकर सन्तुष्ट हो सकते हैं कि धर्म के द्वारा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में सामंजस्य की स्थापना हो जाती है। एक सुव्यवस्थित समाज स्वयं में ही कम बड़ी उपलब्धि नहीं है। किन्तु जिनकी दृष्टि आध्यात्मिक है वे जीवन को केवल सीमित अर्थों में ही स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकते। उनकी दृष्टि में धर्म का अंतिम परिणाम वैराग्य होना चाहिए। मानस की भी यही मान्यता है:

प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
पुनि मम चरन उपज अनुरागा॥

× × ×

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना॥

इसका तात्पर्य यह है कि स्मृति धर्म के द्वारा जिस सन्तुलित समाज की स्थापना की जाती है, वह सुखोपलब्धि का साधन है। धर्म उसकी उपलब्धि, वितरण और उपभोग की पद्धति पर समुचित नियंत्रण करता है जिससे सारा समाज सुखी हो सके। किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या विषय व्यक्ति को समग्र सुख और शान्ति प्रदान कर सकते हैं? इसका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक है। क्योंकि व्यक्ति जिन इन्द्रियों के माध्यम से सुख प्राप्त करता है उनकी सीमाएं हैं। पहले तो अभीप्सित विषय उस मात्रा में उपलब्ध ही नहीं किन्तु यदि वे सुलभ भी हो जाएं तो व्यक्ति

में उसे ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती है।

और यदि व्यक्ति उनका अनियन्त्रित उपभोग करे तो परिणामस्वरूप रोगों से घिर जाता है। अन्त में शरीर का विनष्ट होना भी अवश्यम्भावी है। अतः विचारक इसी निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विषयों के द्वारा समग्र सुख की अनुभूति असम्भव है। तब व्यक्ति के अन्तर्मन में विषयों के प्रति विरक्ति की भावना जाग्रत होती है। इस विरक्ति के पश्चात् ज्ञान अथवा भक्ति के माध्यम से समग्रता की उपलब्धि का प्रयास किया जाता है। उपरोक्त पंक्तियों में भी वैराग्य के इन्हीं दो परिणामों की ओर इंगित किया गया है। किन्तु यह ऐसा तथ्य नहीं है कि जिसका परिणाम अवश्यम्भावी रूप से यही हो। धर्म के द्वारा विषयों का नियंत्रित सेवन करते हुए भी अगणित व्यक्तियों के जीवन में वैराग्य का उदय नहीं होता, विषयों में जिस प्रत्यक्ष सुखानुभूति का अनुभव होता है, उससे भिन्न परिणाम निकालना व्यक्ति के लिए सरल नहीं होता। वह विषय सेवन के लिए इन्द्रियों की सामर्थ्य बढ़ाने का प्रयास करता है। और यदि यह इस शरीर से सम्भव न भी हो तो वह ऐसे शरीर की कामना और कल्पना करता है जिसमें रोग और वृद्धावस्था की समस्याएं न हों। स्वर्ग का शोध इसी प्रक्रिया का परिणाम है। स्वर्ग में देव शरीर के द्वारा निरन्तर भोग किए जाने पर भी शरीर में रोग अथवा वृद्धावस्था का उदय नहीं होता, ऐसा वर्णन किया गया है। पर समस्याओं से मुक्ति वहां भी नहीं है। वहां भी ईर्ष्या वृत्ति का दुःख तो बना ही रहता है। क्योंकि मान्यता यह है कि स्वर्ग में भोगों की मात्रा पुण्य के तारतम्य से ही निर्धारित की जाती है। फिर काल की सीमा से वहां भी मुक्ति नहीं है। पुण्य समाप्त होते ही व्यक्ति पुनः नीचे की ओर ढकेल दिया जाता है। भगवान् राम ने पुरवासियों को उपदेश देते हुए इस तथ्य का वर्णन इन शब्दों में किया है :

एहि तनु कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥

अतः धर्म से वैराग्य का उदय होता है, इस कथन की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि धर्म के द्वारा वैराग्य का उदय होना चाहिए। पर ऐसा बहुधा नहीं होता। इसीलिए यह स्वीकार किया गया है कि 'हजारों व्यक्तियों में कोई एक व्यक्ति धर्मपरायण होता है और करोड़ों धर्मशील व्यक्तियों में से किसी एक व्यक्ति में वैराग्य उदय होता है :

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी।
कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिन्ह महँ कोई।
बिषय बिमुख बिराग रति होई॥

स्मृति निर्माता मनु स्वयं ऐसा अनुभव करते हैं कि धर्म का यह परिणाम उनके जीवन में उदित नहीं हुआ है। अतः उनमें भले ही मानसिक असन्तोष का उदय न

हुआ हो किन्तु बौद्धिक असन्तोष का उदय अवश्य हुआ। वृद्धावस्था तक शासन करने के पश्चात् भी तब सहज भाव से उनके हृदय में विषयों के प्रति विरक्ति का उदय नहीं हुआ, तब उन्होंने विचार के माध्यम से विषय-त्याग का संकल्प लिया। रोगी जब विषय-सेवन से हानि का अनुभव करता है तब वह उन्हें छोड़ने के लिए बाध्य हो जाता है। पर ऐसा स्वस्थ व्यक्ति भी हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार के रोग अथवा दुर्बलता का उदय नहीं हुआ है, पर वह बुद्धिपूर्वक यह समझ लेता है कि अन्ततोगत्वा यह विषय दुःखदाई ही सिद्ध होंगे। इसलिए क्यों न बाध्यता से पहले ही इनका परित्याग कर दिया जाय। विनय पत्रिका की 'अन्तहु तोहि तजहिंगे पाँवर तू न तजै अबहीं ते' वाली पंक्ति इसी दिशा में उद्बोधन देती है। मनु की बौद्धिक स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की सिद्ध हुई। विषयों से स्वतः उन्हें दुखानुभूति नहीं हुई। पर वे विचारपूर्वक उनकी दुःखरूपता का निर्णय करते हैं और उनके परित्याग का दृढ़ संकल्प कर लेते हैं। राज्यसत्ता पुत्र के हाथों में सौंपकर वे वन में तपस्या के लिए चले जाते हैं :

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु॥
बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा॥

विवेकपूर्वक स्वीकार किया गया यह वैराग्य उन्हें साधना और तपस्या के चरम शिखर तक पहुंचा देता है। वे तपस्या के द्वारा शरीर को इतना सुखा देते हैं कि उसमें हड्डियां मात्र शेष रह जाती हैं :

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।
तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा॥

क्या ईश्वर के साक्षात्कार के लिए शरीर को सुखा देना आवश्यक है ? इसका उत्तर नकारात्मक है। 'प्रभु की प्राप्ति प्रेम से होती है' यह सत्य अनगिनत बार दोहराया गया है :

अग जग मय सब रहित बिरागी।
प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
× × ×
रामहि केवल प्रेम पियारा।
जानि लेहु जो जाननिहारा॥

ऐसी स्थिति में इस कठिन तपस्या का उद्देश्य क्या था ? वस्तुतः इसका मनोवैज्ञानिक कारण 'होइ न विषय विराग' में ही छिपा हुआ है। वे तपस्या के माध्यम से स्वयं के शरीर को विषय-विमुख बना देना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि वे इसमें पूरी तरह सफल हुए; क्योंकि वे अन्न और जल ही नहीं अपितु वायु का भी परित्याग कर देते हैं। उनकी कठिन तपस्या का वर्णन इस रूप में किया गया है :

करहिं अहार साक फल कंदा।
सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे।
बारि अधार मूल फल त्यागे॥
उर अभिलाष निरंतर होई।
देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना।
उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा।
तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥
एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥
बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।
ठाढ़े रहें एक पद दोऊ॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा।
मनु समीप आए बहु बारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाए।
परमधीर नहिं चलहिं चलाए॥
अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा।
तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा॥

कठिन साधना के पश्चात् भगवद्दर्शन का उनका लक्ष्य पूर्ण होता है। पहले आकाशवाणी के रूप में और बाद में प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हुए उन्हें प्रभु की कृपा प्राप्त होती है। ईश्वर उनसे वरदान मांगने का आग्रह करता है और वे प्रभु से पुत्र रूप में अवतरित होने का अनुरोध करते हैं :

बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥
सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी।
धरि धीरजु बोली मृदु बानी॥

नाथ देखि पद कमल तुम्हारे।
अब पूरे सब काम हमारे॥
एक लालसा बड़ उर माहीं।
सुगम अगम कहि जात सो नाहीं॥
तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं।
अगम लाग मोहि निज कृपनाईं॥
जथा दरिद्र बिबुध तरु पाई।
बहु संपति माँगत सकुचाई॥
तासु प्रभाउ जान नहिं सोई।
तथा हृदय मम संसय होई॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।
पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही।
मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥
दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥

इस वरदान की याचना के पीछे कौन-सा मनोभाव विद्यमान है, यह एक विचारणीय तथ्य है। इसे कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम मनु के रूप में सामूहिक कल्याण का भाव अब भी उनमें दिखाई देता है। वे व्यक्तिगत रूप से मुक्ति की कामना नहीं करते। स्वयं मृत्युलोक से ऊपर उठकर किसी दिव्यलोक में निवास करने की आकांक्षा भी उनमें दिखाई नहीं देती। वे ईश्वर से ही मृत्युलोक में अवतरित होने का अनुरोध करते हैं। इस तरह उनका वरदान लोक-कल्याण की भावना का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु इस वरदान का मनोवैज्ञानिक रहस्य केवल इतना ही नहीं है। वस्तुतः 'होइ न विषय विराग' का तथ्य अब भी कहीं न कहीं अन्तस्तल की गहराइयों में विद्यमान था। उनकी कठिन तपस्या भी विषय के प्रति आकर्षण के मूल उत्स को विनष्ट करने में समर्थ नहीं हुई थी। जब वे प्रभु से पुत्र बनने की प्रार्थना करते हैं तब भी उनके अन्तःकरण में गार्हस्थ्य जीवन के सुखोपभोग की कामना विद्यमान है। वरदान की स्वीकृति के पश्चात् प्रभु के द्वारा दिए गये आदेश में भी यही तथ्य सांकेतिक रूप में देखा जा सकता है। उन्हें आदेश मिलता है कि वे कुछ समय पश्चात् शरीर का परित्याग कर स्वर्ग में निवास करेंगे। वहां के विशाल भोगों को भोगते हुए जब वे पुनः दशरथ के रूप में जन्म लेंगे तब प्रभु को पुत्र रूप में प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा पूर्ण होगी :

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी।
बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥

तहँ करि भोग बिलास तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ॥

अपने विवेक के द्वारा उन्होंने विषय-सेवन की तीव्र अभिलाषा से मुक्ति पा ली थी, पर संस्कार रूप में वह अब भी उनमें विद्यमान थी। स्वर्ग में रहकर विषय-भोग की आज्ञा उसी संस्कार में निहित वासना के निस्सरण का प्रयास था। अन्त में जब वे इस वरदान के अनुसार महाराज श्री दशरथ के रूप में जन्म लेते हैं तब भी उनके व्यक्तित्व में पूर्व जन्मों के संस्कार किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ईश्वर के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह भोग के स्थान पर वैराग्य के माध्यम से विषय सेवन के संस्कार से उन्हें मुक्ति दिला सकें। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि भले ही ईश्वर सर्व समर्थ हो पर वह संविधान-निर्माता मनु को भी संवैधानिक पद्धति से ही साधन के पथ पर ले चलता है। यदि उन्हें समग्र विराग दे दिया जाये तो वे पितृ-स्नेह से भी मुक्त हो जाएंगे जो उनके वरदान का मुख्य भाव था। ऐसी स्थिति में त्याग के स्थान पर भोग का मार्ग ही उनके लिए उपयुक्त हो सकता था। महाराज श्री दशरथ के रूप में उनका जीवन इन्हीं मनोभावों से संचालित दिखाई देता है। वे पुनः राजा के रूप में ही जन्म लेते हैं। उनका जन्म एक ऐसे वंश में होता है जो धार्मिकता और मर्यादापालन के लिए संसार में प्रसिद्ध था। इस तरह वे मनु के रूप में बनाई हुई स्मृति को क्रियान्वित करने का अवसर प्राप्त करते हैं। उनका परिचय मानस में इन पंक्तियों के माध्यम से दिया गया है :

अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ।
बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ ॥
धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी।
हृदय भगति मति सारंगपानी ॥
कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत ॥

महाराज श्री दशरथ का व्यक्तित्व अगणित आकर्षक गुणों से युक्त था। उनमें धर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय विद्यमान था। प्रजा के प्रति उनके अन्तःकरण में प्रगाढ़ प्रेम था। महाराज श्री दशरथ वृद्धावस्था तक धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए भी पुत्ररहित थे। पर पुत्र के अभाव की चिन्ता उनके मन में वृद्धावस्था के आगमन पर ही उदित होती है। युवावस्था में एक लम्बी अवधि तक पुत्र की आवश्यकता का अनुभव न होना उसी संस्कार से सम्बद्ध है जिसका वर्णन मनु के रूप में उनकी आत्मग्लानि के इन शब्दों में किया गया है। 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन'। वस्तुतः विषयों के प्रति उनके मन में तीव्र आकर्षण विद्यमान था। युवावस्था में उनके अनेक विवाह होते हैं। शास्त्रीय मर्यादा और प्रचलित परम्परा की दृष्टि से बहुविवाह में कोई दोष न था। अतः इस दृष्टि से जहां

वे स्मृति के अनुकूल जीवन व्यतीत कर रहे थे वहीं पुत्र का अभाव बहुविवाह के औचित्य को और भी अधिक तार्किकता प्रदान कर रहा था। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा और विषय-सुख की लालसा जहां एकाकार हो रही हो वहां उनमें वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु वृद्धावस्था तक पुत्र के अभाव की चिन्ता से व्यथित न होना यही सिद्ध करता है कि विषय-सुख की परितृप्ति के कारण ही पुत्रैषणा प्रबल होकर सामने नहीं आती है। युवावस्था स्वभावतः वर्तमान में सुखानुभूति की अवस्था है। वृद्धावस्था बहुधा भविष्य की ओर देखती है। युवावस्था की तुलना व्यापारी की उन घड़ियों से की जा सकती है जब वह स्फूर्तिपूर्वक तौलने और बेचने का कार्य करता है। वृद्धावस्था सायंकाल की वह वेला है जब व्यापारी हिसाब-किताब मिलाने बैठता है। दुकान समेटते हुए 'क्या पाया और क्या खोया' की मनोवृत्ति से वह संचालित होता है। महाराज श्री दशरथ का जीवन भी इस मनोभाव का अपवाद न था। वृद्धावस्था में उत्तराधिकारी की चिन्ता उन्हें व्याकुल बना देती है और वे श्रद्धालु शिष्य के रूप में गुरु वशिष्ठ का आश्रय लेते हैं। स्वयं गुरु वशिष्ठ अपनी ओर से युवावस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करते हुए नहीं दिखाई देते। यों यदि वे चाहते तो महाराज श्री दशरथ का पहले भी इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट कर सकते थे। पर मानवीय मनोभाव के पण्डित होने के नाते वे यह भली-भांति जानते थे कि उचित अवसर पर ही किसी दिशा में ध्यान आकृष्ट करना फलदायी होता है। अतः जब महाराज के मन में स्वयं ग्लानि उत्पन्न होती है तब वे आश्वस्त करते हुए यज्ञ करने का आदेश देते हैं और महाराज श्री की कामना पूर्ण होती है :

एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरें सुत नाहीं॥
गुर गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि बिनय बिसाला॥
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ।
कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥
सृङ्गी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥
जो बसिष्ठ कछु हृदयँ बिचारा।
सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा॥

किन्तु यह साधारण पुत्रोपलब्धि मात्र न थी। साक्षात् ब्रह्म ही चार पुत्रों के

रूप में उनके गृह में अवतरित हुए थे। इस तरह मनु के रूप में की गई उनकी कठिन तपस्या भी फलवती हुई। चारों ओर उनके सौभाग्य की सराहना होने लगी। ब्रह्मा की सृष्टि में होते हुए भी वे ब्रह्मा के गौरव के कारण बने। मानस में बड़ी ही विलक्षण साहित्यिक भाषा में इसे इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ बिधाता।
महिमा अवधि राम पितु माता॥

इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माण करने पर भी ब्रह्मा यश की तुलना में अयश के ही अधिक भागी बने क्योंकि उन्होंने जिस संसार का निर्माण किया है वह दोष और गुण के मिश्रण से बना हुआ है। व्यक्ति का यह सहज स्वभाव है कि उसकी दृष्टि दोषों की ओर पहले जाती है और तब सृष्टि निर्माण के लिए ब्रह्मा की सराहना करने के स्थान पर वह त्रुटियों के लिए उन्हें दोष देकर स्वयं में सन्तुष्ट हो लेता है। विवेकी महापुरुषों से लेकर साधारण जन तक इस प्रकार की समालोचना में एक मत दिखाई देते हैं। यहां तक कि स्वयं प्रभु रामभद्र भी इस लोक-परम्परा का पालन करते हुए कैकेयी को दोष मुक्त करने के लिए ब्रह्मा का ही नाम लेते हैं। यह बात और है कि जहां कैकेयी जैसे पात्र स्वयं को दोष मुक्त करने के लिए ब्रह्मा का नाम लेते हैं वहां सत्पुरुष दूसरों की ग्लानि दूर करने के लिए इस पद्धति का प्रयोग करते हैं :

वसिष्ठ— सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु ,जसु अपजसु बिधि हाथ॥

कैकेयी— कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ।
भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥

ग्रामवासी स्त्री-पुरुष— निपट निरंकुस निठुर निसंकू।
जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रूख कलपतरु सागरु खारा।
तेहिं पठए बन राजकुमारा॥

रामभद्र— पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल कर्म बिधि सिर धरि खोरी॥

इस विषय में लोगों की यह धारणा इतनी सुदृढ़ थी कि यदि संयोग से कोई कृति या व्यक्तित्व पूर्ण निर्दोष प्रतीत हो तो यह कल्पना कर ली गई कि वह ब्रह्मा की कृति हो ही नहीं सकती है। रघुनन्दन के दिव्य-सौन्दर्य को देखकर ग्रामवासियों ने इसी प्रकार की उक्ति का प्रयोग किया :

एक कहहिं ए सहज सुहाए।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥

किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि केवल एक ही स्थान पर ब्रह्मा दोषमुक्त हो सका। यह महत्त्व ब्रह्मा को महाराज श्री दशरथ के निर्माण के द्वारा प्राप्त हुआ।

भले ही वह भगवान् राम का निर्माता न हो किन्तु जिनकी प्रीति और भक्ति से विवश होकर प्रभु अवतरित होने के लिए बाध्य हुए उन दशरथ का निर्माण तो उसने ही किया था :

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥

ईश्वर के अवतरित होने की कठिन साधना में सिद्धि प्राप्त करने के बाद वे उस रस की उपलब्धि में सफल होते हैं जो भगवान् शिव के लिए भी दुर्लभ प्रतीत होती थी। ब्रह्म उनकी गोद में क्रीड़ा करता है। वे रामभद्र की नित्य नूतन बाल क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं। राघवेन्द्र जैसा पुत्र पाकर वे कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं। उनकी गोद में शिशु ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए राजमहल के द्वार पर अनगिनत लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती है। सभी दशरथ के सौभाग्य की सराहना करते हैं। राघव की विशेषताओं का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त हो जाता है :

भूमितल भूप के बड़े भाग।
राम लखन रिपुदमन भरत सिसु निरखत अति अनुराग॥१॥
बाल बिभूषन लसत पायँ मृदु मंजुल अंग-बिभाग।
दसरथ-सुकृत मनोहर बिरवनि रूप-करह जनु लाग॥२॥
राजमराल बिराजत बिहरत जे हर-हृदय-तड़ाग।
ते नृप-अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग॥३॥
सिद्ध सिहात, सराहत मुनिगन, कहैं सुर किन्नर नाग।
'ह्वै बरु बिहँग बिलोकिय बालक बसिपुर उपबन बाग'॥४॥
परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम-प्रयाग।
तुलसी फल ताके चार्‌यो मुनि मरकत पंकज राग॥५॥

उनका सौभाग्य निरन्तर बढ़ता ही गया। श्री राम के प्रति उनकी आसक्ति-स्नेह की कोई सीमा न थी। उनसे कुछ क्षणों के लिए अलग होने की कल्पना भी उन्हें असह्य थी। औदार्य से भरे हुए होने पर भी वे ऐसे अवसरों पर अनुदार हो जाते हैं। इसका प्रमाण तब प्राप्त हुआ जब महर्षि विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण की याचना करने के लिए अयोध्या में पधारे। जब तक उन्हें ब्रह्मर्षि की याचना का स्वरूप ज्ञात नहीं था तब तक उनके उत्साह की कोई सीमा न थी। किन्तु रामभद्र की मांग होते ही वे व्याकुल हो जाते हैं और अपने ही वचनों को भुलाकर स्पष्ट शब्दों में अस्वीकृति के वाक्य बोल पड़ते हैं :

केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लावउँ बारा॥
असुर समूह सतावहिं मोही।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥
देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान॥
सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कंप मुख दुति कुम्हलानी॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥

किन्तु गुरु वशिष्ठ के प्रति उनकी सुदृढ़ निष्ठा उन्हें वचन भंग के दोष से मुक्त कराने में सफल होती है। ममत्व से विचलित होने पर भी वे धर्म के प्रति अपनी अडिग निष्ठा के कारण राघव और लक्ष्मण को बिना किसी परिकर के महर्षि के साथ भेजने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं :

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा॥
अति आदर दोउ तनय बोलाए।
हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥
सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥

इस प्रसंग की परिणति अन्त में चारों राजकुमारों के विवाह के रूप में होती है। उनका सौभाग्य सूर्य मध्याह्न में पहुंच जाता है। जनकपुर की पत्रिका मिलने पर गुरु वशिष्ठ द्वारा भावभीने स्वर में उनकी धर्मशीलता की सराहना उनके चरम सौभाग्य की ही अभिव्यक्ति थी :

तब उठि भूप बसिष्ठ कहुँ दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरहि सब सादर दूत बोलाइ॥
सुनि बोले गुर अति सुख पाई।
पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं।
यद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ।
धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥
तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी।
तसि पुनीत कौसल्या देबी॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं।
भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥
तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें।
राजन राम सरिस सुत जाकें॥

किन्तु उनका यह सौभाग्य शाश्वत सिद्ध नहीं हुआ। राम वनगमन के रूप में उन्हें जिस विपत्ति का सामना करना पड़ा वह अन्त में उनका प्राण लेकर ही छोड़ती है। महाराज श्री ने राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न को कुछ इस तरह उलझा दिया कि उसने अनेकों समस्याओं को जन्म दे दिया। मानस में यद्यपि इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि उन्होंने कैकेयी के विवाह में किसी प्रकार का वचन दिया था। किन्तु घटनाएं जिस रूप में घटित हुई उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे किसी-न-किसी आशंका से प्रेरित अवश्य थे। युवराज पद पर रामभद्र को अभिषिक्त करने के लिए वे अत्यन्त उतावले दिखाई देते हैं। अभिषेक का मुहूर्त निश्चित हो जाने पर भी वे भरत को ननिहाल से बुलाने का कोई प्रयास नहीं करते। भरत के प्रति उनका प्रगाढ़ विश्वास था, किन्तु उनके ननिहाल की ओर से वे निश्चिन्त प्रतीत नहीं होते। भरत के न बुलाए जाने की घटना को माध्यम बनाकर ही मन्थरा अपने षड्यन्त्र में सफल हो जाती है। कैकेयी के लिए राघवेन्द्र को युवराज पद पर अभिषिक्त करना सुखद समाचार था किन्तु इस तर्क का उनके पास कोई उत्तर न था कि भरत को ऐसे सुअवसर से वंचित क्यों किया गया।

इसमें उन्हें षड्यन्त्र की गन्ध आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस संदर्भ में महाराज श्री का व्यवहार एक चतुर राजनीतिज्ञ की भांति न था। दशरथ के स्वभाव में एक राजनीतिज्ञ की चतुराई के स्थान पर भक्त की सरलता का अधिक दर्शन होता है। उनके विषय में समाज में भी यही धारणा प्रचलित थी। 'सरल सुसील धरमरत राऊ' कहकर श्री भरत ने इसी भावना को अभिव्यक्ति दी है। इसीलिए वे राज्याभिषेक की पूर्व संध्या को कैकेयी के महल में बिताने का निर्णय करते हैं। उनके अन्तःकरण में यह प्रगाढ़ विश्वास था कि इस समाचार को सुनकर कैकेयी आनन्दित होंगी। किसी प्रकार का भय अथवा संशय उनके मन में था ही नहीं। महारानी कैकेयी के भवन की ओर जाते हुए उनके मनोभाव का चित्र इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

साँझ समय सानंद नृप गयउ कैकई गेह।
भवन निठुरता गवन किय जनु धरि देह सनेह॥

महल में पहुंचते ही उन्हें कैकेयी के कोप-भवन में होने का समाचार प्राप्त होता है। यह समाचार उन्हें जिस प्रकार आतंकित कर देता है उससे उनके चरित्र की दुर्बलता का वह अंश सामने आ जाता है जो पूर्व-पूर्व जन्मों से उनके अन्तःकरण में विद्यमान था। कठिन तपस्या और साधना के बाद भी वे अपनी रागात्मिका वृत्ति पर विजय प्राप्त करने में सफल नहीं हुए। महान् राम भक्त के रूप में उन्हें ख्याति प्राप्त थी किन्तु उनके अन्तःकरण में राम के साथ काम भी विद्यमान था इसे छिपाने का कोई प्रयास गोस्वामी जी ने नहीं किया है। प्रस्तुत प्रसंग में खरे शब्दों में उनकी आलोचना की गई है :

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाहुबल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखेउ काम प्रताप बड़ाई॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे।
ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥

यों तो तुलसी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि राम और काम की एक ही स्थान पर उपस्थिति उसी प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार का साहचर्य। दोहावली रामायण के प्रसिद्ध दोहे में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है :

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकें रबि रजनी इक ठाम॥

किन्तु महाराज श्री के प्रसंग में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। उसे एक व्यावहारिक दृष्टान्त के माध्यम से हृदयंगम किया जा सकता है। एक विशाल भवन में सूर्योदय के पश्चात् प्रकाश फैल जाता है किन्तु उसी भवन के नीचे यदि तलघर का निर्माण कर दिया गया हो तो मध्याह्न के प्रखर प्रकाश में भी वहां अन्धकार छाया रह सकता है। महाराज श्री के अन्तःकरण की तुलना भी इसी प्रकार के भवन से की जा सकती है। उनके हृदय-भवन में राम-प्रेम का प्रकाश फैला हुआ है किन्तु उसके नीचे वासना का एक ऐसा कक्ष भी है जहां ममत्व का अन्धकार व्याप्त है। इस तरह वहां अंधकार और प्रकाश की एकत्र स्थिति दिखाई देती है। साधना की भाषा में इसे यों भी कह सकते हैं कि उन्होंने ईश्वर को शास्ता के रूप में हृदय में आमन्त्रित नहीं किया था। मनु के रूप में साधना करने के पश्चात् भी वे प्रभु से इस वरदान की याचना नहीं करते कि उनके अन्तःकरण की वासना

को विनष्ट कर दिया जाए। यदि उन्होंने इस प्रकार की आकांक्षा प्रकट की होती तो उसे प्रभु के द्वारा अवश्य पूर्ण किया जाता। इसके स्थान पर वे वात्सल्य सुख की कामना करते हैं और यह वात्सल्य रस उन्हें भरपूर प्राप्त हुआ। यह वात्सल्य सुख भी वे केवल भावात्मक पद्धति से प्राप्त नहीं करना चाहते थे। इसका अभिप्राय यह है कि शारीरिक सम्बन्ध न होते हुए भी भावराज्य में ईश्वर को पुत्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वात्सल्य रस की उपासना करने वाले प्रत्येक भक्त के घर में ईश्वर पुत्र के रूप में जन्म नहीं लेता है किन्तु महाराज श्री केवल भावराज्य के सम्बन्ध से ही सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। वे उस सम्बन्ध को शरीर के माध्यम से ही साकार करना चाहते हैं। भावराज्य में ईश्वर को पुत्र के रूप में प्राप्त करने के लिए काम की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु जब पत्नी के माध्यम से प्रभु को पुत्र रूप में पाने की कामना की जाए तब वहां काम को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है वहां तो काम के माध्यम से ही राम को प्राप्त करना होगा। महाराज श्री की उपासना पद्धति भी इसी प्रकार की थी। इसीलिए उनके जीवन में राम के साथ काम भी विद्यमान रहा और समय आने पर उन्हें कामजन्य समस्या का सामना करना पड़ा। महाराज श्री दशरथ के जीवन में शरीर त्याग का संकल्प केवल प्रीति का परिणाम नहीं है। प्रीति में व्याकुल होकर वे प्राण का परित्याग अवश्य करते हैं किन्तु इसके पीछे शरीर के प्रति ग्लानि की भावना भी विद्यमान थी। शरीर के माध्यम से उन्होंने वात्सल्य सुख प्राप्त किया था किन्तु देहजन्य वासना के कारण ही वे राम का परित्याग करने के लिए बाध्य हुए। कैकेयी के सौन्दर्य के प्रति उनके मन में असाधारण आसक्ति विद्यमान थी। यदि यह देहजन्य आसक्ति न होती तो उनके अन्तःकरण में कैकेयी की तुलना में कौशल्या के प्रति अधिक स्नेह की भावना होनी चाहिए थी क्योंकि भक्तों की यह मान्यता है कि राम का नाता ही पूज्यता और प्रियता की कसौटी है :

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥

कैकेयी के प्रति उनका अनुराग सौन्दर्यासक्ति के नाते ही था। इसे वे कोप भवन में स्वयं स्वीकार करते हैं। वे स्वयं को कैकेयी के मुखचन्द्र के चकोर के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चंद चकोरू॥

उनकी सन्तुष्टि के लिए वे उस भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उनकी अवस्था, शालीनता और शिष्टता के अनुरूप न थी। वे स्वयं को एक ऐसे प्रेमी के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो अपनी प्रिया को सन्तुष्ट करने के लिए करणीय, अकरणीय सब कुछ करने को तैयार हैं। वे डींग मारने की सीमा तक पहुंच जाते हैं :

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा।
केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी।
काह कीट बापुरे नर नारी॥

अपने वाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वे श्री राम की शपथ ले बैठते हैं। 'भामिनि राम सपथ सत मोही' में ममत्व और राग ही प्रतिबिम्बित हो रहा था। इसी शपथ ने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। एक ओर वे रामभद्र को राज्य देने की घोषणा कर चुके थे, किन्तु दूसरी ओर कैकेयी के आग्रह पर वे ऐसा वरदान दे बैठते हैं जिसकी अन्तिम परिणति श्री राम के वनगमन के रूप में हुई। राम के परित्याग को भले ही संसार ने उनकी सत्य-निष्ठा के रूप में देखा हो किन्तु महाराज श्री इसे केवल अपनी वासनाजन्य दुर्बलता का ही परिणाम मानते रहे। उन्होंने स्वयं को इसके लिए कभी क्षमा नहीं किया। श्री राम के वनगमन के पश्चात् भी उनको इस कार्य के औचित्य के प्रति सन्देह था। इसी अनिश्चय की स्थिति में वे सुमन्त को यह आदेश देते हैं कि राघवेन्द्र को केवल चार दिन वन में घुमाकर वापस लौटा ले आया जाय :

पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू।
लै रथ संग सखा तुम्ह जाहू॥
सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि॥

पर इस आदेश के बाद भी उनके मन में यह संशय बना ही हुआ था कि रामभद्र के द्वारा यह आग्रह स्वीकार किया जाएगा अथवा नहीं। वे राघव के स्वभाव से भलीभांति परिचित थे। राघवेन्द्र के जीवन में धर्म और आदेश केवल स्वार्थ संरक्षण के कवच मात्र नहीं थे। वे त्यागमय धर्म के ही उपासक थे। अतः महाराज श्री के मन में यह सन्देह उठना स्वाभाविक ही था कि मेरे इस आदेश को वे आज्ञा समझकर स्वीकार कर लेंगे अथवा इसे केवल ममत्वजन्य व्याकुलता समझकर अस्वीकार कर देंगे। इसीलिए उन्होंने सुमन्त से यह भी अनुरोध किया था कि यदि रघुवीर लौटना स्वीकार न करें तो उनसे अनुरोध करना कि मिथिलेशनन्दिनी को अवश्य अयोध्या लौट आने का आदेश दे दें :

जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी।
फेरिअ प्रभु मिथिलेशकिसोरी॥

महाराज श्री के इस अनुरोध को प्रभु ने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने इस

वात्सल्य और ममता के आधिक्यजन्य व्याकुलता के परिणाम के रूप में देखा। मिथिलेशनन्दिनी ने भी लौटना अस्वीकार कर दिया। लक्ष्मण के लौटने का तो कोई प्रश्न ही न था। राघवेन्द्र को छोड़कर लक्ष्मण लौट सकते हैं, स्वप्न में भी यह कल्पना महाराज के मन में नहीं आ सकती थी। इसीलिए उन्होंने इस प्रकार के किसी विकल्प की चर्चा नहीं की थी। अपितु सत्य तो यह है कि वे यही चाहते थे कि यदि राघवेन्द्र नहीं लौटते हैं तो लक्ष्मण उनके साथ ही रहें। लक्ष्मण के अनन्यानुराग से वे भलीभांति परिचित थे। उन्हें यह विश्वास था कि लक्ष्मण के रहते श्री राम पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती। फिर भी गंगा तट पर श्री लक्ष्मण के द्वारा कटु शब्दों में महाराज श्री की भर्त्सना की गई। इस भर्त्सना का कारण पिताजी के द्वारा राघवेन्द्र को वन जाने देने की आज्ञा नहीं थी। यदि उनका ऐसा मनोभाव होता तो वे अयोध्या में ही महाराज दशरथ को फटकार देते। जिसे वे अनुचित मानते हैं उसे क्षमा कर ही नहीं सकते थे। इसीलिए वे जनक और परशुराम जैसे महापुरुषों को भी भरी सभा में झिड़की सुना देते हैं। महाराज श्री के द्वारा राघवेन्द्र के वन जाने के आदेश को उन्होंने पिता की धर्मनिष्ठा के रूप में देखा। इसीलिए वे मौनभाव से इसे स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु गंगा तट पर सुमन्त जी के द्वारा कहे गए वाक्यों को सुनते ही उनकी धारणा बदल गई। उन्हें लगने लगा कि जिसे ये धर्मनिष्ठ मान बैठे थे वह तो दुर्बल चरित्र का किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति मात्र है। दुर्बलता और अस्थिरता महाव्रती लक्ष्मण की दृष्टि में अक्षम्य अपराध था। इसलिए कटूक्तियों का प्रयोग करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। हां, राघवेन्द्र ने इसमें असीम लज्जा का अनुभव किया और सुमन्त से शपथपूर्वक यह अनुरोध किया कि लक्ष्मण की कटूक्तियों को वे पिताजी तक न पहुंचने दें :

पुनि कछु लखन कही कटु बानी।
प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई।
लखन संदेसु कहिअ जनि जाई॥

किन्तु यह देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि शपथपूर्वक किए गए इस अनुरोध का पालन सुमन्त जी ने पूरी तरह नहीं किया। भले ही उन्होंने लक्ष्मण द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को महाराज श्री के समक्ष नहीं रक्खा पर वे यह कहने में नहीं चूकते कि लक्ष्मण ने उनकी कठोर शब्दों में भर्त्सना की थी। वस्तुतः वे यह भलीभांति जानते थे कि इस तथ्य से महाराज श्री को जितना सन्तोष प्राप्त होगा, उतना प्रभु की मधुरवाणी से उपलब्ध होने वाला नहीं है। सत्य भी यही था। श्री राम के शील और सौजन्य से उनकी ग्लानि सौ गुनी बढ़ जाती हैं। वे बार-बार यह सोचते हैं कि ऐसे पुत्र को वन देकर मैंने कितना बड़ा अन्याय कर डाला है। लक्ष्मण की कटुवाणी उन्हें उसी प्रकार आश्वस्त करती है जिस प्रकार एक रोगी को कड़वी

औषधि ग्रहण करते हुए यह सोचकर सन्तोष मिलता है कि इसके द्वारा वह रोग-मुक्त हो जावेगा। इसके द्वारा उन्होंने एक आश्वासन प्राप्त किया कि विपत्ति के इन क्षणों में राघव के साथ एक अनन्यानुरागी भाई विद्यमान है। पर महारानी कौशल्या के अनुरोध पर वे प्राण-रक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। महारानी ने उनकी तुलना एक ऐसे कर्णधार से की थी जो राघवेन्द्र के विरह-समुद्र से सारी प्रजा को पार उतार सकता था :

उर धरि धीर राम महतारी।
बोली बचन समय अनुसारी॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू।
राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू।
चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू।
नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥

किन्तु महाराज श्री की ग्लानि अपनी चरम सीमा पर थी। उन क्षणों में उन्हें अपनी युवावस्था की उस दुर्घटना का स्मरण आता है जब उनके शब्द बेधी बाण ने श्रवण कुमार के प्राण ले लिए थे। उस समय वे आत्म विश्वास की चरम सीमा पर थे। उन्हें पूरा भरोसा था कि वे केवल शब्द सुनकर बाण के द्वारा लक्ष्य वेध कर सकते हैं। आत्म विश्वास के इस अतिरेक ने ही उन्हें श्रवण कुमार के द्वारा जल के लिए नदी में डुबोए जाने वाले घट को पशु की ध्वनि समझकर बाण चलाने की प्रेरणा प्रदान कर दी। इस प्रकार वे एक ऐसे युवा पुत्र के वध का पाप अपने सिर पर ले बैठे जो अन्धे माता-पिता का एक मात्र आश्रय था। श्रवण कुमार के माता-पिता ने अपने पुत्र के वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया और मरते समय महाराज श्री दशरथ को पुत्र वियोग में प्राण परित्याग का श्राप दे दिया। आज वे सारी घटनाएं महाराज के मनश्चक्षुओं के समक्ष आने लगीं। उन्हें लगा कि एक राजा के रूप में उनसे न्याय परायणता की आशा की जाती है। दूसरों के प्रति न्याय करना कठिन है किन्तु जब स्वयं को व्यक्ति न्याय सिंहासन के पास खड़ा पाता है तब वह विचलित हुए बिना नहीं रहता। महाराज श्री को लगा कि वे अपने प्राण का परित्याग करके ही अपने किये हुए अन्याय का परिमार्जन कर सकते हैं। और उन्होंने इस महात्याग के द्वारा न केवल अपने अपयश का ही प्रक्षालन कर लिया अपितु उनकी गणना प्रेम के महानतम बलिदानियों में की जाने लगी। महारानी कौशल्या ने भले ही महाराज को प्राण के परित्याग से रोका हो पर उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्हें यह ग्लानि सर्वदा व्यथित बनाती रही कि मैं महाराज की भांति प्रेम में अपने प्राणों को न्योछावर न कर सकी :

पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू।
सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी।
रहइ न राम चरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा।
रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई।
चले संग सिय अरु लघु भाई॥
रामु लखनु सिय बनहिं सिधाए।
गइउँ न संग न प्रान पठाए॥
यहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगें।
तउ न तजा तनु जीव अभागें॥
मोहि न लाज निज नेहु निहारी।
राम सरिस सुत मैं महतारी॥
जिऐ मरै भल भूपति जाना।
मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

किन्तु महाराज दशरथ की गाथा को गोस्वामी जी उनकी मृत्यु पर ही नहीं समाप्त कर देते। मृत्यु को जीवन का अन्त मान लेना भारतीय जीवन-दर्शन की धारणा के विपरीत है। उनकी दृष्टि में जीवन एक दुःखान्त नाटक नहीं है। यदि जीवन ईश्वर की कृति है तो उसे दुःखान्त होना भी नहीं चाहिए। इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य में दुःखान्त रचना का अभाव है। महाराज श्री की मृत्यु जिन परिस्थितियों में हुई थी, वह एक करुण कथा का पीड़ा भरा अन्त होता, पर इस गाथा की समाप्ति लंका के रणांगण में होती है। रावण-वध के पश्चात् अपने पुत्र के विजयोत्सव का दर्शन करने के लिए वे युद्ध-क्षेत्र में आते हैं। उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं। उनकी ग्लानि का परिमार्जन भी इसी उपाय से हो सकता था। राम का वनगमन अन्त में लोक कल्याण का हेतु सिद्ध हुआ। यदि वे वन में न आते तो इस लोक के कण्टक रावण से संसार को मुक्ति कैसे प्राप्त होती। मर्त्यलोक से लेकर स्वर्ग तक उनकी जय ध्वनि सुनकर महाराज का हृदय गद्‌गद हो जाता है। प्रभु भी अपने अनुज के साथ उठकर खड़े हो जाते हैं और उनके चरणों में नत होते हैं। इस विजय का सारा श्रेय पिता श्री के पुण्य को प्रदान करते हैं:

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए।
तनय बिलोकि नयन जल छाए॥

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा।
आसिरबाद पिता तब दीन्हा॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ।
जीत्यो अजय निसाचर रोऊ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी।
नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥

महाराज श्री के जीवन का यह सर्वोच्च क्षण था। मनु से लेकर दशरथ तक की उनकी जीवन-यात्रा अन्त में अपने लक्ष्य की उपलब्धि में समाप्त होती है।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

श्री जनक

विश्व के इतिहास में अगणित राजकुलों का वर्णन किया गया है, परन्तु मिथिला का राजकुल इसमें सर्वथा अप्रतिम था। इस परिवार की सर्वाधिक विलक्षणता थी, सारी वंश परम्परा का एक ही नामकरण। मिथिला का प्रत्येक राजा 'जनक' या 'बिदेह' था। दूसरी विशेषता जिसने इस कुल को अन्य राजकुलों से सर्वथा भिन्न रूप दे दिया वह थी शौर्य या वीरता के स्थान पर ज्ञान की प्रधानता। ज्ञान की गरिमा से मण्डित यह राजकुल त्यागियों और तपस्वियों के लिए भी श्लाघा का विषय था। इनकी ख्याति का आधार था 'ज्ञान योग'। अनेक मुनि ज्ञान और कर्मयोग का रहस्य हृदयंगम करने के लिए विदेहों के पास आया करते थे। पौराणिक गाथाओं में इस तरह के अनेक उपाख्यान उपलब्ध हैं। वस्तुतः भारतीय परम्परा में निवृत्ति और प्रवृत्तिपरक जीवन-दर्शन के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। ब्राह्मण मुनियों के द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन मुख्यतः त्याग प्रधान है, तपस्या, तितिक्षा को उसमें सर्वाधिक महत्त्व दिया गया था। भौतिक भोगों से उठकर शाश्वत सत्य और आनन्द की खोज उसका मुख्य लक्ष्य था। किन्तु इस दर्शन का एक परिणाम वर्तमान जीवन की उपेक्षा के रूप में भी सामने आता है। निष्काम कर्मयोग के माध्यम से इसे सन्तुलित करने की एक नई दृष्टि प्राप्त हुई। इसके मुख्य प्रणेता क्षत्रिय जाति के महापुरुष थे। यह राजर्षियों की परम्परा थी। भगवान श्री कृष्ण इस परम्परा का वर्णन करते हुए गीता में इसका स्पष्टीकरण इन पंक्तियों से करते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

× × ×

एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

समस्त कर्मों को करते हुए भी व्यक्ति कर्मफल से कैसे ऊपर उठ सकता है, इस तत्त्व या जीवन-दर्शन की व्याख्या राजर्षियों के द्वारा हो, यह स्वाभाविक था। राजाओं पर ही सामाजिक सुरक्षा का भार था। कर्म से पलायन समाज को निष्क्रिय बनाकर तसमाच्छन्न न बना दे इसके लिए यह आवश्यक था कि कर्म के प्रति हीन भावना न हो। यदि कर्म करता हुआ व्यक्ति सर्वदा ग्लानि से भरा हुआ यही सोचता रहे कि वह कोई अपराध या हीन कार्य कर रहा है तो उसका जीवन ही दूभर हो जाएगा। यदि कर्म के पीछे केवल भोगासक्ति को प्रेरक रूप में स्वीकार किया जाय तो इस प्रकार की हीन भावना का उदय स्वभावतः ही होगा। कर्म के पीछे भी सुव्यवस्थित दर्शन हो सकता है। इसकी स्थापना राजर्षियों ने अपने चरित्र के

माध्यम से की। इस परम्परा के पुरोधा 'जनक' हैं। जिन लोगों ने कर्म के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की उनमें सर्वप्रथम इसी नाम की गणना की जाती है :

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोक संग्रह मेवापि संपश्यन्कर्तुं महंसि ॥

इस जनक परम्परा में मानस प्रतिपादित महाराज सबसे आगे हैं। जनक जहां केवल ज्ञानयोग और कर्मयोग के आचार्य थे वहां हमारे चरित्र नायक में भक्तियोग की समग्रता स्वर्ण और सुगन्ध के एकत्रीकरण की उक्ति को सार्थक सिद्ध करती है। श्री राम के दर्शन के पहले उनकी ख्याति या तो एक महान् ज्ञानी के रूप में थी या वे बहिरंग दृष्टि से एक योग्य राजा थे, जिनके पास भोगों का बाहुल्य था। किन्तु उनमें योग एवं भोग के अन्तराल में भक्ति की रसवन्ती धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका ज्ञान तो तभी हुआ जब उन्होंने प्रभु रामभद्र का साक्षात्कार किया। मानस में उनकी वन्दना इन्हीं शब्दों में की गई हैं :

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू।
जाहि राम पद गूढ़ सनेहू ॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई।
राम बिलोकन प्रगटेउ सोई ॥

वस्तुतः मानस का समग्र दर्शन जिन पात्रों में साकार होता है, उनमें महाराजा जनक अन्यतम हैं। मानस की मान्यता यह है कि भक्ति और भगवत्प्रेम के अभाव में ज्ञान और कर्म दोनों अपूर्ण हैं :

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू।
कर्णधार बिनु जिमि जलयानू ॥
सो सुख धरम करम जरि जाऊ।
जहाँ न राम पद पंकज भाऊ ॥
जोग कुजोग ग्यान अग्यानू।
जहाँ न राम प्रेम परधानू ॥

मानस की मान्यता केवल आग्रह या हठ पर ही आधारित नहीं है। वह समझ में आ सकने वाला बुद्धिसंगत तथ्य है। एक समग्र व्यक्ति का स्वरूप क्या है? वेदान्त के मिथ्यात्व का आग्रह यदि व्यक्ति की आसक्ति को कम करता है तो वह आवश्यक और श्लाघनीय है। क्योंकि आसक्ति की अधिकता से व्यक्ति स्वयं अपने लिए तो दुःख की सृष्टि करता ही है दूसरों के लिए समस्या बन जाता है। सृष्टि को सर्वथा सत्य मानकर व्यक्ति जब उसके संग्रह में जुट जाता है, तब वह दूसरों का भाग हड़प जाने या उसपर येन-केन-प्रकारेण अधिकार करने का प्रयास करता है। इससे समाज में स्वार्थ का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। स्वयं इनपर अधिकार चाहने वाला व्यक्ति भी सुखी नहीं रह पाता। वह चाहकर भी इनपर शाश्वत अधिकार नहीं बनाए रख सकता। फिर भी इन वस्तुओं की उपलब्धि के पश्चात्

वह जिस प्रकार के सुख-सन्तोष की कल्पना करता है, वह सार्थक सिद्ध नहीं होती। अतः मिथ्यात्व का ज्ञान इस आसक्ति को कम करे ऐसा स्वाभाविक प्रतीत होता है। पर इस मिथ्यात्व के आग्रह से पलायन की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो सकती है। इस तमोमयी प्रवृत्ति से प्रेरित अनेक व्यक्ति जीवन से भागकर भी स्वयं को दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ मानने का अहंकार पाल लेते हैं। अपनी सबसे बड़ी कायरता को ही वे अपनी सबसे बड़ी वीरता का प्रमाण मानने की भूल कर बैठते हैं। महाभारत के युद्ध में अर्जुन इसी प्रकार की प्रवृत्ति से परिचालित होने जा रहा था। वह अपनी भावनाजन्य दुर्बलता को दया के रूप देखता है और स्वयं को स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति मानकर यह कल्पना कर बैठता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में वह कितना श्रेष्ठ है। अपने प्रतिपक्षियों को 'लोभो पहत चेतसा' कहकर उनकी निन्दा करता है। पर श्री कृष्ण उसकी भावनाओं को कायरता से प्रेरित कहकर उसे युद्ध की प्रेरणा देते हैं :

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

वे स्पष्ट कर देते हैं कि उसे कर्म का पालन करना चाहिए। कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए वे अर्जुन को निष्काम कर्म का उपदेश देते हैं "व्यक्ति को केवल कर्म करने का अधिकार है। फल पर उसका कोई अधिकार नहीं है। अरः फलाकांक्षा से प्रेरित होकर कर्म न करो।" निष्काम कर्म-योगी का उपदेश वे अनेक रूपों में करते हैं :

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

किन्तु प्रश्न तो यह हैं कि निष्काम कर्मयोग के पीछे कौन-सी प्रेरणा होगी? क्या केवल बौद्धिक प्रेरणा ही इसके लिए यथेष्ट है? बुद्धिसंगत होते हुए भी केवल निष्काम भाव से कर्म, जड़ यांत्रिक प्रक्रिया में तो संभव है किन्तु केवल कर्तव्य बुद्धि मनुष्य के हृदय को रसप्लावित नहीं कर सकती। कर्म करते हुए व्यक्ति को जिस उत्साह और आनन्द की अनुभूति होती है, वह फल प्राप्ति की आशा से ही सम्भव है। यदि उसका निषेध कर दिया जाय तो या तो कर्म करने का उत्साह ही समाप्त हो जाएगा या कर्म को भार की तरह ढोना होगा। इसका निराकरण समर्पण योग के माध्यम से ही सम्भव है। कर्म जब प्रभु के प्रति समर्पण की भावना से किए जाते हैं तब उसमें अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है। भोजन को सुस्वादु बनाने की प्रेरणा व्यक्ति को तभी होती है जब या तो वह स्वयं स्वाद लोलुप हो या अपने प्रिय व्यक्ति को खिलाने की इच्छा हो। भोजद को जब केवल एक बाध्यता समझकर बनाया जाय तब वह बन भले ही जाय पर उसमें स्वाद और रसानुभूति की सम्भावना नहीं के बराबर होगी। इसीलिए निष्काम कर्मयोग के बाद भगवान कृष्ण अर्जुन को कर्मार्पण का उपदेश और आदेश देते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इस तरह ज्ञानयोग और कर्मयोग की समग्रता के लिए भक्तियोग अनिवार्य है। मानस में महाराज श्री जनक का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें तीनों योगों का रंग विद्यमान है। वे मानस में एक स्नेही पिता के रूप में सामने आते हैं। यद्यपि सीता उनकी देहजात पुत्री नहीं है पर भावात्मक रूप से उनसे जो नाता वे स्वीकार करते हैं वह शारीरिक नाते से कहीं बढ़कर है। शरीरजन्य पुत्री निष्कामता की पूर्ण प्रतीक नहीं हो सकती। अतः महाराज जनक उन्हें हल चलाते हुए पृथ्वी की गोद से प्राप्त करते हैं। यह हल संचालन भी निष्काम कर्मयोग का प्रतीक था। किसान हल चलाने के साथ-साथ खेत में जो बीज बोता है वही बीज उसे कई गुना होकर प्राप्त होता है। कृषि का यह स्वरूप सकाम कर्म का प्रतीक है। सकाम कर्म में दोनों ही सम्भावनाएं विद्यमान रहती हैं। कृषि कार्य का समग्रता से निर्वाह फल की सृष्टि करता है। किन्तु रंचमात्र प्रमाद किसान के सारे श्रम पर पानी फेर सकता है। महाराज श्री जनक हल चलाते हुए भी बीज नहीं बोते। वे फलाकांक्षा से रहित हैं। उन्हें सीता की उपलब्धि भक्ति की प्राप्ति की प्रतीक है। इसे यों कह सकते हैं कि निष्काम कर्मयोग की परिणति अन्त में भक्तियोग की उपलब्धि है। श्री रामचन्द्र ने लक्ष्मण के समक्ष इसी क्रम परम्परा का उपदेश भी दिया है :

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज धरम निरत श्रुति नीती॥
तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम चरन उपज अनुरागा॥

महाराज श्री जनक का जो चित्र मानस में उरेहा गया है उसमें भक्ति का रंग ही सबसे ऊपर दिखाई देता है। मानों सीता की उपलब्धि से पहले भले ही वे ज्ञानयोगी अथवा निष्काम कर्मयोगी के रूप में प्रसिद्ध रहे हों पर विदेहजा के आगमन के पश्चात् वे एक सरल हृदय भक्त के रूप में ही सामने आते हैं। गोस्वामीजी की पंक्तियों में भी इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है :

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू।
जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई।
राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि स्नेह तो उसके मन में प्रारम्भ से ही विद्यमान था, किन्तु एक मूल्यवान रत्न की भांति उसे उन्होंने अपने चरित्र की मंजूषा में छिपा रखा था। इस स्वर्ण मंजूषा के दो भाग ही योग और भोग के रूप में लोगों को दिखाई दे रहे थे। योग इस मंजूषा का आधार भाग था। भोग ऊपर स्थित भाग के रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा था। किन्तु श्री राम को देखते ही प्रेम

का यह दिव्य रत्न प्रकट हो गया। यह अमूल्य स्नेह रत्न पाकर प्रभु को भी अपार प्रसन्नता होती है।

महाराज श्री जनक अपनी परिवर्तित मनःस्थिति को महर्षि विश्वामित्र के समक्ष निस्संकोच भाव से रख देते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि उनकी निष्ठा का केन्द्र निर्गुण निराकार ब्रह्म ही था। रूप के मिथ्यात्व का ज्ञान उनके लिए केवल बौद्धिक तर्क का विषय न होकर अनुभूति का विषय था। किन्तु श्री राम के सौन्दर्य ने उनके सहज विरागी मन को अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर लिया है कि वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई पार्थिव आकर्षण उन्हें अपनी निष्ठा से च्युत बना सकता है। इसीलिए वे महर्षि के समक्ष अपनी जिज्ञासा रख देते हैं कि यह दोनों राजकुमार वस्तुतः कौन हैं? और वे उस सम्भावना का भी संकेत देते हैं जो उनके अन्तःकरण में श्री राम को देखकर कौंध उठी थी। क्या उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म ही तो दो राजकुमारों का वेश बनाकर नहीं आ गया है :

मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥

इसके पश्चात् तो वे एक सहृदय पिता के समान वात्सल्य भावना से भर उठते हैं। उनका चमत्कारिक ज्ञान वात्सल्य की रसवन्ती में पूरी तरह डूब जाता है। वे महर्षि के साथ दोनों राजकुमारों को ले जाकर महल में ठहरते हैं। इसके पश्चात् तो महाराज श्री जनक में वे सभी वृत्तियां दिखाई देती हैं जो किसी साधारण गृहस्थ के जीवन में देखी जा सकती हैं। फिर वे एक द्वन्द्वातीत महापुरुष के रूप में सामने नहीं आते। वे महर्षि के मुख से धनुषयज्ञ के मण्डप की सराहना सुनकर मुदित हो उठते हैं। किन्तु धनुष न टूट पाने पर वे जिस निराशा की मनःस्थिति में पहुंच जाते हैं वह किसी साधारण व्यक्ति से भिन्न न थी। वे राजाओं की पौरुषहीनता पर क्षुब्ध थे। उन्हें बार-बार यह पश्चाताप हो रहा था कि उन्होंने धनुर्भंग की प्रतिज्ञा

करके इतनी बड़ी भूल क्यों की। उन्हें अपनी कन्या के कुमारी रह जाने की भावना विह्वल और व्याकुल बना देती है। उनके अन्तःकरण में एक अन्तर्द्वन्द्व भी दृष्टि-गोचर होता है, जिससे व्याकुल होकर वे सोचते हैं कि क्या करें। एक ओर कन्या के विवाह की आकांक्षा अपने प्रबल रूप में विद्यमान थी ही किन्तु प्रतिज्ञा छोड़ देने पर अपने समस्त पुण्य विनष्ट हो जाने का भय भी उन्हें व्यथित बना रहा था। इसी निराशा की मनःस्थिति में वे राजाओं से अपने घर लौट जाने का अनुरोध करते हैं :

भलि रचना नृप सन मुनि कहेऊ।
राजा मुदित महा सुख लहेऊ॥
× × ×
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने।
बोले बचन रोष जनु साने॥
दीप दीप के भूपति नाना।
आए सुनि हम जो पन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा।
बिपुल बीर आए रनधीरा॥
कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥
कहहु काहि यहु लाभु न भावा।
काहु न संकर चाप चढ़ावा॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई।
तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

इस तरह एक असाधारण पात्र के सरलीकरण की प्रक्रिया सामने आ जाती है और बाद में तो वे लक्ष्मण के द्वारा की जाने वाली आलोचना से संकुचित भी दिखाई देते हैं। और इसकी पराकाष्ठा तब हो जाती है जब वे परशुराम के समक्ष भय से कांप उठते हैं :

सकल लोक सब भूप डराने।
सिय हिय हरष जनक सकुचाने॥
× × ×
अति डर उतर देत नृप नाहीं।
कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥

इन प्रसंगों को पढ़कर जनक की महानता का कोई चित्र मन में नहीं उभरता है। यह प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक ही है कि महाराज श्री जनक जैसे तत्त्वज्ञ का ऐसा चरित्र उपस्थित करने में कवि का तात्पर्य क्या है ? इसे गोस्वामी जी ने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा की है :

उर उमगेउ अम्बुधि अनुरागू।
भयउ भूप मन मनहुँ प्रयागू॥
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा।
तापर राम प्रेम सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु।
बूढ़त लहेउ बाल अवलम्बनु॥

उपर्युक्त कथा में उस इतिहास का स्मरण किया गया है जब चिरजीवी मार्कण्डेय मुनि ने भगवान् नारायण के समक्ष प्रलय देखने की आकांक्षा प्रकट की और इस प्रार्थना के कुछ क्षणों के पश्चात् ही वे स्वयं को प्रलय के जल से घिरा हुआ पाते हैं। उस अथाह जलराशि में जब वे रक्षा के लिए चारों ओर दृष्टि डालते हैं तब उन्हें जल के अन्तराल में एक बट का वृक्ष दृष्टिगोचर होता है। और उसी बट के एक पत्ते पर श्यामवर्ण का एक नन्हा शिशु दिखाई देता है। इसी श्याम शिशु ब्रह्म ने उन्हें डूबने से बचा लिया। इस रूपक की जितनी भी सराहना की जाय, थोड़ी है। महर्षि मार्कण्डेय अल्पायु थे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने मृत्यु-भय से मुक्त होने के लिए मृत्युञ्ज्य शिव की आराधना की और आशुतोष की प्रसन्नता से वे मृत्यु के विजेता बन गये। महाराज श्री जनक के ज्ञान की तुलना मार्कण्डेय से करते हुए गोस्वामी जी शाश्वत आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करते हैं। मृत्यु की आशंका सभी व्यक्तियों को आतंकग्रस्त बनाये हुए है। ज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति को अभय बना देना है। अज्ञान की स्थिति में स्वयं को शरीर मानकर अल्पायु के रूप में समझने वाला साधक जब ज्ञान का आश्रय लेता है तब स्वयं को अखण्ड आत्मा के रूप में देखता हुआ मृत्युभय से मुक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञ जनक आत्मसाक्षात्कार के कारण ही मानवीय संवेगों से मुक्त थे। किन्तु व्यक्ति में कभी-कभी विचित्र प्रकार की आकांक्षा का जन्म होता है। स्वयं की मृत्यु से भयभीत मार्कण्डेय के मन में प्रलय-दर्शन की आकांक्षा का जन्म होता है। प्रलय सारी सृष्टि का विनाश है। मार्कण्डेय उसी प्रलय को देखने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। किन्तु वे प्रलय देखना-भर चाहते हैं, प्रलय में विनष्ट होना उन्हें अभीष्ट न था। मृत्युहीन मृत्यु का यह साक्षा-

त्कार सर्वथा अनोखा था। इसमें व्यक्ति की असीम जिज्ञासा को सन्तोष प्राप्त होता है। व्यक्ति स्वभावतः कठिनाइयों से बचना चाहता है। किन्तु स्वतः ही कभी-कभी कठिनाइयों का वरण करता है और उस स्व-स्वीकृत कठिनाई पर विजय प्राप्त कर वह आत्म-गौरव का अनुभव करता है। व्यक्ति ज्ञान के द्वारा उन साधारण मानवीय संवेगों से स्वयं को मुक्त बना लेता है जो अधिकांश व्यक्तियों को व्यथित बनाती है। पर एक वार जब कोई उन्हीं संवेगों का अनुभव द्रष्टा के रूप में करना चाहे तब एक भिन्न रस की उत्पत्ति होती है। रस की दृष्टि से केवल मधुरता ही रस नहीं है। इसलिए भोजन में षटरसों का विधान किया गया है। कड़वे और कसैले पदार्थ जो साधारणतया व्यक्ति को प्रिय नहीं लगते, सन्तुलित मात्रा में प्रयुक्त किये जाने पर स्वाद-वृद्धि के कारण बन जाते है। महाराज श्री जनक के जीवन में साधारण और मानवीय दिखाई देने वाले संवेग इसी प्रकार अज्ञान अथवा पतन के परिचायक न होकर भक्तिरस की सृष्टि करते हैं। मार्कण्डेय की ही भांति डूबने की स्थिति में पहुंचकर भी उनका चिरजीवी ज्ञान मृत्यु से मुक्त रहता है। बट वृक्ष की तुलना प्रस्तुत रूपक में 'सिय सनेह' से की गई है। श्री सीता मूर्तिमती पराभक्ति हैं। श्री सीता के माध्यम से वे श्री राम से एक भिन्न प्रकार के नाते का अनुभव करते हैं। ज्ञान की दृष्टि से राम साक्षात् ब्रह्म हैं और आत्मरूप में वे ही सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। तत्त्वज्ञ जनक उसी अभिन्नता का साक्षात्कार करने वाले महापुरुष हैं। इस अभिन्नता में भिन्नता या तो अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है या भक्तिरस के अनुभव के लिए अभिन्न में भिन्नता आरोपित कर ली जाती है। "कहियत भिन्न न भिन्न" में इसी तत्त्व की ओर संकेत किया गया है। सीता के सम्बन्ध का आधार लेकर वे उसी ब्रह्म को जामाता के रूप में पा लेते हैं। स्वभावतः इस प्रक्रिया में वे वात्सल्यमय पिता के संवेगों का अनुभव करते हैं। किन्तु प्रेम रस में डूबकर भी उनका ज्ञान समाप्त नहीं हो जाता। बट पत्र में स्थित नन्हे शिशु के रूप में दिखाई देने वाला यह 'राम-प्रेम' उनके ज्ञान की रक्षा कर लेता है। इसी तथ्य को गोस्वामी जी इन पंक्तियों के माध्यम से प्रकट करते हैं :

जासु ग्यानु रबि भवनिसि नासा।
बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
तेहि कि मोह ममता निअराई।
यह सियराम सनेह बड़ाई॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने।
त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम सनेह सरस मन जासू।
साधु सभाँ बड़ सादर तासू॥

इस तरह वे उस अभिनेता की भांति आचरण करते हैं जो रंगमंच पर अपनी भावनात्मक भूमिका का गहराई से निर्वाह करके भी उसके फल से मुक्त रहता है।

लक्ष्मण के प्रति महाराज श्री जनक के मनोभाव कुछ अद्भुत विरोधाभास से भरे हुए हैं। महाराज जनक की ख्याति ऐसे महापुरुष के रूप में थी जिनसे तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए महामुनियों की भीड़ लगी रहती थी। उस महापुरुष को भरी सभा में फटकार देना लक्ष्मण के ही बलबूते की बात थी। भरी सभा में एक किशोर के द्वारा फटकारे जाने पर उनमें संकोच का उदय तो हुआ ही किन्तु अपमानित होने का आक्रोश न आना उनके चरित्र की गम्भीरता को प्रकट करता है :

सकल लोक सब भूप डेराने।
सिय हिय हरष जनक सकुचाने।।

स्वयं अपने प्रसंग में तो नहीं किन्तु परशुराम से वार्तालाप करते हुए लक्ष्मण की व्यंग्यक्तियों को सुनकर वे अवश्य भयभीत हो जाते हैं। जनक जैसी क्षमाशीलता परशुराम में नहीं है, इसे सभी जानते थे। इसलिए महाराज को यही भय लगा कि क्रोधी परशुराम का परशु कहीं उठ न जाए। किन्तु लक्ष्मण को स्वयं रोकने का साहस वे एकत्र नहीं कर पाते हैं। फिर भी वे यह कहे बिना नहीं रह पाये कि इस बालक को रोकना चाहिए। यह रामभद्र से सार्वजनिक रूप में किया जाने वाला सांकेतिक अनुरोध था :

बोलत लखनहिं जनकु डेराहीं।
मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।।

किन्तु परशुराम की पराजय के पश्चात् वे इस तेजस्वी किशोर के परम प्रशंसक वन बैठे। धनुषयज्ञ के सारे सन्दर्भ में लक्ष्मण की भूमिका अप्रतिम थी। महाराज श्री ने परशुराम के चले जाने के बाद अपनी विनम्र कृतज्ञता इन शब्दों में प्रकट की है :

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दोउ भाई।
अब जो उचित सो करिअ गोसाईं।।

तत्त्वज्ञ स्वयं को कृतकृत्य ही मानता है किन्तु महाराज जनक को ऐसा लगा कि आत्म साक्षात्कार से जिस कृतकृत्यता का उदय हुआ था वह अपूर्ण थी। अब वे स्वयं समग्र कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं और इसके लिए वे प्रभु की तुलना में लक्ष्मण के प्रति अधिक कृतज्ञ थे। इस कृतज्ञता की अभिव्यक्ति केवल शब्दों में ही नहीं होती। अपनी पुत्री उर्मिला को लक्ष्मण को अर्पित करते हुए वे अपनी कृतज्ञता को साकार रूप प्रदान करते हैं।

महाराज जनक का अन्तिम चित्र चित्रकूट में सामने आता है। कर्तव्य, धर्म और प्रीति की समस्याओं का समाधान पाने के लिए सभी की दृष्टि उनकी ओर जाती है। गुरु वशिष्ठ का यह विश्वास इन शब्दों में अभिव्यक्त होता है।

ग्यान निधान सुजान सुचि धीर धरम नरपाल।
तुम बिनु असमंजस समन को समर्थ एहि काल।।

चित्रकूट में होने वाली इस सभा में महाराज श्री जनक की भूमिका एक शुष्क विचारक की भांति न थी। वे प्रेम मूर्ति भरत के परम प्रशंसक के रूप में सामने आते हैं। श्री भरत का स्मरण करते ही वे भाव विह्वल हो जाते हैं। एकान्त क्षणों में वे जिन शब्दों में भरत की प्रशंसा करते हैं वह भरत और स्वयं उनकी महानता का भी परिचायक है। विश्ववन्द्य होते हुए भी वे जिन शब्दों में श्री भरत के गुणों का गायन करते हैं वह उनके मात्सर्यहीन अन्तःकरण का सबसे बड़ा प्रमाण है :

मूंदे सजल नयन पुलके तन।
सुजसु सराहन लगे मुदित मन ॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।
भरत कथा भव बंध बिमोचनि ॥
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू।
इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोरि भरत महिमाही।
कहै काह छल छुअति न छाँही ॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद।
कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद ॥
भरत चरित कीरति करतूती।
धरम सील गुन बिमल बिभूती ॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू।
सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू ॥
निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबि कुल मति सकुचानि ॥

इस तरह रामचरितमानस के जनक औपनिषदिक परम्परा के स्थान पर प्रेम के प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री कौशल्या जी

फल के द्वारा वृक्ष की पहिचान का सिद्धान्त वनस्पति जगत् में ही प्रामाणिक माना जा सकता है। मानव समाज में इसके विरुद्ध इतने दृष्टान्त सामने आते हैं कि 'फलेन परिचीयते' का सिद्धान्त ही झूठा जान पड़ता है। कहीं सुयोग्य माताओं के गर्भ से भी अयोग्य पुत्रों का जन्म होता दिखाई देता है तो कहीं कुमाता सत्पुत्र की जननी बन जाती है। पर ऐसे भी दृष्टान्त सामने आते हैं जहां माता और पुत्र दोनों एक-दूसरे के प्रतिरूप जान पड़ते हैं। ऐसे अवसरों पर 'फलेन परिचीयते' की पंक्ति सर्वथा सार्थक सिद्ध हो जाती है। मानस में दोनों ही प्रकार के दृष्टान्त उपलब्ध हैं। बहुधा प्रेममूर्ति भरत को देखकर लोगों के मुख से आलोचना का एक ही वाक्य निकलता था। "कैकइ जठर जोग सुत नाहीं" भरत में सद्गुण ही सद्गुण हैं किन्तु यही कहा जा सकता है कि कैकेयी के गर्भ से ऐसे पुत्र का जन्म नहीं होना चाहिए था। भरत स्वयं भी इस विधि की विडम्बना को देखकर व्यथित हो उठे थे। वे स्वयं को सद्गुणसम्पन्न नहीं मानते पर उनकी दृष्टि जब स्वयं से सम्बन्धित व्यक्तियों की ओर जाती है तब वे एक क्षण के लिए स्वयं को परम सौभाग्यशाली मानते हैं। पर जब उसकी दृष्टि मां की ओर जाती है तब लम्बी सांस लेते हुए कह उठते हैं :

हंस बंस दसरथ जनक राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥

दूसरी ओर कौशल्या अम्बा को देखकर उनके लिए एक वाक्य बरबस निकल पड़ता है। "राम मातु अस काहे न होई" कौशल्या सद्गुणों की पुंज है। उनकी विशेषताओं को दृष्टिगत रखकर अनेकों उपाधियां दी जा सकती हैं पर उनमें कोई भी उपाधि "राम मातु" से बढ़कर सिद्ध नहीं हो सकती। कौशल्या अम्बा भी स्वयं को "राम मातु" की कसौटी पर ही परखने की चेष्टा करती हैं। यद्यपि विनम्रता और ग्लानि के कारण वे स्वयं को "राम मातु" कहलाने की अधिकारिणी नहीं मानतीं; पर यह तो उनकी अन्तर्वेदना का स्वर है। राम जैसे पुत्र के वियोग में जीवित हूं यह सोचकर वे व्याकुल होकर वेदना-भरे स्वर में कह उठती हैं :

मोहि न लाज निज नेहु निहारी।
राम सरिस सुत मैं महतारी॥

पर सत्य तो यह है कि 'रामभद्र' के वियोग को वे जिस गरिमा से स्वीकार करती हैं उससे उनकी दी जाने वाली 'राम मातु' की उपाधि और भी अधिक सार्थक सिद्ध होती है। उनका व्यक्तित्व और उनकी भावुकता उस उफनाती हुई नदी की भांति नहीं था जो उमड़कर कूल-कगारों को विनष्ट करती हुई भय का

कारण वन जाती है। वे उस प्रशान्त समुद्र की भांति थीं जो किसी भी परिस्थिति में मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। उनकी भावनाओं का ज्वार उमड़कर भी सीमा में ही संयमित रहता है।

मर्यादा की दृष्टि से वे महाराज दशरथ की पट्टमहिषी थीं। इस तरह अयोध्या में उनका सर्वोच्च स्थान था। फिर भी वास्तविकता इससे भिन्न थी। महाराज दशरथ की सौन्दर्यासक्ति के कारण कैकेयी ही उनके हृदय पर शासन कर रही थी। किसी नारी के लिए सम्भवतः इससे बढ़कर दुःख की कोई बात नहीं हो सकती थी। पर कौशल्या अम्बा की वाणी, चेष्टा और व्यवहार में कभी उस दुःख की अभिव्यक्ति हुई हो ऐसा एक भी प्रमाण रामचरितमानस में प्राप्त नहीं होता। सौतिया डाह के विष से भले ही समग्र नारी जाति का हृदय दग्ध हो जाता हो, पर समर्पिता कौशल्या भगवान् भूत भावन शिव की भांति उस गरल को पचा लेती हैं। शंकर के कंठ की नीलिमा से उस गरल पान की स्मृति आ जाना स्वाभाविक ही है किन्तु कौशल्या अम्बा के चरित्र में तो इस विषपान की याद दिलाने वाला चिह्न खोजने पर भी नहीं मिलता।

उनके व्यक्तित्व में भावना और विवेक का जो अद्भुत सामंजस्य दिखाई देता है, उसका परिचय उनके पूर्वजन्म के स्वरूप भी परिलक्षित होता है। महाराज मनु और शतरूपा ही दशरथ और कौशल्या के रूप में जन्म लेते हैं। वस्तुतः वे अपनी पूर्वाकांक्षाओं की पूर्ति के ही लिए इस रूप में अवतरित हुए थे। स्मृति के प्रणेता महाराज मनु दीर्घकाल तक राज्य करने के पश्चात् वन में जाने का निर्णय करते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगा था कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अभी उनसे दूर है। ईश्वर की उपलब्धि के बिना जीवन अधूरा है। किन्तु उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि इस विवेक को क्रियान्वित करने के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता है उसका उदय उनके मन मे नहीं हुआ है। पर वे अब और अधिक समय तक इस वैराग्य के उदय की प्रतीक्षा करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। वे अपने मन को बलात् सत्ता और विषय से अलग कर लेते हैं। और वनपथ की ओर चल पड़ते हैं :

तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला।
प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥
होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपनु।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु॥
बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा॥

पर इस वनपथ में भी वे अकेले नहीं थे। महारानी शतरूपा उनका अनुगमन कर रही थीं। शतरूपा के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे भी इस दिशा में महाराज मनु के साथ जातीं। वे अपने आज्ञाकारी पुत्रों के सन्निकट रहकर सम्मान और सेवा का सुख प्राप्त कर सकती थीं। पर वैभव और भोग के स्थान पर उन्होंने

वन का कण्टकाकीर्ण पथ चुना था। सत्य तो यह है कि अन्तर्मन की दृष्टि से वे महाराज मनु से कहीं आगे थीं। आसक्ति के परित्याग के लिए उन्हें मनु की भांति कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। वे सहज भाव से पति के पीछे चल पड़ी थीं। वे पतिप्राणा थीं फिर भी उनका व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन महाराज मनु से कुछ भिन्न था। इसका परिचय तब मिला, जब आद्याशक्ति के सहित ब्रह्म ने उनके समक्ष प्रकट होकर उनसे वरदान मांगने के लिए कहा। महाराज ईश्वर को पुत्र रूप में पाने की आकांक्षा प्रकट करते हैं, और वह उन्हें मिला भी। इसके पश्चात् प्रभु ने महारानी शतरूपा से उनकी इच्छा के विषय में पूछा। शतरूपा महाराज के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए भी उसमें कुछ बातें और जोड़ देती हैं। भक्ति की रसानुभूति के साथ-साथ वे विवेक की भी याचना करती हैं। महाराज मनु की याचना एक भावुक भक्त के समान थी जो विवेक को दूर से ही नमस्कार कर लेता है। वे भावना के पक्षधर हैं। इसलिए वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे अवतार के पश्चात् प्रभु को केवल पुत्र के रूप में ही देखना चाहते हैं। उन्हें ईश्वरता से कुछ लेना-देना नहीं है। पर शतरूपा का जीवन-दर्शन भिन्न प्रकार का है। वे समन्वय पर विश्वास करती हैं। इसलिए वे भक्ति के साथ-साथ विवेक की भी याचना करती हैं। भगवान् राम इस याचना के पश्चात् जो वाक्य कहते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शतरूपा जी के द्वारा मांगे गए वरदानों में विवेक को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे उन्हें तत्काल मां के रूप में सम्बोधित करते हैं। जबकि महाराज मनु को पिता के रूप में सम्बोधन पाने के लिए बड़ी लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी। दशरथ के रूप में जन्म लेकर ही वे इस सम्बोधन के अधिकारी बन सके :

मातु बिबेक अलौकिक तोरे।
कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥

× × ×

बन्दि चरन मनु कहेउ बहोरी।
और एक बिनती प्रभु मोरी॥
सुत बिषयक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥

मनु और शतरूपा के स्वभाव और संस्कार का यह पार्थक्य दोनों के दशरथ और कौशल्या के रूप में जन्म लेने पर भी ज्यों का त्यों बना रहा। महाराज दशरथ का सारा जीवन भावनाओं के द्वारा संचालित था जिसकी अन्तिम परिणति राम के वियोग में प्राण के परित्याग से होती है। कौशल्या के जीवन में उनकी भावनाएं सर्वदा विवेक के द्वारा नियन्त्रित रहीं। महाराज दशरथ के द्वारा कैकेयी के प्रति पक्षपात को वे जिस सरलता से स्वीकार कर लेती हैं उसके पीछे उनका अनासक्त और विवेकी स्वभाव ही था। इसीलिए महाराज दशरथ के स्नेह की यत्किंचित् न्यूनता उन्हें व्यथित और निराश नहीं बनाती। महाराज दशरथ का समग्र प्रेम पाकर

कैकेयी के अहं की तुष्टि होती है। टकराहट की सम्भावना तभी थी यदि कौशल्या का अहं इससे आहत होता। किन्तु इस अहंकार का उत्तर उन्होंने अपने औदार्य से दिया। और जहां अहंकार औदार्य आमने-सामने होते हैं, दोनों में संघर्ष की भावना नहीं रह जाती। अहंकारी व्यक्ति सम्मान का भूखा होता है। अतः जहां उसे सम्मान पाकर सन्तुष्टि का बोध होता है, वहां उदार व्यक्ति दाता के आसन पर बैठकर परितृप्ति का रस पा लेता है। यदि एक को खाने में आनन्द की अनुभूति हो रही हो और दूसरे को खिलाने में, वहां झगड़े का कारण भी क्या हो सकता है! महा-रानी कैकेयी में सम्मान की प्रबल भूख विद्यमान थी। पति से वह उन्हें प्राप्त ही था। किन्तु पुत्रों के जन्म के पश्चात् वे उनसे भी यही आशा रखती हैं। उन्हें यह देखकर तुष्टि का बोध होता है कि राम अन्य माताओं की तुलना में उन्हें अधिक महत्त्व देते है। कौशल्या अम्बा को इससे आघात लग सकता था किन्तु उनका सहज औदार्य उनके काम आया। वे राम के द्वारा स्वयं को मां कहकर पुकारे जाने पर आपत्ति करती हैं। वे रामभद्र से यही कहती हैं कि तुम्हारी मां तो कैकेयी हैं :

सिथिल सनेह कहे कौसिला सुमित्रा जू सो।
मैं न लखी सौति कहौ सखी! भगिनी ज्यों सेई है॥
कहै मोहि "भैया" मैं हौं भैया भरत की।
बलैया लैहों भैया तेरी मैया कैकेई है॥

इसीलिए अयोध्या के राजकुल में जो सौमनस्य था उसका सारा श्रेय कौशल्या अम्बा को ही जाता है। किन्तु कौशल्या अम्बा को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी और उनमें वे तप्त कंचन की भांति खरी सिद्ध हुईं। उन्होंने रामभद्र को युवराज पद देने का प्रस्ताव अपनी ओर से कभी नहीं किया। फिर भी जब उन्हें यह समाचार ज्ञात हुआ तब उन्हें अपार प्रसन्नता हुई। इसे उन्होंने सूर्यकुल की परम्परा के रूप में ग्रहण किया हो यही सहज प्रतीत होता है। यदि उन्हें यह ज्ञात होता कि इस घटना से कितने बड़े अनर्थ का सूत्रपात होनेवाला है तो वे निश्चित रूप से प्रारम्भ में ही श्री भरत को उत्तराधिकारी बनाने का सहर्ष स्वागत करतीं। पर उन्हें राम और भरत के निकट संबन्ध का ज्ञान था। वे यह भलीभांति जानती थीं कि भरत कभी भी अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं करेंगे। अतः उनको राघवेन्द्र के राज्याभिषेक में प्रत्येक की सहमति दृष्टिगोचर हो रही थी। ऐसी स्थिति में उनके मन में किसी प्रकार की आशंका का उदय नहीं होता। प्रारम्भ से लेकर उनके जीवन में कोई ऐसा क्षण नहीं आता, जब उन्होंने किसी प्रश्न को भेद दृष्टि से देखा हो। उनका विवेक उनके वात्सल्य पर सर्वदा हावी रहा। किशोरावस्था में महर्षि विश्वामित्र की याचना के संदर्भ में भी उनकी विवेकमयी भूमिका ही सामने आती है। महाराज दशरथ महर्षि की मांग को सुनकर व्याकुल हो जाते हैं। उनकी वात्सल्य भावना उमड़ आती है। वे यह कहे बिना नहीं रह पाते हैं कि इस मांग में अनौ-चित्य है। 'कहां कठोर हिंसक राक्षस और कहां मेरे सुकुमार पुत्र'। वह तो गुरु

वशिष्ठ थे जिन्होंने महाराज को इस दान के लिए प्रेरित किया। किन्तु कौशल्या अम्बा से आदेश मिलने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता :

सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्वस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय मोहिं प्रान की नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥
सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी।
हृदय हरष माना मुनि ग्यानी॥
तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा॥
अति आदर दोउ तनय बोलाए।
हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥
सौंपे भूप रिषिहि सुत बहुबिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥

एक क्षण के लिए भी उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह उनके पुत्र के साथ अन्याय हो रहा है। या कैकेयी के पुत्र को साथ जाने का आदेश होना चाहिए। वे तो इसी से सन्तुष्ट थीं कि रामभद्र को मुनियों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, और यहां वात्सल्य-भावना की तृप्ति के लिए भरत और शत्रुघ्न विद्यमान रहेंगे। ऐसी उदात्त हृदय वाली मां यदि राज्याभिषेक को भी सहज भाव से ले रही हो तो इसमें कोई आश्चर्य न था। किन्तु उनका सहज भाव ही कुटिल मंथरा के लिए अपने मत के समर्थन में युक्ति बन बैठा। मन्थरा के वाक्य में यह ध्वनि निकल रही थी कि सर्वदा भरत के प्रति अधिक ममत्व का प्रदर्शन करने वाली कौशल्या को आज क्या हो गया है जो राज्याभिषेक के समाचार से फूली-फूली फिर रही हैं। क्यों नहीं उन्होंने महाराज से यह अनुरोध किया कि राज्य तो भरत को ही प्राप्त होना चाहिए। सत्य तो यह है कि वे बड़ी कूटनीतिज्ञ हैं, वे अपने पुत्र का राज्याभिषेक

कराने का संकल्प लेकर ही योजना-बद्ध रीति से कार्य कर रही थीं। उन्होंने अपने बाह्य व्यवहार से सबका विश्वास जीत लिया। अवसर मिलते ही भरत ननिहाल भेज दिए गए। इस तरह के कुतर्कों से कैकेयी जी भले ही प्रभावित हुई हों पर कौशल्या अम्बा ने बाद में भी अपने प्रत्येक व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि उनका उदात्त हृदय इन क्षुद्र भावनाओं में कितना ऊपर उठा हुआ था। यद्यपि वे राज्याभिषेक की कल्पना से आनन्दविभोर हो उठी थीं किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में उनका धैर्य दर्शनीय है।

सारे षड्यंत्र से अनभिज्ञ वे उस क्षण की प्रतीक्षा में थीं जब प्रजा सहित उनकी आकांक्षा साकार रूप ग्रहण करेगी :

कनक सिंहासन सीय समेता।
बैठहिं राम होहिं चित चेता॥

अत: राम के आगमन पर उनकी वाणी से जो बोल निकलते हैं, उनमें व्यग्रता की पराकाष्ठा थी। यद्यपि उन क्षणों में वे अपने वात्सल्य रस से ओत-प्रोत मातृ-हृदय का परिचय देती हैं। उन्हें यह भय सताता है कि कहीं राज्याभिषेक की प्रक्रिया में इतना विलम्ब न हो जाय कि उनका लाड़ला पुत्र भूखा रह जाय। अत: वे चाहती हैं कि पिता के सन्निकट जाने से पहिले रामभद्र कुछ मधुर फल अवश्य खा लें। पर वात्सल्य की इस वाणी के साथ ही कर्तव्य के स्वर भी मिले हुए हैं। इसलिए वे 'फल खाहू' के पहले 'नहाहू' का आदेश देना नहीं भूलतीं :

सादर सुंदर बदनु निहारी।
बोली मधुर बचन महतारी॥
कहहु तात जननी बलिहारी।
कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥
सुकृत सील सुख सींव सुहाई।
जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥
जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।
जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥

रामभद्र के द्वारा इस वात्सल्य के उत्तर में उन्हें जो समाचार प्राप्त होता है उससे उनके हृदय पर कितना आघात लगा होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोस्वामी जी अनेकों उपमाओं के माध्यम से उस दु:ख की कल्पना को साकार करने का प्रयास करते हैं। "उनको वैसी ही अनुभूति हुई जैसे आनन्द और उच्छ्वास से भरे हुए किसी व्यक्ति के सुकुमार हृदय में कहीं से आकर एक विषैला बाण प्रविष्ट हो जाए और असह्य कसक की सृष्टि कर रहा हो। अथवा उत्साह से कुलांचे भरती हुई किसी मृगी को अचानक सिंह का भीषण नाद सुनाई पड़

जाए। किंवा, जलाश्रिता मछली को वर्षा के जल से ही उत्पन्न होने वाले विषैले माजा का प्रभाव मृत्यु की दिशा में धकेल रहा हो। वर्षा के पहले जवास जैसी हरियाली ही उनके अंग-अंग से छलक रही थी। किन्तु इन क्षणों में उनकी वही दशा थी जो वर्षा का जल पड़ते ही झुलस कर जवास की हो जाती है। परन्तु उस असह्य पीड़ा के क्षणों में भी उनका चिरसंगी धैर्य उनका साथ नहीं छोड़ता है :

बचन बिनीत मधुर रघुबर के।
सर सम लगे मातु उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी।
जिमि जवास परे पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।
मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी।
माजहि खाइ मीन जनु मापी॥
धरि धीरजु सुत बदनु निहारी।
गदगद बचन कहति महतारी॥

रामभद्र के साथ आए हुए मंत्रीपुत्र से उन्हें सारा समाचार ज्ञात हो जाता है। वह मां के लिए कठिन परीक्षा का क्षण था। राम जैसे पुत्र को (जो शत्रुओं का भी स्नेह जीतने में समर्थ रहा हो) वन भेजने की कल्पना भी असह्य थी। और वह वनगमन सर्वथा औचित्य शून्य भी था। राज्याभिषेक की सार्वजनिक घोषणा के पश्चात् महाराज श्री सत्य के बन्धन में पूरी तरह बंधे हुए थे। उन्हें कोई अधिकार नहीं था कि वे अपने व्यक्तिगत वचनों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक रूप से स्वीकृत इस सत्य को नकार देते। न केवल स्नेह की दृष्टि से अपितु न्याय का बल भी उन्हें प्राप्त था। यदि वे ऐसे अवसर पर राघवेन्द्र को पिता के आदेश के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा प्रदान करतीं तो मानवीय दृष्टि से इसमें कोई अनौचित्य न होता। किन्तु तब वे मां कौशल्या न होकर महारानी कौशल्या ही होतीं। समर्पिता मां ने अपने क्षणिक अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त कर ली और तब उनके मुख से जो वचन निकले वह उन्हींके द्वारा सम्भव थे। वे राम के अधिकार त्याग की भावना को अपना समर्थन प्रदान करती हुई कह उठती हैं :

निरखि राम रुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥
राखि न सकइ न कहि सक जाहू।
दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू।
बिधि गति बाम सदा सब काहू॥

धरम सनेह उभयँ मति घेरी।
भइ गति साँप छुछुंदरि केरी॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू।
धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी।
संकट सोच बिबस भइ रानी॥
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी।
राम भरतु दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी।
बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका।
पितु आयसु सब धरमक टीका॥
राजु देन कहि दीन्ह बन मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिन भरतहि भूपतहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

धैर्य का यह स्वर 'राम मातु' के लिए ही सम्भव था। इसके पश्चात् धैर्य ही उनका महामंत्र बन गया। धैर्यमयी कौशल्या अम्बा दूसरों को भी इसी मंत्र का उपदेश देती हैं। उन्होंने अपनी आंखों के समक्ष लाड़ले पुत्र का वेष-परिवर्तन देखा। वह क्षण क्या वे कभी भुला सकती थीं जब रामभद्र ने राजसिक वस्त्राभूषण उतारकर वल्कल वस्त्र से स्वयं को आवेष्टित कर लिया। मुकुट का स्थान जटा-जूट ने ले लिया। पर उनकी दृष्टि तो राघव के मुख की ओर लगी हुई थी जिस पर हर्ष-विषाद की कोई छाया तक न थी :

'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।'

कह सकते हैं विषाद का भाव न था यह तो महानता की बात है पर हर्ष का अभाव क्यों ? वस्तुतः यह भी रामभद्र के कोमल हृदय का परिचायक था। उन्हें राज्य पद की मुक्ति में अपार सुख का अनुभव हुआ था। कैकेयी अम्बा द्वारा मांगे गए वरदान की बात सुनते ही वे आनन्द में भर उठे थे :

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू।
राम सहज आनन्द निधानू॥

कैकेयी के समक्ष इस आनन्द की अभिव्यक्ति उनके स्वरूप के अनुरूप है। किन्तु जिस समय वे वस्त्र और आभूषणों का परित्याग कर रहे थे तब अयोध्या के अगणित नर-नारी उस दृश्य को देखकर विकलित हो रहे थे। उस समय आनन्द

की या हर्ष की अभिव्यक्ति नागरिकों की भावना का तिरस्कार होती। ऐसा निर्मम आनन्द राघव के स्वभाव के अनुरूप न था। विषाद रहित राघवेन्द्र जहां अपने स्वरूप में अवस्थित थे, वहां हर्ष का अभाव उनके स्वभाव का परिचायक था। इस दृश्य को यदि समग्र धैर्य से कोई देख पाया था तो वे राम मातु ही थीं। इस वेष की मर्मान्तक पीड़ा ने आगे चलकर महाराज श्री दशरथ के प्राण ले लिए। किन्तु कौशल्या अम्बा ने उन्हें एक क्षण के लिए भी उपालम्भ की पीड़ा से व्यथित नहीं होने दिया। वनगमन के तत्काल बाद महाराज कैकेयी का महल छोड़कर कौशल्या के भवन में आ गए थे। कौशल्या के स्थान पर कोई अन्य होता तो सम्भवतः यही कहता कि सारे अनर्थ करने के बाद आप यहां क्या करने आए हैं। व्यंग्य बाणों से बींधना तो दूर उनकी दशा देखकर वे व्यथा से भर उठती हैं और उन्हें भी धैर्य का पाठ पढ़ाते हुए कहती हैं, "महाराज ! सारी प्रजा विरह अवधि की चतुर्दश वर्षीय नौका पर आरूढ़ है। इसके कर्णधार भी एक मात्र आप ही हैं। यदि आपने धैर्य धारण किया तो सारा समाज विरह-समुद्र को पार कर लेगा, किन्तु यदि आप ही अधीर हुए तो सबका डूबना सुनिश्चित है। चौदह वर्ष के पश्चात् पुनः राम, सीता और लक्ष्मण का आगमन होगा :"

उर धरि धीर राम महतारी।
बोली बचन समय अनुसारी॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू।
राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम अवध जहाजू।
चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू।
नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥
जौं जिय धरिअ बिनय पिय मोरी।
रामु लखन सिय मिलहिं बहोरी॥

महाराज श्री धैर्य धारण करने में असमर्थ रहे। वे स्वयं को सारे अनर्थों का हेतु मानकर प्राण का परित्याग कर देते हैं। इसके पश्चात् ननिहाल से श्री भरत का आगमन होता है और पुनः एक बार कौशल्या अम्बा के विशाल हृदय और व्यक्तित्व का साक्षात्कार होता है। महारानी कैकेयी ने कोई प्रमाण न होते हुए भी षड्यन्त्र की धारणा बना ली थी किन्तु अयोध्या के बहुसंख्यक नागरिकों के अन्तः-करण में श्री भरत के प्रति संशय की भावना विद्यमान थी। ननिहाल से लौट कर जब श्री भरत सर्वप्रथम महारानी कैकेयी के महल में प्रविष्ट होते हैं तब नागरिकों के संशय को और भी अधिक बल प्राप्त होता है। उन्हें लगा कि सम्भवतः अयोध्या में जिस घटनाक्रम की सृष्टि हुई उसके मूल सूत्रधार भरत ही हैं। किन्तु इसके प्रतिकूल कौशल्या अम्बा का भरत के प्रति विश्वास अक्षुण्ण था। श्री भरत के प्रति

उनके वात्सल्य का स्रोत रामभद्र की तुलना में भी अधिक निकला। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी लौटे हुए अपने लाल को देखकर उनका वात्सल्य दुग्ध के रूप में हृदय से स्रवित होने लगा। कृशकाया कौशल्या भरत को देखते ही उन्हें हृदय से लगाने के लिए दौड़ पड़ती हैं किन्तु शरीर की दुर्बलता के कारण मूच्छित होकर गिर पड़ती हैं। इस कृश और निर्बल शरीर में कितना सबल विश्वास विद्यमान था, इसका परिचय उनके चैतन्य होने के बाद प्राप्त होता है।

श्री भरत शपथों के माध्यम से मां को आश्वस्त करने का प्रयास करते हैं कि इस घटनाक्रम में उनका कहीं कोई हाथ नहीं है। सत्य तो यह है कि मां को आश्वस्त करने के लिए शपथ की कोई आवश्यकता न थी। यह शपथ तो वे स्वयं को संतोष देने के लिए ही उठाते हैं। उन्होंने संशयग्रस्त नागरिकों की बींधती हुई दृष्टि का अनुभव किया। "जिस प्रकार की अनर्थमयी घटनाएं हुई हैं उसमें उनका हाथ नहीं है" भरत को लगता है कि इस प्रकार का विश्वास करपाना किसीके लिए सम्भव न होगा। फिर जिस वात्सल्यमयी मां को प्राणप्रिय पुत्र का विछोह सहना पड़ा हो तथा पतिविहीना होने का दुर्भाग्य भोगना पड़ा हो उनका विश्वास मेरे ऊपर कैसे हो सकता है? किन्तु भरत जैसा सन्त भी जिस अगाध हृदय की गहराइयों को पूरी तरह नहीं नाप सका वह महिमामयी मां कौशल्या अम्बा ही हैं। श्री भरत के प्रति उनकी धारणा इन वाक्यों में अभिव्यक्त होती है:

मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति राम प्रिय तात तुम सदा बचन मन कायँ॥
राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥

भले ही महारानी कैकेयी ने उनके पुत्र को अयोध्या से दूर वन में भेजने का प्रयास किया हो, किन्तु अपनी गरिमा के अनुरूप उन्होंने अयोध्या की राज्य सभा में भरत से आग्रह-भरे शब्दों में राज्य स्वीकार करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। प्रस्ताव के समर्थन में दी गई उनकी युक्ति बड़ी ही मार्मिक थी। गुरु के द्वारा रखा गया प्रस्ताव शुद्ध धर्म की धारणा पर आधारित था। वे उन्हें शुद्ध कर्तव्य की प्रेरणा दे रहे थे। मां के समर्थन में उन्हें भरत की भावनाओं का पूरा ध्यान है। यदि श्री भरत गुरुदेव का प्रस्ताव स्वीकार कर लें तो उसकी बहिरंग प्रतीति ऐसी होगी कि जैसे उनकी आकांक्षा को धर्म का समर्थन प्राप्त हो गया है। अनेक लोगों को यह भ्रान्ति हो सकती थी। किन्तु कौशल्या अम्बा गुरु के वचनों को वैद्य द्वारा बताए गए पथ्य के रूप में प्रस्तुत करती हैं। पथ्य में रोगी का आकर्षण न होना

स्वाभाविक ही है। फिर भी स्वास्थ्य के हित में वह उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। मानों भरी सभा में मां यह बताना चाहती थीं कि भरत के मन में राज्य के प्रति कोई रुचि नहीं है। किन्तु समाज की स्वस्थता के हित में उनके द्वारा राज्य की स्वीकृति परमावश्यक है। वे श्री भरत को पहले भी धैर्य धारण करने का उपदेश दे चुकी थीं :

माता भरतु गोद बैठारे।
आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू।
कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहुँ हियँ हानि गलानी।
काल करम गति अघटित जानी॥
काहुहि दोसु देहु जनि ताता।
मा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥

जब सारा समाज कैकेयी की कटुतम शब्दों में भर्त्सना कर रहा था तब भी मां के द्वारा उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया। और आज भी वे अपनी महिमा में स्थित रहकर भरत को सिंहासनासीन होने का आदेश देती हैं :

कौसल्या धरि धीरजु कहई।
पूत पथ्य गुरु आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू।
तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।
तुम्हही सुत सब कह अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई।
धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू।
प्रजा पालि परिजन दुख हरहू॥

इस प्रसंग में रामभद्र और उनके स्वभाव का सहज साम्य देखा जा सकता है। वन में कैकेयी अम्बा से मिलन होने पर उन्हें सांत्वना देने के लिए प्रभु ने काल, कर्म और गुण के माथे पर सारा दोष मढ़ दिया था :

प्रथम राम भेंटी कैकेई।
सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी।
काल कर्म बिधि सिर धरि खोरी॥

उत्तरकाण्ड में दु:ख के जिन चार कारणों का उल्लेख किया गया है उनमें से तीन का उल्लेख करते हुए चौथे कारण को बचा जाते हैं। उत्तरकाण्ड में काल, कर्म, गुण और स्वभाव को दु:ख के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

इन चारों में स्वभाव का स्मरण न करना रामभद्र की संवेदनशीलता का परिचायक है। वस्तुतः अयोध्या में जो अनर्थ हुए थे उनमें सर्वाधिक मुख्य हेतु कैकेयी का स्वभाव ही था। किन्तु उस मुख्य हेतु का स्मरण न करना इस भावना का परिचायक था कि मां एक क्षण के लिए भी स्वयं को दोषी मानकर ग्लानि-युक्त न हों। ठीक यही औदार्य कौशल्या अम्बा की वाणी में परिलक्षित होता है। वे भी काल, कर्म और विधि का स्मरण करती हैं, स्वभाव का नहीं। जहां गुरु वशिष्ठ के भाषण का श्रीगणेश ही कैकेयी की आलोचना से प्रारम्भ हुआ था वहां राम मातु अनजाने में भी कोई ऐसा शब्द नहीं कहना चाहतीं जिससे कैकेयी को रंचमात्र पीड़ा की अनुभूति हो।

चित्रकूट में भी एक बार वार्तालाप में कैकेयी की आलोचना का स्वर मुखर हुआ था। वह अवसर था जब जनक-पत्नी सुनयना अपनी सम्वेदना प्रकट करने के लिए कौशल्या से मिलने आईं। वार्तालाप में महारानी सुनयना और भावमयी सुमित्रा अम्बा के मुख से कुछ ऐसे वाक्य निकले जो कैकेयी के प्रति व्यंग्य जैसे प्रतीत हो रहे थे। यद्यपि वहां प्रत्यक्ष रूप से केवल विधि का नाम लिया जा रहा था पर ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे विधि कैकेयी का प्रतीक बन गया हो। ब्रह्मा सृष्टि का सृजन और पालन करने के पश्चात् उसे विनष्ट करने में संकोच नहीं करता है। ऐसा लगता है कि जैसे यह वाक्य कैकेयी की ओर इंगित करने के लिए ही कहा गया हो। कैकेयी ने भी प्रारम्भ में बड़े ही स्नेह से राघवेन्द्र का लालन-पालन किया और अन्त में निष्ठुरतापूर्वक देश निकाला दे दिया :

सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी।
जो पय फेनु फोर पबि टाँकी॥
सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सुकृत मराल॥
सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा।
बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी।
बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥

किन्तु उस प्रसंग में भी अम्बा कौशल्या अपने धैर्य और शालीनता से रंचमात्र विचलित नहीं होती हैं। उनका गम्भीर स्वर सारे स्वरों से सर्वथा भिन्न था :

कौसल्या कह दोस न काहू।
करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥
कठिन करम गति जान बिधाता।
जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥
ईस रजाइ सीस सबहीं के।
उतपति थिति लय बिषहु अमीं के॥
देवि मोह बस सोचिअ बादी।
बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी॥
भूपति मरब जिअब उर आनी।
सोचिअ सखि लखि निज हित हानी॥

इस वार्तालाप के सन्दर्भ में कौशल्या अम्बा का एक और चित्र उभर कर सामने आता है। वह है उनकी पराकाष्ठा तक पहुंची हुई संवेदनशीलता। चित्रकूट के सारे वातावरण में उन्हें सबसे अधिक पीड़ा श्री भरत को लेकर थी। एक ओर भरत अपने अन्तर्द्वन्द्व से व्याकुल हैं। दूसरी ओर शील-संकोच के कारण अपनी हृदयगत भावना को खुलकर कह भी नहीं पाते हैं। सारा समाज अनिश्चय की स्थिति में है। लोगों के सामने अनेक विकल्प थे। कौशल्या अम्बा के हृदय में भी एक विकल्प है जिसे वे महारानी सुनयना के माध्यम से राजर्षि जनक तक पहुंचाती हैं। चित्रकूट में जिन विकल्पों पर चर्चा हुई, उसके मुख्य केन्द्र श्री राम थे। "केहि बिधि अवध चलहिं रघुराउ" का प्रश्न ही सबके सामने था। एक मात्र कौशल्या अम्बा ही इसकी अपवाद हैं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि राघव अयोध्या नहीं लौट सकते अतः उनके चिन्तन का आधार रामभद्र का लौटना नहीं है। उनकी सारी चिन्ता के केन्द्र एक मात्र भरत हैं। राम तो वन जाएंगे ही पर भरत का क्या होगा? क्या भरत को अयोध्या लौटा देना उनकी गूढ़ स्नेह भावना का अनादर नहीं है? इससे भरत को कितनी मर्मान्तिक पीड़ा होगी? अतः उनका मत था कि राघव लक्ष्मण को अयोध्या लौटने का आदेश दें और उनके स्थान पर भरत को साथ लेते जायें। संक्षेप में उन्होंने संकेत सूत्र सुनयना के समक्ष रखा :

रानि राय सन अवसरु पाई।
अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन।
जौं यह मत मानै महीप मन॥
तौ भल जतनु करब सुबिचारी।
मोरें सोचु भरत कर भारी॥

लोक-मंगल और आदर्श की रक्षा के लिए यदि राघवेन्द्र का वनवासी बनना अपेक्षित है तो मां को इसमें रंचमात्र आपत्ति नहीं है। पर भरत की भावनाओं का मूल्य उनकी दृष्टि में इससे कम भी नहीं है। अतः वे दोनों के समन्वय का मार्ग

प्रस्तुत करती हैं। जब वे लक्ष्मण को अयोध्या लौटाने का प्रस्ताव करती हैं तब उनका ध्यान इस तथ्य की ओर रहा होगा कि बाल्यावस्था से अब तक लक्ष्मण रामभद्र की सेवा में सर्वदा उनके सन्निकट रहे हैं। यह अवसर अब भरत को मिलना चाहिए। इस तरह उनकी दृष्टि में यह प्रस्ताव कर्त्तव्य भावना और न्याय को समेटे हुए था। महाराज श्री जनक ने इस प्रस्ताव के पीछे निहित सद्भाव, स्नेह और वात्सल्य की भूरि-भूरि सराहना की। यद्यपि व्यवहार के पण्डित होने के कारण उन्हें पूरी तरह पता था कि यह सम्भव न होगा। मां कौशल्या असीम धैर्य धारण किए हुए चित्रकूट से अयोध्या लौट आईं।

अदोष दर्शन कौशल्या अम्बा के स्वभाव का एक अंग था। इसका अपवाद केवल एक ही प्रसंग में प्राप्त होता है। कौशल्या अम्बा ने दोष देखा भी तो किसमें ? जहां दोष की कल्पना भी दोष मानी जाती है, तो तत्त्वतः साक्षात् ब्रह्म है और अवतार काल में जिन्हें सारे समाज ने धर्म और मर्यादा के मूर्तिमान विग्रह के रूप में देखा, वे रामभद्र उनकी दृष्टि में दोषी सिद्ध हुए। कभी स्वयं को 'राम मातु' कहकर कौशल्या गौरवान्वित समझती थीं। 'राम सरिस सुत मैं महतारी' में इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु लक्ष्मण शक्ति का समाचार सुनते ही उनकी भावना सर्वथा परिवर्तित हो गई। राम का गौरव उनकी दृष्टि में संदिग्ध हो उठा। राघवेन्द्र के चैतन्य रहते लक्ष्मण के प्राणों पर आ बनी यह ऐसा समाचार था जिस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता था। पर वह तो वे अपने कानों से सुन रही थीं। लक्ष्मण के लिए औषधि लेकर जा रहे रामदूत पर अविश्वास भी तो नहीं किया जा सकता था। परदुःखकातर, आश्रितजन-रक्षक, मातृवात्सल्य राघव के गुण कहां लुप्त हो गए ? सर्वत्यागी लक्ष्मण का यह बलिदान मां के हृदय को इतना सालता है कि वे मौन न रह सकीं। केवल दो वाक्यों का सन्देह आंजनेय के माध्यम से उन्होंने राघव के पास भेजा। १३ वर्षों की सुदीर्घ अवधि के पश्चात् अपने लाड़ले का समाचार प्राप्त होने पर वात्सल्यमयी मां की क्या स्थिति हुई होगी उसे शब्दों की सीमा में बांध पाना सम्भव नहीं है। राम के वनवासी होने के पश्चात् कौशल्या अम्बा के वात्सल्य के कुछ बड़े ही मार्मिक चित्र गीतावली में प्रस्तुत किए गए हैं। उन दिनों बहुधा मां की दृष्टि उस दिशा की ओर लगी रहती थी जिस दिशा-पथ से राघव वन की ओर पधारे थे। उस दिशा की ओर जाते हुए पथिकों को देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि कहीं वे चित्रकूट की ओर ही तो नहीं जा रहे हैं। कभी वे किसी पथिक को आदरपूर्वक बुलावा भेजतीं और उससे कहतीं—'प्रिय पथिक ! यदि वन में मेरे राघव से भेंट हो जायें तो उन तक मेरा यह संदेश पहुंचा देना, कहना, राघव ! केवल एक बार के लिए ही सही अयोध्या लौट आवें। मैं जानती हूं कि यह वाक्य सुनते ही वे चौंक पड़ेंगे और सम्भवतः तुमसे कहेंगे कि जिस धैर्यमयी मां ने 'तौ कानन सत अवध समाना' कहकर वन जाने का आदेश और आशीर्वाद प्रदान किया हो वह इस प्रकार की भीरुता की

वाणी कैसे कह सकती है। तब तुम उससे कहना कि मां ने स्वयं अपने लिए सन्देश नहीं भेजा है। तुम्हारे वियोग में घोड़ों की जो दशा हुई है उसे देखकर धैर्य धारण करने की उनकी सारी शक्ति समाप्त हो चुकी है। मैं उन्हें कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं करना चाहती। वह केवल एक बार आकर अपने घोड़ों को देख जाएं, उसके पश्चात् मैं स्वयं उन्हें लौटने से नहीं रोकूंगी :''

राघौ ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ।
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज बार बार चुचुकारे॥
क्यौं जीवहिं, मेरे राम लाड़िले ! ते अब निपट बिसारे।
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे॥
तदपि दिनहिं-दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिम मारे।
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिनतें इन्हको बड़ो अँदेसो॥

तेरह वर्ष की लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् जब सचमुच एक दूत दूरगामी पुत्र को सन्देश पहुंचाने के लिए प्राप्त हुआ तो ऐसा लगा कि मां की भावनाओं का ज्वार उमड़ पड़ेगा। न जाने कितने मनुहार और प्यार भरे स्वर में सन्देश भेजने की व्यग्रता उसकी वाणी में मचल पड़ेगी किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। ऐसा लगा कि जैसे मां के वात्सल्य का स्रोत सूख गया हो। कभी वन जाते समय व्याकुलता भरे स्वर में उनकी वाणी से यह बोल निकल पड़े थे कि ''वह मंगलमय दिन और घड़ी कब होगी जब मैं तुम्हें देखकर विह्वल स्वर में पुकार उठूंगी। वत्स और लाल कहकर तुम्हें हृदय से लगा लूंगी :''

सुदिन सुघरी तात कब होइहि।
जननी जिअत बदन बिधु जोइहि॥
कबहिं बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं उठाय लगाय हिय हरषि निरखिहउँ गात॥

पर आज के सन्देश में शब्दों की कृपणता देखने योग्य है। सम्बोधन के लिएवत्स, लाल तो दूर राघव कहकर भी उन्हें नहीं पुकारा गया। हां, संदेश में लक्ष्मण के नाम के साथ यह शब्द जरूर जुड़े हुए थे पर राघवेन्द्र के लिए सम्बोधनों का सर्वथा अभाव है :

भेंट करि कहियो कह्यो यों कठिन मानस माय।
लाल लोने लखन सहित सुललित लागत नाय॥

वस्तुतः यह सन्देश ''अरथ अमित अरु आखर थोरे'' का ही प्रतीक है। संक्षिप्त शब्दों में इसका अर्थ इतना ही है कि ''भेंट कर उनसे कहना कि तुम्हारी कठोर हृदयवाली मां ने यह सन्देश भेजा है कि तुम्हारा नाम लाल लोने लक्ष्मण के साथ ही अच्छा लगता है।'' स्वयं को कठोर हृदयवाली मां कह कर केवल आतम-निन्दा मात्र ही नहीं की गयी है। अपितु इसमें राघवेन्द्र के प्रति एक आक्षेप है कि

बिना कठोर हृदयवाला हुए कोई व्यक्ति इस प्रकार भ्रातृ बलिदान के निष्ठुर कार्य का द्रष्टा नहीं बन सकता है। यदि तुम्हारे लिए यह सम्भव हुआ तो इसका एकमात्र यही कारण हो सकता है कि तुम्हारा जन्म एक कठोर हृदयवाली मां के गर्भ से हुआ है। यदि मैं पुत्र-वियोग का दुःख सहकर भी जीवित हूं, तो लगता है उसीका अनुगमन करते हुए तुम भी भ्रातृ वियोग को सह पा रहे हो। मां का यह कथन और भी मार्मिक था कि तुम्हारा नाम लक्ष्मण के साथ ही अच्छा लगता है। इसका तात्पर्य यह था कि यदि तुम लक्ष्मण रहित लौटे तो न केवल वर्तमान काल में अपितु भविष्य के लिए भी तुम्हारा नाम कलंकित हो जाएगा। सम्बोधन में किसी नाम का उच्चारण न करना यही प्रकट करता है कि जब तक तुम लक्ष्मण रहित हो तब तक तुम्हारा नाम मुझे स्वीकार्य नहीं है। लक्ष्मण के लिए लाल का विशेषण देकर मां ने स्पष्ट संकेत किया कि लक्ष्मण ने अपने चरित्र के द्वारा सच्चा लाल होना प्रमाणित कर दिया है पर तुम्हारा लालत्व मेरी दृष्टि में सर्वथा संदिग्ध है। लक्ष्मण सलोने हैं, इसका तात्पर्य यह था कि जैसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यंजन लवण के अभाव में स्वाद रहित हो जाता है उसी प्रकार सलोने लक्ष्मण के अभाव में तुम्हारा व्यक्तित्व सर्वथा अपूर्ण है। संक्षिप्त शब्दों में भेजा गया यह सन्देश उनके चरित्र की गुरुता के अनुरूप ही था। इसलिए लक्ष्मण सहित राघवेन्द्र के लौटने का समाचार उनके लिए अपार आनन्द का हेतु बन गया। इससे बढ़कर उनके लिए आत्म-सन्तोष की क्या बात हो सकती थी कि उनका यशस्वी पुत्र रावण जैसे दुर्धर्ष शत्रु को परास्त कर लक्ष्मण और सीता के साथ सकुशल अयोध्या लौट आया। पर उसका वात्सल्य भरा हृदय उन्हें सशंक बना रहा था। वे सोचने लगीं कि उनके सुकुमार पुत्रों ने लंका के दुर्धर्ष राक्षसों पर कैसे विजय प्राप्त की होगी :

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि।
चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥
हृदयँ बिचारति बारहिं बारा।
कवन भाँति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।
निसिचर सुभट महाबल भारे॥

उनके श्रद्धालु हृदय ने यह सोचकर संतुष्टि पा ली कि यह गुरुदेव की कृपा का परिणाम है। गोस्वामी जी ने कौशल्या अम्बा की तुलना प्राची दिशा से की जहां राघवेन्द्र रूप पूर्णचन्द्र का उदय हुआ। जिसके उदय से संतप्त लोगों को शीतलता और विश्राम की उपलब्धि हुई :

बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची।
कीरति जासु सकल जग माची॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।
बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री कैकेयी जी

"बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना" का सबसे बड़ा दृष्टान्त महारानी कैकेयी का चरित्र है। सौंदर्य, शील और तेजस्विता से पूर्ण कैकेयी ने जीवन के पूर्वार्ध में महाराज दशरथ से लेकर सारी प्रजा को अपने गुणों का प्रशंसक बना लिया था। सारे अयोध्या राज्य में उनके यश की पताका फहरा रही थी। किन्तु जीवन के उत्तरार्ध में नियति ने उनसे बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया और वे सारे समाज में नारी की अविश्वसनीयता का दृष्टांत बन बैठीं। पर वस्तुतः यह नियति का एक क्रूर उपहासमात्र ही नहीं था। उनके चरित्र का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर इन गुण और दोषों के मूल उपादान उनमें प्रारम्भ से ही दृष्टिगोचर होते हैं।

ब्रह्मा ने उन्हें अप्रतिम सौन्दर्य प्रदान किया था। और वे एक ऐसे पिता की पुत्री बनीं जो सर्वप्रथम हानि-लाभ का गणित करने के पश्चात ही किसी कार्य में प्रविष्ट होते हैं। इसी मनोवृत्ति का परिचय उन्होंने अपनी सौन्दर्यमयी पुत्री के विवाह में भी दिया। उनके द्वारा किये जाने वाला कन्यादान केवल समर्पण की भावना से ही प्रेरित नहीं था। वय-प्राप्त महाराज श्री दशरथ को कन्या देते समय वे उनसे यह वचन लेना नहीं भूलते हैं कि उनकी कन्या ही सूर्यवंश को अगला सम्राट देगी। महाराज श्री दशरथ की दृष्टि में इस प्रकार का वचन देने में कोई उलझन न थी। कैकेयी की सौन्दर्य राशि से उनका रसिक मन तो प्रभावित था ही, वे यह भी मान बैठे थे कि अब ज्येष्ठ महारानी से पुत्र प्राप्त होने की सम्भावना ही नहीं है। महाराज दशरथ ने चाहे जितनी सरलता से वचन दे दिया हो किन्तु केकय नरेश इतने मात्र से ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाने वाले नहीं थे। इसलिए जब विविध दहेजों के बीच मन्थरा भी दासी के रूप में अर्पित की गई तब उसका उद्देश्य केवल परम्परा का पालन मात्र न था। अपनी सुन्दरता के लिए प्रख्यात केकय देश के द्वारा एक कुरूपा दासी को सेविका बनाकर भेजा जाय, यह बड़ा अटपटा-सा प्रतीत होता है। किन्तु मन्थरा में सौन्दर्य का चाहे जितना अभाव रहा हो पर ब्रह्मा ने बुद्धि देते समय उसके साथ कोई कृपणता नहीं की थी। शरीर की वक्रता के साथ-साथ कूटनीतिक कौशल का टेढ़ापन उसके अन्तर्मन में विद्यमान था। इसलिए एक ओर जहां वह कैकेयी के लिए मनोरंजन का साधन थी वहीं दूसरी ओर केकय नरेश उसकी चतुर बुद्धि के प्रति आश्वस्त थे। विचित्र प्रकार की कुंठाओं से ग्रस्त मन्थरा कैकेयी को अत्यन्त प्रिय थी। यह प्रियता उन्हें कितनी महंगी पड़ेगी इसका रंचमात्र ज्ञान उन्हें नहीं था। स्वभाव से उदार और राजसी गुणों से युक्त कैकेयी अयोध्या में आते ही सबके हृदय का हार बन बैठीं। महारानी कौशल्या की सहृदयता से कैकेयी भी प्रभावित हुए बिना न रहीं। महाराज श्री दशरथ की तो

वे सर्वाधिक प्रिय रानी और संगिनी बन बैठीं। केवल अन्तःपुर में ही वे पट्टमहिषी के रूप में निवास नहीं करती थीं अपितु युद्ध-क्षेत्र में भी वे महाराज श्री की शौर्य-मयी सहचरी थीं। युद्ध-क्षेत्र में किसी अवसर विशेष पर उन्होंने जिस शौर्य और धैर्य का प्रदर्शन किया उससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें दो वरदान मांगने का अवसर दिया।

उस समय केवल महारानी ने मुस्कराकर उसे थाती के रूप में स्वीकार कर लिया। समग्र अधिकारों के बीच वे स्वयं को निष्काम समझने की भूल कर बैठी थीं। वस्तुत: कैकेयी के चरित्र में जो औदार्य प्रदर्शित होता है उसके पीछे युद्ध सम-र्पण की प्रेरणा न थी। एकछत्र अधिकार के गौरव ने ही उन्हें उदार बना दिया। इतना सब होते हुए भी महारानी कैकेयी सूर्यवंश को उत्तराधिकारी नहीं दे पायीं यह उनके जीवन की प्रथम पराजय थी। इससे उनमें सहिष्णुता के भाव की अभि-वृद्धि हुई। यही एक ऐसा स्थल था जहां वे स्वयं को अन्य रानियों की तुलना में विशिष्ट रूप में नहीं देख सकती थीं।

महाराज श्री दशरथ को पुत्रप्राप्ति के लिए गुरुदेव द्वारा यज्ञ करने का आदेश दिया गया। यज्ञ की समाप्ति पर जो चरु प्राप्त हुआ वह सभी रानियों में वितरित किया गया क्योंकि अग्निदेव का आदेश इसी प्रकार का था। चरु वितरण की प्रक्रिया का प्रभाव कौशल्या और कैकेयी के मन पर अलग-अलग पड़ा हो यही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। चरु का आधा भाग कौशल्या जी को दिया गया। अवशिष्ट भाग को यदि कैकेयी और सुमित्रा में वितरित कर दिया जाता तो यह वितरण की सबसे सरल प्रक्रिया होती। किन्तु इस प्रक्रिया को जिस रूप में पूरा किया गया उससे महारानी कैकेयी के अहं को सन्तुष्टि प्राप्त हुई होगी, क्योंकि अवशिष्ट भाग में से आधा अकेले उन्हें ही प्राप्त हुआ। और बचे हुए चरु के दो भाग बनाकर उसे कौशल्या और कैकेयी के हाथ में देकर उनसे यह अनुरोध किया गया कि वे अपने हाथों से इसे महारानी सुमित्रा को प्रदान करें। यदि उस समय तीनों रानियों की मनःस्थिति की समीक्षा करें तो चरित्र के अनुरूप उनमें भिन्नता की प्रतीति होगी। सुमित्रा अम्बा में कृतज्ञता की भावना का उदय हुआ और वे सोचने लगीं कि दोनों महारानियां कितनी उदार हैं जो अपने लिए स्वयं एक पुत्र की आकांक्षा करती हुई मुझे दो पुत्रों का आशीर्वाद प्रदान करती हैं। महारानी कौशल्या को लगा कि इसमें उदारता का प्रश्न ही कहां है? जो कुछ प्राप्त हुआ था उसे देकर यदि मैं स्वयं को दाता मान बैठूं तो इससे बढ़कर धृष्टता क्या होगी। किन्तु यदि महारानी कैकेयी को ऐसा प्रतीत हुआ हो कि वे उदार हृदया हैं और उनके द्वारा की जाने वाली वितरण प्रक्रिया में उन्हें स्वयं के प्रति गौरव की अनुभूति हुई हो तो इसमें कोई आश्चर्य न होगा। स्वयं में निरन्तर आत्मगौरव और श्रेष्ठता की अनुभूति कैकेयी के चरित्र का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष था। प्रशंसा और स्तुति के प्रति उनका वह आकर्षण मानस के कई प्रसंगों में परिलक्षित होता है। प्रशंसा के

पीछे निहित भावना को वे ग्रहण नहीं कर पाती हैं, इसलिए मन्थरा के द्वारा कथित स्तुतिपरक वाक्य उन्हें आकृष्ट कर लेते हैं।

चार पुत्रों के जन्म के पश्चात रानियों का पारस्परिक सौहार्द क्रमशः बढ़ता ही गया। इसमें मुख्य हेतु कौशल्या और सुमित्रा की समर्पण वृत्ति ही थी। जहां कौशल्या राघवेन्द्र को निरन्तर यही बताती रही हों कि तुम्हारी मां तो कैकेयी हैं मैं नहीं, वहां वैमत्य का कारण ही क्या हो सकता था ?

श्रीरामभद्र भी निरन्तर कैकेयी अम्बा को मां कहकर पुकारते हैं। उन्हें सर्वदा सम्मान देते रहते हैं, स्वभावतः वे कैकेयी अम्बा को अपने संकोची पुत्र भरत की तुलना में अधिक प्रिय प्रतीत होने लगे। कैकेयी के इस व्यवहार से उनकी उदारता की ख्याति और भी अधिक बढ़ने लगी। कैकेयी ने बड़ी उत्सुकतापूर्वक राम को युवराज पद पर अभिषिक्त देखने की अभिलाषा प्रकट की। ऐसा लगा कि महाराज केकय ने वचन लेकर उत्तराधिकार की जो समस्या उत्पन्न की थी कैकेयी ने उस अधिकार का परित्याग करके समस्या का निराकरण कर दिया है। किन्तु समय आने पर यह धारणा सत्य सिद्ध नहीं हुई।

मन्थरा को राघवेन्द्र के युवराज पद पर अभिषिक्त किये जाने की योजना का समाचार सुनकर बड़ा ही तीव्र आघात लगता है और वह समग्र मन, प्राण से इस योजना को विनष्ट करने में संलग्न हो जाती है। यद्यपि प्रारम्भ में इस समाचार को सुनकर महारानी कैकेयी जिन शब्दों में प्रसन्नता प्रकट करती हैं वे ऐसे असाधारण उदार शब्द थे कि मन्थरा को छोड़कर यदि कोई दूसरा पात्र होता तो निराश होकर षड्यन्त्र की भावना से विरत हो जाता। कैकेयी ने उत्साह-भरे स्वर में कहा था कि यदि रामराज्य का समाचार सही है तो तुम्हें मन के संकल्प के अनुकूल वस्तु प्राप्त होगी :

साँचेहु राम राज जौं काली।
देहुँ तोहि मन भावति आली॥

एक बार तो यह वाक्य सुनकर मन्थरा का हृदय भी दहल उठता था। किन्तु इतना होने पर भी यदि वह निराश नहीं होती है तो इसका कारण यही था कि वह कैकेयी के अन्तर्मन की दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थी। इसीलिए वह आघात को झेलकर पुनः प्रयास में संलग्न हो जाती है। कैकेयी की अहंजन्य उदारता से वह परिचित है। अहं प्रधान व्यक्ति की आसक्ति का केन्द्र कान हैं। कर्णेन्द्रिय के माध्यम से ही प्रशंसा का रसपान करता हुआ वह अहं की तृप्ति का अनुभव करता है। मानस में इसीलिए कुम्भकर्ण (जिसका कान घड़े की तरह हो) को अहं के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः अहंकारी जहां कान के माध्यम से प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है वहीं कर्णेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिकूल वाक्य सुनकर उसे आघात भी कम नहीं लगता। मन्थरा ने कैकेयी की अहंकार से उत्पन्न कर्णेन्द्रिय की दुर्बलता का लाभ उठाया। वार्तालाप में कैकेयी के द्वारा

स्वयं के औदार्य की प्रशंसा करने के लिए जो कुछ कहा गया, उलटकर वही मन्थरा का अस्त्र बन गया। कैकेयी ने बड़े ही उछाह-भरे स्वर में मन्थरा को यह बताया कि राम यद्यपि सभी माताओं को बराबर सम्मान देते हैं किन्तु मेरे प्रति उनका स्नेह और सदभाव सर्वाधिक है। मैंने परीक्षा लेकर इसका अनुभव कर लिया है। इतना ही नहीं मैं तो राम के गुणों से इतनी प्रभावित हूं कि मैं ब्रह्मा से यही वरदान मांगती हूं कि अगले जन्म में राम और सीता मेरे पुत्र और वधू बनें :

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।
मैं करि प्रीति परीक्षा देखी॥
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥

आज भी मानस के अनेक पाठक कैकेयी के इन सद्भावों से उच्छ्वसित हो उठते हैं। पर इसे स्पष्ट करने के लिए मैं एक ही दृष्टान्त देना चाहूंगा। नदी स्नान करने जाने वाले व्यक्तियों को इस समस्या का सामना करना पड़ता है। स्नानार्थी केवल जल देकर ही चाहे जहां स्नान के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाता। उसे जल के नीचे आधार का ध्यान बना रहता है, जहां खड़े होकर उसे जल में अवगाहन करना रहता है। यदि जल का आधार शुष्क रेतीली भूमि हो तभी उसे स्नान का सच्चा सुख प्राप्त होता है। किन्तु यदि भूमि कीचड़ से भरी हुई हो तो चतुर स्नानार्थी वहां स्नान करने की भूल नहीं करता है। कैकेयी अम्बा के सद्भाव के जल के नीचे तलछट में अहंकार का जो कीचड़ भरा हुआ है मन्थरा उससे भली भांति परिचित है। पैर से कीचड़ का स्पर्श होते ही जैसे सारा जल मलिन हो उठता है ठीक वही स्थिति यहां भी है। मन्थरा उस तलछट को ऊपर लाने में समर्थ हो जाती है। कैकेयी जी के द्वारा रामभद्र की प्रशंसा में प्रयुक्त शब्दावली ध्यान देने योग्य है। यदि वे यह कहकर प्रशंसा करतीं कि "राम सभी माताओं को समान आदर और स्नेह देते हैं।" तो निश्चित रूप से यह सात्त्विक सद्भाव से प्रेरित सराहना होती। किन्तु उनमें अहंकार का राजसिक स्वर उभर आया, "किन्तु मुझसे वे अधिक स्नेह करते हैं।" रही सही तमोगुणी दुर्बलता बोल उठी, "मैंने प्रीति की परीक्षा लेकर यह देखा है।" स्पष्ट हो गया कि सारी प्रशंसा अहं केन्द्रित थी। राम की श्रेष्ठता उनके सद्गुणों को लेकर नहीं स्वीकार की गई थी, वे अच्छे हैं क्योंकि मुझे अधिक सम्मान देते हैं। परीक्षा भी सदगुणों की न लेकर इस दृष्टि से ली गयी थी कि देखें मुझे अधिक चाहते हैं अथवा किसी अन्य को। मन्थरा ने अहंकार की तलछट को शब्दों के आघात से ऊपर उछाल दिया। उसने कैकेयी के स्वभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उनके अहं को तृप्त किया फिर बनावटी सहानुभूति का प्रदर्शन करते हुए कह उठी, "आपने जो सद्भाव-भरे वाक्य कहे हैं, वे

तो आपके अनुरूप ही हैं पर मैं तो एक भिन्न सूचना के आधार पर भविष्य को दृष्टिगत रखकर कह रही हूं। पुराने दिन बीत गए। सत्य तो यह है कि पहले भी आन्तरिक रहस्य तो दूसरा ही था। कौशल्या का सारा सद्भाव केवल दिखावे का था। महाराज श्री आपको अधिक चाहते थे। भला यह सौतों को कैसे प्रिय लग सकता था। पर चतुर और स्वभाव से गम्भीर कौशल्या ने उसे ऊपर से कभी प्रकट नहीं होने दिया। वे उचित अवसर की प्रतीक्षा में थीं। धैर्यपूर्वक उन्होंने अपनी योजना क्रियान्वित की। पहले तो भरत को ननिहाल भेज दिया गया। फिर प्रचारपूर्वक राम के युवराज पद पर अभिषिक्त करने की मांग की गई। पर आगे की योजना तो और भी भयानक है। राम के सिंहासनासीन होते ही भरत कारागार में डाल दिए जाएंगे और तुम्हें सौत की सेवा करनी होगी।" कैकेयी के अहं को यह सुनते ही इतना तीव्र आघात लगता है कि उनका सारा पूर्व सद्भाव समाप्त हो जाता है और अहमन्यता एवं ममता का कीचड़ उनके सारे उच्च विचार के प्रदर्शन को मलिन बना देता है। वस्तुतः कैकेयी जी के चरित्र में अधिकार की वृत्ति ही सबसे ऊपर है। जब वे ब्रह्मा से यह वरदान मांगती हैं कि राम अगले जन्म में मेरे पुत्र बनें तो वहां भी यही प्रवृत्ति सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। यद्यपि कौशल्या अम्बा की तुलना में राघवेन्द्र उन्हें अधिक सम्मान देते हैं। पर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार कैसा भी क्यों न हो लोकदृष्टि में राम कौशल्या के ही पुत्र माने जाएंगे मेरे नहीं। एक प्रश्न यह भी है कि कैकेयी राम को पुत्र के रूप में पाने के लिए इतनी व्यग्र क्यों है? वस्तुतः इसके पीछे भी मनोवैज्ञानिक रूप से अहं की भूख विद्यमान थी। वनगमन के पहले लोकदृष्टि में राम के यश की पताका सारे संसार में फहराने लगी। दूसरी ओर मूक समर्पण के कारण श्री भरत समाज की दृष्टि से ओझला थे। लोकैषण के कारण भी उनमें यह भावना उदित होती थी कि कितना अच्छा होता कि राम का जन्म मेरे गर्भ से हुआ होता। कैकेयी की भावुकता का सारा भवन अहं की नींव पर आधारित था। अहं की नींव किसी भी सद्गुण के लिए सबसे दुर्लभ आधार है। नींव का अर्थ है स्वयं को पूरी तरह गाड़ देना। भवन की नींव आत्मगोपन और अपने समर्पण से ही किसी भवन को लोकदृष्टि में उठा सकती है। अहंकार आत्म-प्रदर्शन पर विश्वास रखता है। अतः नींव के स्थान पर स्वयं को शीर्ष स्थान पर देखना चाहता है। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में भवन की जो स्थिति हो सकती है वही स्थिति अहंकारी व्यक्ति के सद्गुणों की होती है। कैकेयी का व्यक्तित्व इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसलिए ज्यों ही उनके अहंकार पर आघात लगा, सद्भावनाओं का सारा भवन चूर-चूर हो गया। उनकी कोमलता और उदारता, निष्ठुरता और संकीर्णता में परिवर्तित हो गई। फिर उन्हें कोई बदल नहीं पाया। महाराज दशरथ की एकान्तिक आसक्ति, कैकेयी के प्रति प्रार्थना और दीनता-भरी मनुहार का भी उनपर रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ा।

महाराज श्री के मन में कैकेयी का जो कल्पित चित्र था वे उसी को हृदय में

वसाकर सान्ध्य वेला में कैकेयी के महल में पहुंचे। वे यह सोचकर आनन्दमग्न हो रहे थे कि जब मैं राम के युवराज पद का समाचार कैकेयी को दूंगा तब वे कितनी प्रसन्न होंगी। मैं इस समाचार के वदले में कैकेयी से पुरस्कार की याचना करते हुए उन्हें अद्‌भुत रसमयी स्थिति में डाल दूंगा। "अपने ही कल्पना के राज्य में विहार करते हुए दशरथ को कैकेयी के महल में जाते देखकर कवि व्यग्र स्वर में पुकार उठता है।" ऐसा लगता है जैसे साकार स्नेह मूर्तिमयी निष्ठुरता के भवन में प्रविष्ट हो रहा है :

साँझ समय सानंद नृपु गयउ कैकेई गेहँ।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ॥

महल में प्रविष्ट होते ही उन्हें अकल्पनीय समाचार प्राप्त होता है, "महारानी कोप-भवन में बैठी हुई हैं।" एक बार वे इस समाचार को सुनकर चौंक उठे थे। किन्तु वे उनके इस अप्रत्याशित रूप की कल्पना जाग्रत् तो क्या स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। नहीं तो सम्भव है वे कैकेयी के भवन के बहिरंग भाग से ही लौट आते। उन्होंने इसे भी स्नेह-जलधि में उठती हुई एक तरंग के रूप में देखा। स्नेह में मान-मनुहार उसकी एकरसता को मिटाकर नूतनता का संचार करता है। अतः महाराज ने इसे भी कामकला के एक रूप में देखा हो तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। फिर आगे बढ़ते हुए कैकेयी को मनाने के लिए किन शब्दों का प्रयोग करना होगा इस चिन्तन में लग गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इस समय उनकी मनःस्थिति एक चक्रवर्ती सम्राट के समान न होकर एक वृद्ध रसिक राजा की भांति हो रही थी। ऐसी मनःस्थिति में वे कैकेयी के सन्निकट पहुंचकर चाटुकारिता-भरे स्वर में उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। किन्तु आज कैकेयी को मनाना सरल न था। 'कोटि कुटिलमणि' मन्थरा के द्वारा रटाया गया पाठ उन्होंने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। मन्थरा ने प्रारम्भ में ही कैकेयी जी को एक महान् मन्त्र दे दिया था जिसमें स्पष्ट चेतावनी थी कि जब तक महाराज श्री राम की शपथ न ले लें तब तक उनसे कोई याचना न कीजिएगा :

भूपति राम सपथ जब करई।
तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥

महाराज दशरथ सत्य के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान कर सकते हैं, यह जानते हुए भी मन्थरा को यह सुदृढ़ विश्वास था कि यदि राम और सत्य दोनों में तुलना का प्रश्न आए तो पलड़ा राम प्रेम के पक्ष में ही अधिक झुक जाएगा। राम-शपथ के माध्यम से वह इस समस्या का समाधान ढूंढ़ लेती है। मन्थरा के द्वारा सोची गई योजना तब पूर्ण साकार रूप ग्रहण कर लेती है जब महाराज कैकेयी जी को प्रसन्न करने की चेष्टा में राम की शपथ ले लेते हैं। बस यही कैकेयी को अभीष्ट भी था। तब कैकेयी अपनी अभिनय कुशलता का परिचय देते हुए महाराज श्री के समक्ष मनभरी भाषा में अपनी मांग की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। जिसके लिए गोस्वामी

जी 'किरातिनि फंद' की उपमा देते हैं :

यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद ।
भूषन सजति बिलोकि मृग मनहुँ किरातिनि फंद ।।

इसके पश्चात् कैकेयी के द्वारा दो वरदानों की भूमिका प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया कि आपने दो वरदान देने के लिए कहा था पता नहीं वह मिलेंगे भी या नहीं ? कैकेयी ने बड़ी चतुराई से विवाह के समय दिए गए वचनों की चर्चा को सामने आने से बचा लिया । इसके दो कारण थे । विवाह के समय प्राप्त अधिकार को कैकेयी ने औदार्य के नशे में स्वतः ही भुला दिया था । श्री राम को राज्य पद पर अभिषिक्त करने के प्रस्ताव की मुख्य प्रस्ताविका वे ही थीं । वे स्वयं पर वचन-भंग का कोई आरोप आने देना नहीं चाहती थीं । पर इसका मुख्य कारण दूसरा ही था । कैकेयी की प्रतिशोध वृत्ति की केवल भरत को राज्याभिषेक मात्र से सन्तुष्टि नहीं हो सकती थी । वे राम से भी अधिक कौशल्या को पाठ पढ़ाने के लिए व्यग्र हो उठीं । वे अपनी समझ से ऐसा प्रयास कर रही थीं जिससे न केवल कौशल्या की सारी योजनाएं विनष्ट हो जाएं अपितु नई योजना के माध्यम से उन्हें अधिकाधिक पीड़ित किया जा सके । मन्थरा लोभवृत्ति की मूर्तिमयी प्रतीक है । उस लोभ के साथ कुबड़ेपन का कौटिल्य भी मिल गया है । मंथरा उस समय कैकेयी के मन और मस्तिष्क पर पूरी तरह छा गई थी । लोभ में जहां स्वलाभ की चिन्ता ही मुख्य होती है, वहां कुटिलता दूसरों को उत्पीड़ित करने में आनन्द का अनुभव करती है । कैकेयी की मनःस्थिति भी इस समय ठीक इसी प्रकार की थी । प्रथम वरदान की अपेक्षा द्वितीय वरदान के प्रति उनका आग्रह इतना तीव्र था कि वे स्पष्ट कर देती हैं कि भरत के राज्याभिषेक में यदि कुछ दिनों का विलम्ब हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु राम का वनगमन तत्काल होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं हुआ तो वे प्राण-त्याग के लिए प्रस्तुत हैं :

होत प्रातु मुनिवेष धरि जौं न रामु बन जाहिं ।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ।।

कैकेयी के मन में यह संदेह रहा होगा कि यदि भरत के राज्याभिषेक के पहले ही राम का वनगमन नहीं हुआ तो बाद में कई समस्याएं खड़ी हो सकती हैं । सबसे बड़ी आशंका तो यह थी कि कहीं भरत ही संकोच या अनिच्छा के कारण राज्य लेने का प्रस्ताव अस्वीकार न कर दें । कैकेयी के मन में ऐसी धारणा होना भी स्वाभाविक ही था कि यदि एक बार रामभद्र को वन भेजा जा सके तो भरत राज्य स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाएंगे । इस तरह कैकेयी ने अपनी ओर से योजना में कोई त्रुटि नहीं रहने दी थी ।

सारी योजना से अपरिचित महाराज श्री कैकेयी के वाक्यजाल में पूरी तरह फंस जाते हैं । बड़े ही उत्साह-भरे स्वर में वे सत्य और रघुवंश की महिमा का गायन करने लग जाते हैं । उन्हें अपनी उदारता पर गर्व था और इसी उत्साह में वे यह भी

कह बैठते हैं कि वे दो के बदले में चार वरदान ले सकती हैं :

जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई।
तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई ॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ।
बिसरि गयउ मोहि मोर सुभाऊ ॥
झूठेहु हमहि दोषु जनि देहू।
दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू ॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहुँ बरु बचन न जाई ॥

विचित्र विडम्बना थी। महारानी कैकेयी के हृदयनिषंग में चातुरी के अनेक बाण विद्यमान थे पर उनमें सबसे विषैले बाण वे थे जिन्हें कैकेयी ने दशरथ के शब्दों में आवेष्टित कर लिया था। उनका औदार्य और उनकी सत्यवादिता ही उनके लिए सर्वाधिक घातक बन बैठी। असत्य जब सत्य का कवच धारण कर लेता है तब वह कितना भयावह बन बैठता है, यह प्रसंग इसका एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है। अपने ही वाक्य के कारागार में बंदी महाराज दशरथ की निरुपायता और पीड़ा का बड़ा ही करुण और मार्मिक चित्र मानस में प्रस्तुत किया गया है :

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का।
देहु एक बर भरतहि टीका ॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी।
पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥
तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिसि रामु बनवासी ॥
सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू।
ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू ॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू।
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥
माथें हाथ मूँदि दोउ लोचन।
तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथु सुरतरु फूला।
फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेईं।
दीन्हेसि अचल बिपति कै नेईं ॥

कवने अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास ॥

'दामिनि हतेउ मनहुं तरु तालू' कहकर कवि ने बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। ग्रीष्म ताप से संतप्त वृक्ष बड़ी आतुरता से मेघ के शुभागमन की बाट जोहता है। उसे पूर्ण विश्वास है कि मेघ शीतल जल की वर्षा के द्वारा उसे ताप से मुक्ति देकर हरीतिमा प्रदान करेगा। किन्तु मेघ वर्षा के स्थान पर यदि वृक्ष पर तड़ित का प्रहार कर दे तो उस समय वृक्ष की जैसी दशा होगी, महाराज श्री की स्थिति ठीक उसी प्रकार की थी। नवीन गृह निर्माण के लिए पुरातन को उजाड़ना ही पड़ता है। महाराज श्री युवराज पद के माध्यम से रामराज्य की आधार-शिला रखना चाहते थे। उन्हें इसमें महारानी कैकेयी के सहयोग पर पूर्ण विश्वास था। पर कैकेयी ने इस योजना को ध्वंस करके अपनी दृष्टि में भरत राज्य का शिलान्यास करने की चेष्टा की। अभागी रानी को स्वयं ही यह पता नहीं था कि नींव भरत राज्य की नहीं विपत्ति-भवन की पड़ रही है। 'दीन्हेसि अचल विपति की नेईं' कहकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

महाराज श्री कैकेयी के अप्रत्याशित व्यवहार से सर्वथा किंकर्तव्य विमूढ़ स्थिति में पहुंच गए। उन्होंने गिड़गिड़ाते हुए कैकेयी के चरणों पर सिर रख दिया। उन्हें भरत के राज्याभिषेक में आपत्ति न थी। किन्तु राम के वनगमन की कल्पना भी उनके लिए असह्य थी। महाराज की सारी मनुहार व्यर्थ गई। कैकेयी पर इसकी उल्टी प्रतिक्रिया हुई। उनका आक्रोश सीमा लांघ जाता है। उन्होंने राम के वन-गमन को ही अपनी प्रतिष्ठा का मुख्य प्रश्न बना लिया। वस्तुतः कैकेयी के मन में भरत के राज्याभिषेक का मुख्य प्रश्न था भी नहीं। वे तो शुद्ध बदले की भावना से भरी हुई थीं। उन्हें लगता है कि उनके साथ विश्वासघात किया गया है। राम के स्वभाव में परिवर्तन की कल्पना ने उन्हें मर्माहत कर दिया था। महाराज दशरथ से लेकर अयोध्या का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें षड्यन्त्र में सम्मिलित प्रतीत होता है। अब जब उन्होंने अपनी समझ से सारी योजना को विनष्ट करने में सफलता प्राप्त कर ली तब महाराज उसे अपनी वाचिक नम्रता से पुनः उसी स्थिति में लौटा लेना चाहते हैं। इसलिए महाराज श्री की वाणी ने उनके क्रोध को और भी अधिक भड़का दिया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि भरत के राज्याभिषेक में भले ही विलम्ब हो किन्तु राम के वनगमन में एक दिन का विलम्ब भी उन्हें असह्य है। इसलिए वे यह स्पष्ट कह देती हैं कि यदि प्रातःकाल होते ही तपस्वी-वेष में राम वन नहीं चले जाते तो वे अपने प्राण का परित्याग कर देंगी। साथ ही उन्होंने यह भी स्मरण दिला दिया कि महाराज इसके बाद जीवित रहकर भी अपयश के कारण मृत्यु की तुलना में अधिक कष्टकारक जीवन का वरण करने के लिए बाध्य होंगे। गोस्वामी जी इन क्षणों में कैकेयी की तुलना वेगवती नदी से करते हैं जिसमें क्रोध की बाढ़ का जल उमड़ रहा है और जो अपने ही कूल कगारों को विनष्ट करती हुई

विपत्ति के सिन्धु की ओर बढ़ती चली जा रही है। नदी अपने जल के द्वारा अपने किनारे के वृक्षों को सींचती है। पर बाढ़ आने पर सबसे पहले विनाश के पात्र भी वे ही बनते हैं। कैकेयी की मनःस्थिति भी ठीक इसी प्रकार की थी। वे क्रोध के आवेग में अपने स्नेह से पालित लोगों को ही कष्ट देने के लिए उतावली हो उठीं :

देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।
मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥
रामु साधु तुम्ह साधु सयाने।
राम मातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसिलाँ मोर भल ताका।
तस फलु उन्हहि देउँ करि साका॥
होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥
अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई।
भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा।
भवँर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला।
चली बिपति बारिधि अनुकूला॥
लखी नरेस बात फुरि साँची।
तिय मिस मीचु सीस पर नाची॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।
जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥

राम का वन भेजने के उतावलेपन के पीछे सम्भवतः एक कारण और था। कहीं न कहीं अन्तर्मन में कैकेयी के समक्ष भरत के स्वभाव की समस्या थी। उन्हें यह भय सता रहा होगा कि क्या भरत के आगमन के बाद राम का वनगमन सम्भव होगा ? भरत की राम के प्रति प्रीति और राजसत्ता के प्रति उनकी उदासीनता का भान कैकेयी को न रहा हो, यह सम्भव नहीं है। इसलिए वे ऐसे वातावरण की सृष्टि करना चाहती थीं, जिसमें भरत राज्य स्वीकार करने के लिए बाध्य हों।

कैकेयी के हठ भरे आग्रह के समक्ष महाराज को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। फिर तो कैकेयी के समक्ष कोई अवरोध न रहा। सुमन्त को उन्होंने अवश्य क्षणिक अवरोध के रूप में देखा। इसीलिए प्रातःकाल महाराज की कुशलता का समाचार जानने की जिज्ञासा लेकर आए हुए सुमन्त को तत्काल रामभद्र को लाने का आदेश दिया। यह एक विचित्र विरोधाभासी तथ्य है कि अविश्वास के इन क्षणों

में भी कैकेयी यदि किसी के प्रति आश्वस्त थीं तो वह एकमात्र श्री राम ही थे।

यद्यपि उनके द्वारा मांगे गए वरदानों का सर्वाधिक प्रभाव राघवेन्द्र पर ही पड़ता था। पर कैकेयी की अन्तश्चेतना में यह धारणा विद्यमान थी कि राम विद्रोही पुत्र के समान आचरण कभी नहीं कर सकते हैं। साधारणतया कैकेयी के मन में सबसे अधिक आशंका इसी बात की होनी चाहिए थी कि पता नहीं राम इन आज्ञाओं को स्वीकार करेंगे अथवा नहीं। किन्तु इस प्रकार की आशंका का कोई चिह्न कैकेयी के व्यवहार में प्रकट नहीं होता। अविश्वास के क्षणों में भी विश्वास का ऐसा दृष्टांत विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। यह भी मानना ही होगा कि कैकेयी ने अपने भूतपूर्व लाड़ले पुत्र को समझने में भूल नहीं की थी। फिर भी आगे चल-कर वे रामभद्र के सौजन्य को देखकर चकित-सी प्रतीत होती हैं। उनके प्रस्तावों को सुनकर राघव में जिस आनन्द की अभिव्यक्ति हुई और जिन शब्दों में उन्होंने कैकेयी अम्बा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की वह उनके लिए कल्पनातीत थी।

रामभद्र का कैकेयी अम्बा के प्रति अनुराग कभी न्यून नहीं हुआ। उनके वरदानों द्वारा महान् लोकमंगल की सृष्टि की गई, ऐसी उनकी धारणा थी। उन की यह मान्यता थी कि कैकेयी अम्बा ने कलंक लेकर इन वरदानों को मांगकर यदि पृष्ठभूमि न बनाई होती तो उनके दो महान् उद्देश्य अधूरे रह जाते। एक भरत-चरित्र का प्राकट्य तथा दूसरा रावण का वध। कैकेयी अम्बा की की जाने वाली निन्दा की वे सर्वदा आलोचना करते रहे। उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि मेरी माता को दोष देने वाले जड़ हैं और ऐसे लोगों ने स्वप्न में भी साधु-सभा की सेवा नहीं की होगी :

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥

किन्तु प्रभु के इस दृष्टिकोण को तथ्यपरक मानकर स्वीकार करना उपयुक्त नहीं होगा। कई बार मानस के व्याख्याता इसी को आधार बनाकर कैकेयी अम्बा को सर्वगुण विभूषिता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं जबकि वे यथार्थ से कोसों दूर हैं। वस्तुतः यह तो रामभद्र के शील सौजन्य का प्रमाण है कि वे पीड़ा पहुंचाने वाली कैकेयी को भी किस तरह निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। गोस्वामी जी कैकेयी को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास नहीं करते। वे रामभद्र की तुलना में कैकेयी को कुमति को उपाधि प्रदान करते हैं :

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिलु समान॥

राघवेन्द्र के साथ लक्ष्मण और सीता के वनगमन से कैकेयी को और भी अधिक सन्तोष हुआ। लक्ष्मण के स्वभाव से वे भलीभांति परिचित थीं। सीता के आग्रह को देखकर अवश्य सारा राज परिवार व्याकुल हो उठा था। पर वहां भी कैकेयी की निष्ठुरता साकार हो उठी। उन्हें यह आग्रह, मनुहार असह्य प्रतीत हो रहा

था। वस्तुतः जिस सरलता से उनकी योजना साकार हुई थी उससे उनके मन में एक अप्रत्याशित आशंका समा गई थी कि कहीं यह सब योजनाबद्ध रीति से षड्यंत्र का ही एक भाग न हो। उनके मन में यह संशय मुखर हो रहा था कि कहीं राम ने एक चतुर अभिनेता की भांति स्वीकृति का नाटक ही तो नहीं किया है। एक ओर वे स्वयं त्याग का नाटक रचकर सबकी सहानुभूति एकत्र कर रहे हैं और दूसरी ओर उन्हें रोकने का आग्रह प्रारम्भ कर दिया गया है। सीता, लक्ष्मण के बहाने या लोगों के आग्रह की आड़ लेकर यह रुकने की पृष्ठभूमि ही तो नहीं बनाई जा रही है !

स्वयं अकेले पड़ जाने की आशंका उन्हें और भी अधिक संत्रस्त बना देती है। शालीनता का कोई बन्धन जो उनकी कार्यसिद्धि में बाधक बने उनके लिए असह्य हो उठा। इसलिए वे जनरुचि के विरुद्ध कोई भी कार्य करने में संकुचित नहीं होती हैं। वे स्वयं बल्कल वस्त्र राघवेन्द्र के सामने लाकर रख देती हैं और स्पष्ट शब्दों में यह कह देती हैं कि तुम्हें अपनी ओर से वन जाने के लिए कोई भी नहीं कहेगा। स्नेह और आग्रह के द्वारा तुम्हें कर्तव्यपथ से विमुख करने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में तुम्हें स्वयं ही कर्तव्य के पालन में शीघ्रता करनी चाहिए। प्रभु रामभद्र कैकेयी की बातों से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। वे तत्काल मुनि-वेष बना लेते हैं। किन्तु कैकेयी की इस हृदयहीनता ने लोगों की दृष्टि में उन्हें घोर घृणा का पात्र बना दिया। फिर भी कैकेयी को यह विश्वास था कि एक बार भरत के सिंहासन पर बैठते ही सारा पासा पलट जायगा। लोगों की घृणा दृष्टि से वे अपरिचित नहीं थीं। पर उनका यह सुदृढ़ विश्वास था कि जनरुचि परिवर्तनशील है। आज जो लोग आक्रोश प्रकट करते दिखाई दे रहे हैं, वे ही भविष्य में भरत की स्तुति करते हुए चरणों में नत होने लगेंगे। इसलिए भविष्य की सुखद कल्पना में उन्होंने वर्तमान की उपेक्षा कर दी। उन्हें यह गर्व था कि अकेले होने पर भी उन्होंने अपने उद्देश्य की उपलब्धि में सफलता प्राप्त कर ली।

राघवेन्द्र के वनगमन के पश्चात् महाराज श्री दशरथ की मृत्यु ने भी उन्हें मर्माहत नहीं किया। वे यही मानती रहीं कि अपने आग्रह के द्वारा उन्होंने महाराज के यशः शरीर की रक्षा की है। इतिहास सर्वदा दशरथ की याद ऐसे महापुरुष के रूप में करेगा जिन्होंने सत्य की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने में भी संकोच नहीं किया। उनका यह सुदृढ़ विश्वास था कि यह यश महाराज को उन्हीं की दृढ़ता से प्राप्त हुआ है। इस तरह वे स्वयं को साधुवाद देती रहीं। किन्तु यह मनोविलास तब टूट गया, जब भरत ननिहाल से लौट कर आये। नागरिकों की ओर से नगर में प्रविष्ट होते हुए श्री भरत का बड़ा ही उपेक्षापूर्ण स्वागत हुआ था। किन्तु कैकेयी के राजमहल में उस समय स्वर्ण थाल सजाए जा रहे थे। कैकेयी राजमाता कहलाने की सुखद कल्पना में विभोर थीं। स्वर्ण थाल में आरती उतार कर वे अत्यन्त सन्तुष्ट प्रतीत हो रहीं थीं, भरत की मुखाकृति पर शोक के चिह्न देखकर यदि उनके मन में कोई आशंका भी आई तो केवल यही कि कहीं

मेरे नैहर में कोई दुःखद घटना तो नहीं हुई ! इस विषय में अपनी जिज्ञासा वे तत्काल प्रकट कर देती हैं। श्री भरत दिग्भ्रमित से सारे वातावरण को देखते हैं। नगर और महल के विरोधाभास पर उनकी दृष्टि गई हो यह स्वाभाविक था। वे भी अपने परिवार के कुशल की जिज्ञासा प्रकट करते हैं। कैकेयी सर्वप्रथम महाराज की मृत्यु का समाचार सुनाती हैं। किन्तु उन्होंने इस महान् दुर्घटना को लघुहानि के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी दृष्टि से एक महान् सर्वनाश बचा लिया था। इस भूमिका में वे मन्थरा का नाम स्मरण किए बिना नहीं रहती हैं। पर यह अवश्य है कि वे मन्थरा को वह प्रमुखता नहीं देती हैं, जिसकी वह भागीदार थी। उनकी कृतज्ञता में भी अपनी दयालुता का भाव प्रकट हो रहा था। उन्होंने सारा कार्य स्वयं बना दिया था, बेचारी मंथरा तो इसमें सहायक बनी थी। वे इसी रूप में उसका स्मरण करती हैं :

आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।
हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि॥
सजि आरती मुदित उठि धाई।
द्वारेंहि भेंटि भवन लेइ आई॥
भरत दुखित परिवार निहारा।
मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा॥
कैकेई हरषित एहि भाँती।
मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारें।
पूँछति नैहर कुसल हमारें॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई।
पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥
कहुँ कहँ तात कहाँ सब माता।
कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥
सुनि सुत बचन सनेहमय कपट नीर भरि नैन।
भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन॥
तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मंथरा सहाय बिचारी॥

भरत की जिज्ञासा के उत्तर में कैकेयी ने बड़े ही उत्साह भरे स्वर में अपनी महान् भूमिका का इतिहास प्रस्तुत किया। उन्हें यह विश्वास था कि जब भरत यह सुनेंगे कि किस प्रकार उन्हें कारागार में डालने की योजना बनाई जा रही थी और कैसे उन्होंने इसके स्थान पर पुत्र के लिए सिंहासन की व्यवस्था की, तब भरत का मन कृतज्ञता से भरकर उनके चरणों में नत हुए बिना नहीं रहेगा। अभागी मां ने अपने महान् पुत्र को पहिचानने में कितनी बड़ी भूल कर दी थी, इसका पता तो

उन्हें तब चला जब सारा समाचार सुनकर भरत फूट पड़े।

यहीं से कैकेयी के जीवन में ग्लानि और पश्चात्ताप की प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ। उन्होंने अब तक सारी अयोध्या की आलोचना के वाग्बाणों को जिस कल्पित आधार के कवच पर झेल लिया था वह थी भरत के राज्य की कल्पना। पर जब कवच ही शस्त्र बन कर प्रहार करने लगे तब योद्धा के निस्सहाय रूप की कल्पना की जा सकती है। एक मां जिसने अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिए क्या कुछ नहीं किया, अपने ही पुत्र द्वारा इतने निर्मम और कठोर शब्दों को सुनने की कल्पना भी नहीं कर सकती थीं। कहां तो वे कृतज्ञ भरत की कल्पित मूर्ति को हृदय में संजोए हुए थीं और कहां उसी पुत्र के प्रहारों से उनकी सारी कल्पना धूल में मिल गई। इस कठोर शब्दावली का प्रयोग उस सन्त के द्वारा किया गया जो अपने मौन और मृदुभाषिता के लिए सारी अयोध्या में विख्यात था :

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा।
पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥
जौं पैं कुरुचि रही अति तोही।
जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा।
मीन जिअन निति बारि उलीचा॥
हंस बंसु दशरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूं जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥
जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड-खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥
सरल सुसील धरम रत राऊ।
सो किमि जानै तीय सुभाऊ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं।
जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही।
को तू अहसि सत्य कहु मोही॥

जो हसि सोहसि मुहँ मसि लाई ।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई ।।

प्रस्तुत प्रसंग के प्रारम्भ में भरत का स्मरण राजकुमार के रूप में करते हुए गोस्वामी जी ने बड़ी ही अभिप्रायमयी भाषा का प्रयोग किया है। यह एक पुत्र द्वारा की जाने वाली मां की भर्त्सना मात्र नहीं है। यह तो एक राजकुमार के द्वारा अपराधी को दिया जाने वाला दण्ड है। गुरुजनों के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग करना ही मृत्युदंड के तुल्य है। इसका बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण महाभारत में प्राप्त होता है। अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि वह गाण्डीव की निन्दा करने वाले को मृत्युदंड देगा। किसी अवसर विशेष पर धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा गाण्डीव की निन्दा की गई। अर्जुन शस्त्र लेकर युधिष्ठिर के वध के लिए उद्यत हो गया। भगवान कृष्ण के द्वारा रोके जाने पर उसने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया। भगवान कृष्ण ने धर्म का विश्लेषण करते हुए अर्जुन को यह बतलाया कि युधिष्ठिर जैसे सम्मानित भ्राता के लिए कुछ कठोर वाक्यों का प्रयोग ही मृत्युदंड है। अर्जुन ने प्रभु के आदेश का पालन किया। राजकुमार भरत के समक्ष भी यही धर्म-संकट था। एक न्यायपरायण राजकुमार के द्वारा अपराधी को दण्ड दिया जाना ही नीतिसंगत है। पर जब वह दण्डनीय अपराधिनी मां के वन्दनीय पद को शोभित कर रही हो तब उसे कैसे दण्डित किया जाय। वस्तुतः कैकेयी के लिए की गई कठोर शब्दों में भर्त्सना ही राजकुमार के द्वारा दिया जाने वाला मृत्युदण्ड था। जहां कैकेयी के वाक्यों द्वारा भरत पर पड़ने वाले प्रभाव के लिए गोस्वामी जी ने अनेक उपमाओं का प्रयोग किया है, वहां भरत के वाक्यों से कैकेयी पर कैसी प्रतिक्रिया हुई इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया। इसका सांकेतिक तात्पर्य यही है कि वस्तुतः इन वाक्यों से कैकेयी की मृत्यु हो गई। जीवित व्यक्ति की प्रतिक्रिया का ही उल्लेख किया जा सकता है। इसके पश्चात् कैकेयी का पुर्नजन्म होता है। ग्लानि और पश्चात्ताप से भरी हुई कैकेयी राम की स्मृति में खो गई। भरत की निर्मम वाणी की तुलना में उन्हें वन जाते हुए राघवेन्द्र की वाणी का स्मरण हो आया हो, यही स्वाभाविक प्रतीत होता है। उन्हें लगा होगा कि पुत्र के चुनाव में उन्होंने कितनी बड़ी भूल कर दी। पर इस विषय में गोस्वामी जी सर्वथा मौन हैं। इसके पश्चात् उनकी प्रतिक्रिया का संकेत सती होने के संकल्प में परिलक्षित होता है। उन्हें जीवन की तुलना में मृत्यु का वरण ही श्रेयस्कर लगा होगा। जहां अन्य माताएं धार्मिक दृष्टि से सती होने के लिए प्रस्तुत थीं, वहां कैकेयी की मनःस्थिति सर्वथा भिन्न थी। राजमाता बनकर जीवित रहने का उनका संकल्प ध्वस्त हो चुका था। राम जैसे पुत्र को उन्होंने वन दे दिया था। अब समाज की घृणा और उपेक्षा छोड़ कर उनके लिए बचा ही क्या था? इसलिए यदि उन्होंने मृत्यु के वरण को श्रेयस्कर समझा हो तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। किन्तु भरत ने जहां अन्य माताओं को सत्ती होने से विरत किया वहां कैकेयी को भी सती नहीं

होने दिया। सम्भवतः उन्होंने यही कहा होगा कि आपका पाप इस अग्नि में जल-कर भी समाप्त होने वाला नहीं है। फिर सती होकर स्त्रियां पतिलोक में ही तो जाती हैं। महाराज श्री वहां भी आपको देखकर दुःख और पीड़ा से सन्त्रस्त हो उठेंगे। इसलिए आप जीवित रहें और पश्चात्ताप की अग्नि में स्वयं को जलाकर विशुद्ध बनायें।

चित्रकूट की यात्रा में जो लोग श्री भरत के साथ जाते हैं, उनमें कैकेयी भी एक थीं। यह उनके द्वारा अपराध के परिमार्जन का प्रयास था। चित्रकूट में प्रभु का व्यवहार कैकेयी की ग्लानि को और भी बढ़ा देता है। रामभद्र ने चित्रकूट में भी सर्वप्रथम इसी माता से मिलकर प्रणाम निवेदन किया। साथ ही उनकी ग्लानि को दूर करने के लिए सारी घटनाओं के पीछे काल, कर्म, विधि की प्रेरणा का संकेत दिया :

प्रथम राम भेंटी कैकेई।
सरल सुभायँ भगति मति भेंई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

किन्तु उनकी ग्लानि सीमातीत थी। वह स्वयं को कुछ बोलने की स्थिति में नहीं पाती हैं :

गरइ गलानि कुटिल कैकेई।
काहि कहै किहि दूषन देई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई॥
महि न बीचु बिधि मीच न देई॥
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं।
राम बिमुख थल नरक न लहहीं॥

उनकी एकमात्र कामना मृत्यु रह गयी थी। किन्तु इस पश्चात्ताप और ग्लानि के बाद भी कवि द्वारा उनकी भर्त्सना ही की गयी। यह कहकर कि 'राम विमुख' को नर्क भी स्थान देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता, कवि ने निर्ममता-प्रदर्शन की पराकाष्ठा कर दी है। पर इसके द्वारा भी सम्भवतः उनका तात्पर्य राम के औदार्य की ओर जनसमाज का ध्यान आकृष्ट करना रहा है। मानो वे यह कहना चाहते हैं कि जिसे नर्क में भी स्थान नहीं है उसे भी हमारे प्रभु हृदय में स्थान देते हैं—"ऐसो को उदार जग माहीं।"

चौदह वर्षों की लम्बी अवधि को कैकेयी ने घोर ग्लानि और पश्चाताप में ही व्यतीत किया। पर लगता है लंका-विजय के पश्चात् राम के लौट आने पर अपने हृदय के बोझ को कुछ हल्का कर पाईं। रामभद्र ने सर्वप्रथम कैकेयी अम्बा के भवन में ही प्रवेश किया। जब सारी अयोध्या राम के स्वागत में उमड़ पड़ी थी, तब भी अपनी अपराध भावना से संत्रस्त कैकेयी अपने महल के कोने में मुंह

छिपाए पड़ी थीं। किन्तु राघव ने अपनी इस दु:खिनी माता को हृदय से लगा लिया। 'बचन रचना पटु' प्रभु ने अपनी विजय का सारा श्रेय मां के चरणों में अर्पित कर दिया। प्रभु ने कहा होगा, "मां ! यदि तुमने वन जाने का वरदान न मांगा होता तो यह लोक मंगल का महान कार्य कैसे सम्पन्न होता ? मुझे विश्व-विजय की जो ख्याति प्राप्त हुई है वह तुम्हारी ही अनुकम्पा का परिणाम है।" प्रभु अपने प्रयास में सफल रहे। चौदह वर्ष से लदा हुआ ग्लानि और पश्चात्ताप का बोझ हल्का हो गया। यद्यपि वे जीवन के अन्त तक पुन: भरत का स्नेह नहीं पा सकीं किन्तु रामभद्र के शील, सौजन्य और स्नेह ने उस रिक्तता की पूरी तरह पूर्ति कर दी थी।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

श्री सुमित्रा जी

सुमित्रा अम्बा अयोध्या के राजकुल रूप उद्यान की रजनीगंधा हैं। रजनीगंधा को दिन के प्रकाश में देखकर किसी शिष्टता का बोध नहीं होता है। किन्तु रात्रि के सघन अन्धकार में उसके सौरभ से प्रकृति के मन और प्राण पुलकित हो उठते हैं। साधारण सुख-शान्ति की परिस्थितियों में सुमित्रा का व्यक्तित्व विशिष्ट रूप से सामने नहीं आता है किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में उनके व्यक्तित्व से समर्पण का ऐसा सौरभ विनिःसृत होता है जिसके आघ्राण मात्र से हृदय श्रद्धा से भर उठता है। वे न तो महारानी कौशल्या की भांति वरेण्य पट्टमहिषी के पद पर अभिषिक्त थीं और न ही कैकेयी के समान महाराज दशरथ की प्रिया के रूप में उन्हें ख्याति प्राप्त थी। फिर भी उनके सेवा-भाव की विशिष्टता अपनी लोकप्रियता से अपने नाम को सच्ची सार्थकता प्रदान कर रही थी। कौशल्या और कैकेयी दोनों का ही स्नेह उन्हें समान रूप से प्राप्त था। इसकी एक झलक पायस वितरण के समय दिखाई देती है।

श्रृंगी ऋषि के आचार्यत्व में पुत्रेष्टि-यज्ञ सम्पन्न हुआ। अग्निदेव चरुपात्र लेकर प्रकट हुए, और उन्होंने पायस के समुचित वितरण का आदेश दिया :

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥
तब बसिष्ठ कछु हृदयँ बिचारा।
सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई।
जथा जोग जेहि भाग बनाई॥

चरु-वितरण का कार्य अनोखी रीति से सम्पन्न हुआ। जहां कौशल्या और कैकेयी सीधे महाराज के हाथ से चरु प्राप्त करती हैं वहां सुमित्रा के साथ भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता है। इस व्यवहार में सम्मान की तुलना में स्नेह और अपनत्व का भाव छिपा हुआ था। कौशल्या और कैकेयी के मन में सुमित्रा के प्रति जो समान अपनत्व था उसकी रक्षा के लिए ही चरु का एक-एक भाग दोनों महारानियों के हाथ से सुमित्रा जी को दिलवाया गया। इस तरह उनका सौभाग्य भी द्विगुणित रूप में सामने आया। जहां दोनों महारानियां केवल एक-एक पुत्रों की मां कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकीं, वहां सुमित्रा दो लाड़ले पुत्रों की जन्मदात्री बनीं :

अर्ध भाग कौसिल्यहि दीन्हा।
उभय भाग आधे कर लीन्हा॥

कैकेई कहँ सो नृप दयऊ।
रह्यो सो उभय भाग पुनि भयऊ॥
कौसल्या कैकेई हाँथ धरि।
दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥

कौशल्या और कैकेयी ने अपने हाथों से भाग देने की जो उदारता दिखाई थी, उसका प्रत्युत्तर सुमित्रा ने महान उदात्तता के साथ प्रदर्शित किया। प्रत्येक मां अपने पुत्र को समृद्धि और सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर देखना पसन्द करती है। वह यही स्वप्न संजोकर अपने बालक का लालन-पालन करती है। वह उस स्वप्न के साकार होने के दिन की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करती है। किंतु सुमित्रा इससे सर्वथा भिन्न रूप में सामने आती हैं। स्वामित्व के स्थान पर वे सेवक पुत्र की कामना लेकर गर्भ धारण करती हैं और अपने पुत्रों को सेवा धर्म की दीक्षा देकर उन्हें उनकी ही सेवा में लौटा देती हैं, जिन्होंने उन्हें चरु भाग देने की उदारता दिखाई थी। इस तरह वे ऐसे पुत्रों की मां बनीं जो सेवा और समर्पण की दृष्टि से मानस में अप्रतिम हैं। यदि उनके एक पुत्र ने अपना जीवन रामभद्र की सेवा में समर्पित कर दिया तो दूसरा भरत का अनुगामी बनकर मूक समर्पण का अप्रतिम दृष्टान्त बना :

बारेहि ते निज हित पति जानी।
लछिमन राम चरन रति मानी॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई।
प्रभु सेवक जस प्रीति बड़ाई॥

स्वयं सुमित्रा अम्बा के अन्तःकरण में महारानी होने के गर्व का लेश भी न था। इसलिए वे मांगलिक अवसरों पर स्वयं अपने हाथों से वे कार्य करती दिखाई देती हैं जो दास-दासियों के द्वारा सम्पन्न हो सकते थे :

चौंके चारु सुमित्राँ पूरी।
मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥

किन्तु उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक उज्ज्वल पक्ष राघवेन्द्र के वनगमन के समय अभिव्यक्त हुआ। लक्ष्मण प्रभु के साथ वनगमन के लिए व्यग्र थे, और प्रभु अनेक प्रकार से समझाकर भी उन्हें उनके संकल्प से विरत न कर पाये थे। रामभद्र की मुख्य प्रेरणा यह थी कि भावुकता और स्नेह के कारण कर्त्तव्य का तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए। गुरुजनों की सेवा व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। राज-कुल के प्रतिनिधि के रूप में प्रजा की सेवा भी महानतम कर्तव्यों में से एक है :

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा।
होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥

गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहुं परइ दुसह दुख भारू॥

किन्तु लोक-धर्म की यह व्याख्या लक्ष्मण स्वीकार नहीं करते हैं। न तो इस प्रकार के धर्म पालन के द्वारा होने वाले परिणाम के लिए ही वे रंचमात्र उत्सुक थे। उन्होंने साफ शब्दों में अपना दृष्टिकोण प्रभु के समक्ष उपस्थित किया : धर्म और नीति का यह उपदेश उन्हें ही दिया जाना चाहिए जो कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति पाना चाहते हों। गुरु, पिता, माता इनमें से किसीको मैं नहीं जानता, मैं तो आपके स्नेह के द्वारा पालित एक नन्हा शिशु हूं। मेरे सर्वस्व एकमात्र आप ही हैं :

दीन्हि मोहि सिख नीक गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुं ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहं प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउं काहू।
कहउं सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहं लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबन्धु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

लक्ष्मण की आस्था के बोल इतने स्पष्ट थे कि प्रभु के पास कहने के लिए कुछ बचा ही न था, अतः वें यह कहकर अपनी पराजय स्वाकार कर लेते हैं कि जाओ मां से विदा लेकर चले आओ, और मेरे साथ वन की ओर प्रस्थान करो :

बिदा मातु सन आवहु मांगी।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

इस अवसर पर प्रभु का व्यवहार विचित्र-सा प्रतीत होता है। वे चौदह वर्ष की लम्बी अवधि के लिए वन की ओर प्रस्थान कर रहे थे। क्या इस यात्रा से पूर्व सुमित्रा अम्बा के चरणों में नमन करना उनके लिए उपयुक्त न होता! विशेष रूप से यह तब और भी अधिक आवश्यक हो जाता है जब वे सुमित्रानन्दन को चौदह वर्षों के लिए साथ ले जाना चाहते हैं। पर लक्ष्मण को मां से विदा लेने का आदेश देकर वे स्वतः उनके पास जाने से विरत रहते हैं। बहिरंग रूप से उपेक्षा प्रतीत होने

वाली इस घटना में रामभद्र की भावुकता का दिव्य रस भरा हुआ है। वन यात्रा के प्रसंग में तीनों माताओं के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में जो पार्थक्य दिखाई देता है उसके पीछे भी यही भावुकता कार्य कर रही थी। वनगमन के अवसर पर वे कैकेयी अम्बा से जहां दो बार मिलते हैं वहां कौशल्या अम्बा के सन्निकट केवल एक बार जाना ही आवश्यक समझते हैं और सुमित्रा अम्बा से तो वे एक बार मिलने की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं करते। यह अपनत्व की पराकष्ठा का द्योतक है। समाज में जिन औपचारिक व्यवहारों को निभाने की चेष्टा की जाती है उसके पीछे दूसरों को सन्तुष्ट करने की भावना ही तो विद्यमान रहती है। व्यावहारिक औपचारिकता के पीछे मुख्य भय दूसरों के असन्तुष्ट हो जाने का ही होता है। दूरी में यह औपचारिकता और अधिक आवश्यक हो जाती है। जहां किसी प्रकार का भय विद्यमान नहीं है वहाँ शिष्टाचार के यह बन्धन भी स्वतः ही कम हो जाते हैं। कैकेयी के प्रति व्यवहार की जिस सजगता का दर्शन होता है उसके पीछे भी यही भावना विद्यमान है। इसके लिए विनय पत्रिका में बड़ा ही स्वाभाविक दृष्टान्त दिया गया है: राघव मां कैकेयी के मन की सम्भाल उसी प्रकार रखते हैं जैसे अपने शरीर में होने वाले फोड़े की रक्षा की जाती है:

कह्यो राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यौं निज तन मरम कुघाउ॥

फोड़े के प्रति दिखाई जाने वाली यह सजगता स्नेह के स्थान पर भय का ही परिचायक है। हाथ के द्वारा शरीर के अन्य अंगों को छूते हुए किसी प्रकार की भय वृत्ति कार्य नहीं करती है पर जिस अंग में फोड़ा हो जाता है, उधर हाथ बढ़ाते ही सावधानी आ जाती है। कैकेयी अम्बा के प्रति राघवेन्द्र के व्यवहार में यही मनः-स्थिति विद्यमान है। वन जाते हुए कौशल्या अम्बा से आदेश लेना भी वे अपना उचित कर्त्तव्य मानते हैं; किन्तु सुमित्रा से उनका सम्बन्ध भौतिक धरातल से सर्वथा ऊपर उठा हुआ है। कैकेयी की दृष्टि में राघवेन्द्र के प्रति जो प्रियता थी उसके पीछे राम के शील-सौजन्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी दृष्टि में वे एक ऐसे विमातृ पुत्र थे जो अपनी माता की तुलना में उन्हें अधिक सम्मान देते थे। कौशल्या अम्बा की भावनाएं मिली-जुली-सी हैं। उन्हें एक से अधिक अवसरों पर राम के ईश्वरत्व का परिचय प्राप्त हुआ था, फिर भी उनकी वात्सल्य भावना उनके इस ज्ञान पर हावी थी। राम जैसे सद्गुणसम्पन्न पुत्र की माता होने का उन्हें गर्व था। किन्तु सुमित्रा अम्बा के लिए राम साक्षात् ब्रह्म हैं। इस विषय में उनकी दृष्टि इतनी भ्रांति रहित थी कि पूरे जीवन में इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे मां की अपेक्षा राम की भक्त ही अधिक हैं। बहिरंग दृष्टि से उन्होंने मातृत्व का अभिनय भले ही किया हो पर एक क्षण के लिए भी वे राघवेन्द्र को अपने अन्तर्मन में पुत्र या राजकुमार के रूप में नहीं देख पातीं। उनकी भावना का आधार यही सुदृढ़ निष्ठा है। इस अविचल नींव पर आधारित होने के कारण ही उनकी भावना के भवन

को परिवर्तित परिस्थितियों का तूफान भी नहीं तोड़ पाया। अन्तर्यामी राम उनकी भावनाओं से भली भांति परिचित हैं। इसलिए लक्ष्मण को औपचारिकता का आदेश देते हुए भी स्वयं इसका निर्वाह करते हुए नहीं दिखाई देते। उन्हें एक क्षण के लिए भी यह आशंका नहीं होती कि सम्भव है सुमित्रा अम्बा अपने पुत्र को वन जाने का आदेश न दें। इसलिए तो उन्होंने आदेश शब्द का प्रयोग किया ही नहीं। वे लक्ष्मण से कहते हैं, "मां से विदा ले आओ।" वे लक्ष्मण को यह भी दिखा देना चाहते थे कि वे जिस निष्ठा का दावा कर रहे हैं, सुमित्रा अम्बा उसमें उनसे भी कहीं आगे हैं।

भावना की भूमि पर इस प्रसंग को एक भिन्न रूप में भी देखा जा सकता है। समय पर ऋण न चुका पाने वाला सभ्य व्यक्ति अपने धनी के सामने जाने में संकुचित होता है। पुराना ऋण चुकाये बिना नए ऋण की आवश्यकता होने की मनःस्थिति में उसके संकोच की कल्पना की जा सकती है। रामभद्र स्वयं को बाल्यावस्था से ही सुमित्रा अम्बा के समक्ष ऋणी मानते हैं। उनके पुत्र के द्वारा जो अप्रतिम सेवा की जा रही थी, उसका बदला चुकाने की सामर्थ्य प्रभु को स्वयं प्रतीत नहीं होती। आज वे जब पुत्र को उसकी माता से चौदह वर्ष के लिए दूर वन में ले जाने के लिए प्रस्तुत हैं तब उनका लज्जित होना स्वाभाविक ही था। वे सोचते हैं कि मुझ जैसा ऋणी सुमित्रा अम्बा के समक्ष जाने योग्य नहीं है। पर उन्हें सुमित्रा अम्बा की उदारता पर प्रगाढ़ विश्वास है। वे यह भलीभांति जानते हैं कि इस मां ने देना ही देना सीखा है, लेना नहीं।

प्रभु के आदेश पर लक्ष्मण सुमित्रा अम्बा के सन्निकट जाते हैं। सुमित्रा अम्बा वनवास के समाचार से अनभिज्ञ थीं इसलिए लक्ष्मण की मुखाकृति पर विषाद का भाव देखते ही चकित रह गईं। जिज्ञासा प्रकट करने पर लक्ष्मण ने सारे समाचार उन्हें बताए। कैकेयी द्वारा किये जाने वाले व्यवहार की बात सुनकर वे स्तब्ध रह गईं। कैकेयी के प्रति उनके मन में जो स्नेह और सम्मान था, उसके विनष्ट होने में एक क्षण का भी विलम्ब न लगा। और उन्हें 'पापिनि' के रूप में स्मरण करते हुए किसी झिझक या संकोच का अनुभव नहीं होता है :

समुझि सुमित्राँ राम सिय रूप सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥

एक क्षण में कैकेयी के प्रति सारे सद्भावों की समाप्ति उनके भ्रांतिरहित चिन्तन का परिचायक है। भौतिक लाभ-हानि की दृष्टि यदि उनके समक्ष होतीं तो वे कैकेयी को इस रूप में स्मरण नहीं करतीं। कैकेयी से अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने में ही उन्हें अपना और लक्ष्मण का भला दिखाई देता। किन्तु भौतिक लाभ-हानि से परे वे राघवेन्द्र की अनन्यानुरागिणी हैं। विनय पत्रिका में गोस्वामी जी ने 'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही' कह-कर जिस जीवन-दर्शन का वर्णन किया है, सुमित्रा अम्बा के जीवन में वह पूरी

तरह साकार हो रहा है। मां के आंखों में आंसू छलक पड़े और उन आंसुओं को सौमित्र ने ममता प्रेरित आंसू समझ लिया। उन्हें लगा कि मां का ममत्व उनके साधन-पथ में अवरोध बनने जा रहा है। इससे वे कुछ क्षणों के लिए अत्यन्त व्याकुल हो गए। किंतु सुमित्रा अम्बा के अगले वाक्यों को सुनते ही वे आश्चर्यचकित हो उठे। उन्हें लगा कि जिन्हें वे साधन-पथ का अवरोध समझ रहे थे, वे साधन-पथ की मार्गदर्शिका सिद्ध हुईं। उन्होंने मां को एक ऐसे गुरु रूप में देखा जो शिष्य की त्रुटियां बताकर उसे सही मार्गदर्शन देता है। सुमित्रा अम्बा के द्वारा दिया जाने वाला उपदेश, आदेश और आशीर्वाद सर्वथा अनुपम है। उपासना और भाव की ऐसी व्याख्या मानस के विरल प्रसंगों में ही उपलब्ध है :

धीरज धरेउ कुअवसर जानी।
सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं।
सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के।
स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥
पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ भलु एहू।
राम सीय पद सहज सनेहू॥

राग़ु इरोषु रिषा मद मोहू।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू।
सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू।
सुत सोइ करेहु इहिइ उपदेसू॥
उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

प्रभु के घर रहने के अनुरोध के उत्तर में लक्ष्मण ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया था उसमें धर्म और प्रेम परस्पर विरोधी रूप में दिखाई देते हैं। वे प्रेम की तुलना में धर्म को अस्वीकार कर देते हैं। उसे पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे उन्होंने प्रभु के आदेश की अवहेलना कर दी हो। किन्तु वहीं सुमित्रा अम्बा के उपदेश में धर्म और प्रेम सर्वथा एकाकार हो गए हैं। गुरुजनों की सेवा के उपदेश के उत्तर में लक्ष्मण इन सम्बन्धों को अस्वीकार कर देते हैं। शास्त्र गुरुजनों की सेवा को बड़ा महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं कि 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव।' सुमित्रा अम्बा शास्त्र वाक्यों को एक नया अर्थ प्रदान करती हैं। जब शास्त्र माता और पिता की सेवा करने का उपदेश देते हैं तब वहां माता और पिता की परिभाषा का प्रश्न उपस्थित होता है। व्यक्ति के अनगिनत जन्म होते हैं और प्रत्येक जन्म में उसे अलग-अलग माता-पिता प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में क्या वर्तमान सम्बन्धों को आधार मानकर भूतकाल के सम्बन्धों को झुठला देना शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा युक्ति-संगत है? सुमित्रा अम्बा की दृष्टि में शाश्वत माता और पिता के सम्बन्ध के आधार बनाकर इस उलझन को सुलझाया जा सकता है। इसीलिए वे लक्ष्मण को समझाती हुई कहती हैं: "तुम्हें रामभद्र के आदेश का पालन करना चाहिए।" रामभद्र से यह कहने के स्थान पर कि मैं माता-पिता को नहीं मानता, यह कहना अधिक उपयुक्त था कि माता-पिता की सेवा के लिए ही मैं वन जाने का आदेश मांग रहा हूं। 'तात तुम्हारि मातु बैदेही' कहकर वे लक्ष्मण का ध्यान इसी तथ्य की ओर आकृष्ट करती हैं। श्री सीता के लिए 'बैदेही' शब्द का प्रयोग बड़ा सार्थक है। लक्ष्मण प्रभु के इस आदेश का पालन करने के लिए कि जाकर मां से विदा ले आओ सुमित्रा अम्बा के सन्निकट आते हैं, परन्तु उन्हें इसमें आपत्ति है। मानो वह उलाहना देती हुई कहती हैं कि बैदेही के पुत्र की दृष्टि यदि देह पर न गई होती तो वह आदेश के लिए यहां तक न आता। सुमित्रा अम्बा को लक्ष्मण

की निष्ठा पर तभी सन्तोष होता यदि वे आदेश के लिए उनके पास चलकर न आते। 'पिता राम सब भांति सनेही' कहकर उन्होंने सांकेतिक भाषा में महाराज दशरथ से उनकी तुलना की। महाराज दशरथ एक सनेही पिता के रूप में प्रसिद्ध थे किन्तु परिस्थितियों की प्रतिकूलता के सामने बाध्य होकर उन्हें अपने ही लाड़ले पुत्र का परित्याग करना पड़ा। मां इस तथ्य के द्वारा सांसारिक सम्बन्धों की अस्थिरता की ओर ध्यान आकृष्ट कर रही थीं। वे यह बताना चाहती हैं कि सच्चा स्नेही पिता तो एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है जो किसी भी परिस्थिति में जीव का परित्याग नहीं करता है। ऐसे शाश्वत सम्बन्ध को छोड़कर विश्व में बदलते हुए सम्बन्ध की कल्पना निस्सार है।

सभी लोग लक्ष्मण का स्मरण एक ऐसे समर्पित सेवक के रूप में करते हैं जिसने राघवेन्द्र के लिए सर्वस्व का परित्याग कर दिया। किन्तु इस विषय में सुमित्रा अम्बा की दृष्टि सर्वथा भिन्न है। उन्हें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि लक्ष्मण ने राम के लिए कोई त्याग किया है। इससे भिन्न उन्हें सारा त्याग भी रामभद्र में ही दिखाई देता है। इसीलिए वे कहती हैं कि वन में तुम्हारे लिए असुविधा का प्रश्न ही कहां है जब तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे साथ हैं। हां, राघवेन्द्र ने अवश्य तुम्हें सेवा का सुख देने के लिए माता-पिता का त्याग कर दिया है। वे यह स्पष्ट कर देना चाहती हैं कि तुम उनके साथ जाकर यह मिथ्या अहंकार न पाल लेना कि तुम एक त्यागी हो। कहीं स्वयं की कैकेयी से तुलना करते हुए लक्ष्मण के मन में यह भाव न आ जाए कि कैकेयी ने उन्हें कष्ट पहुंचाने के लिए वन दे दिया और मैं सुख देने के लिए साथ जा रहा हूं। इसीलिए वे यह वाक्य और जोड़ देती हैं कि "राघव के वनगमन का वास्तविक कारण तुम्हें सेवा का सुख देना है"। दिखाई देने वाले अन्य कारण केवल उनकी लीलामात्र हैं। सेवाधर्म की गुरुता को दृष्टिगत रखकर वे सेवापथ के विघ्नों से उन्हें विरत रहने की प्रेरणा देती हैं। यदि अन्तःकरण में राग, द्वेष, ईर्ष्या और मद-मोह की वृत्तियां उठती रहें तब समग्र अर्थों में सेवा असम्भव है। सेवक जब तक स्वामी के अन्तःकरण से अपने मन को [illegible]कार नहीं कर लेता है तब तक स्वामी के संकल्प की पूर्ति असम्भव है। राग-रोष आदि वृत्तियां मन को अनगिनत भागों में बांट देती हैं। इसीलिए मां इनसे पृथक् रहने की प्रेरणा देती हैं। 'जनि सपनेहुं इन्ह के बस होहू।' का तात्पर्य यह है कि व्यवहार में सेवक भी राग-द्वेष आदि का प्रदर्शन कर सकता है, पर मानसिक दृष्टि से इनसे सर्वथा दूर रहता है। उसकी स्थिति एक अभिनेता की भांति है जो रंगमंच पर विविध वृत्तियों का प्रदर्शन करता हुआ भी आन्तरिक दृष्टि से उनसे असम्पृक्त रहता है। प्रत्येक क्रिया-कलाप में वह सूत्रधार के संकेत पर ही दृष्टि रखता है।

शास्त्रों ने सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष बल दिया है। कर्तव्य-पालन के गौरव का बोध कराने के लिए वह इन सम्बन्धों की महिमा का वर्णन करता है। महिमा-बोधक वाक्यों में कभी-कभी तो उन्हें ईश्वर की तुलना में भी श्रेष्ठ बताया गया

है। 'गुरु ईश्वर से बढ़कर है, माता-पिता ईश्वर की तुलना में अधिक पूज्य हैं' इस प्रकार के अनेक वाक्य और उनके पूरक दृष्टांत ग्रन्थों में प्राप्त हो जाते हैं। पर जटिल प्रश्न तो तब आता है जब इनके मत परस्पर विरोधी रूप में सामने आते हैं। यदि माता-पिता और गुरु के आदेशों में टकराहट हो तो उस समय व्यक्ति का क्या कर्तव्य है ? इनमें वह किन्हें श्रेष्ठ स्वीकार करे ? सुमित्रा अम्बा के द्वारा दिया गया सूत्र इस उलझन को दूर करने में समर्थ है। 'मनिअ सबहिं राम के नाते' कहकर उन्होंने समस्या का सच्चा समाधान प्रस्तुत कर दिया। सारी उलझन शरीर को केन्द्र बनाकर विचार करने से ही उठ खड़ी होती है। जब तक शरीर का केन्द्र बनाकर कर्तव्यों का निर्णय किया जाएगा तब तक यह टकराहट समाप्त होने वाली नहीं है। हां, राम के नाते को केन्द्र बनाकर इन उलझनों से मुक्ति पाई जा सकती है। शरीर नश्वर और परिवर्तनशील है। इसलिए उसके आधार पर किए जाने वाले निर्णय भी इन्हीं धर्मों से युक्त होते हैं। किन्तु जिसने अपने सम्बन्धों का आधार शाश्वत प्रभु को बना लिया है, उसके समक्ष इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व आते ही नहीं। लक्ष्मण के जीवन में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव इसी सूत्र का परिणाम है।

अन्त में उनके द्वारा दिया गया आशीर्वाद मानस में दिए गए अन्य वरदानों की तुलना में कहीं आगे है। लक्ष्मण को शिक्षा और आदेश देने के पश्चात् अन्त में आशीर्वाद देती हुई वे कहती हैं कि सीता और राम के चरणों में रति प्राप्त हो। भक्तों का परम प्राप्तव्य भी यही है। मानस के प्रारम्भ में इसके क्रमशः सोपान का उल्लेख किया गया है। सन्त सभा अमराई है, श्रद्धा बसन्त ऋतु के समान है, सम यम-नियम आदि पुष्प हैं, ज्ञान फल है तथा भगवत चरणों में रति उस परिपक्व फल का रस है।

सन्त सभा चहुँ दिसि अमराई।
श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरि पद रति रस बेद बखाना॥

समस्त कामनाओं से विमुक्त परम विरागी श्री भरत भी चारों फलों के स्थान पर इस रसयुक्त फल की कामना करते हैं :

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

सुमित्रा अम्बा ने यह रति का वरदान तो लक्ष्मण को दिया ही किन्तु इसके साथ ही तीन शब्दों का और भी प्रयोग किया : "अबिरल, अमल और नित-नित नई।" साहित्य में रति को कामदेव की पत्नी के रूप में स्वीकार किया गया है जहां काम होगा वहां रति का होना अवश्यम्भावी है। भक्ति-शास्त्र में जिस रति का वर्णन किया गया है वह इस रति से सर्वथा भिन्न है। भक्ति में अविरलता को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। कभी संसार और कभी भगवान् का चिन्तन भक्ति

नहीं है। कामनाजन्य रति में अविरलता असम्भव है। कामी के जीवन में उत्पन्न होने वाली रति की आकांक्षा घटती-बढ़ती रहती है। कामना की पूर्ति के पहले उसमें जो व्याकुलता दिखाई देती है, कामना पूर्ण होते ही वह तिरोहित हो जाती है।

भक्त के जीवन में कामनाशून्य रति होती है। इसीलिए उसे अविरल होना चाहिए किन्तु अविरलता मात्र ही यथेष्ट नहीं है। इसके साथ निर्मलता भी अभिप्रेत है। दृष्टांत के रूप में नदी को ले सकते हैं। उसके प्रवाह में अविरलता होते हुए भी वर्षा ऋतु में निर्मलता नहीं रह जाती है। भक्त के चिन्तन में अविरलता के साथ अमलता की आवश्यकता है। कामग्रस्त नारद विश्वमोहिनी को प्राप्त करने की व्यग्रता में भगवान् की ही स्मृति करते हैं किन्तु इस अविरल चिन्तन में अमलता का अभाव था, क्योंकि प्रार्थना के द्वारा प्रकट प्रभु को देखकर वे उनसे उनके सौंदर्य की याचना करते हैं। इस तरह वासना की यह मलिनता अविरल चिन्तन के गौरव को कम कर देती है। किन्तु अमलता के बाद भी अन्तःकरण में पुरातनता का बोध रस भावना को समाप्त कर देता है। जीवन में व्यक्ति अनेकों वस्तुओं का अभ्यस्त होकर उनके बिना नहीं रह पाता है पर यह एक प्रकार की बाध्यता हो जाती है। रसानुभूति के लिए नवीनता का बोध परम आवश्यक है। भक्ति में भी पुरातनता के साथ-साथ नित्य नवीनता की अनुभूति ही भक्त को विरस होने से बचाती है। इस तरह रति के साथ प्रयुक्त किए जाने वाले तीनों शब्द भक्ति की पूर्णता के अनुपम सूत्र हैं।

भक्तिमयी सुमित्रा अम्बा अपने को लक्ष्मण के सम्बन्ध से सौभाग्यशालिनी मानती हैं। जहां एक ओर उन्होंने लक्ष्मण को वैदेही का पुत्र बताकर अपने सम्बन्ध की अस्वीकृति दी थी वहीं उन्होंने अपनी ओर से सम्बन्ध की स्थापना की। उनका तात्पर्य यह था कि लक्ष्मण उन्हें माता के रूप में न स्वीकार करें तभी उनकी भावना में पूर्णता बनी रहेगी। यदि उनके मन में यह भान बना रहे कि मेरी मां सुमित्रा हैं तो वन में भी कभी न कभी कुछ क्षणों के लिए उनका चिन्तन अवश्य होगा, यह चिन्तन उन्हें राम के चरणों से दूर करेगा। किन्तु सुमित्रा अम्बा लक्ष्मण को पुत्र मानकर जब यह चिंतन करेंगी कि मेरा पुत्र इस समय कहां होगा तब राम के चरणों में बैठे हुए लक्ष्मण का ही स्मरण होगा, इस तरह यह सम्बन्ध प्रभु की स्मृति दिलाने वाला बनकर सुमित्रा अम्बा की भावभूमि में सहायक बनेगा।

त्यागमयी सुमित्रा तत्काल लक्ष्मण को प्रभु के साथ जाने का आदेश देती हैं, पर स्वयं रामभद्र से मिलने नहीं जातीं, यह उनके सौजन्य की पराकाष्ठा है। वे दान का प्रदर्शन कर अपने लाड़ले रामभद्र को संकुचित नहीं करना चाहतीं। राम के संकोची स्वभाव से वे भलीभांति परिचित हैं। वे जानती थीं कि उन्हें सामने देखकर रामभद्र की आंखों में संकोच और लज्जा के भाव झलक उठेंगे। राम की संकोचभरी दृष्टि मां के लिए असह्य है। चौदह वर्ष के वियोग के भी क्षणों में रामभद्र से मिलने के लिए न जाना उनकी सुकुमारतम भावना को प्रकट करता है।

भरत के साथ अयोध्या का जो समाज चित्रकूट जाता है उसमें सुमित्रा भी सम्मिलित थीं पर चित्रकूट में उनकी भूमिका तटस्थता की है। वे यह भली भांति जानती हैं कि राघवेन्द्र का अयोध्या लौट पाना असम्भव है। इसलिए वे लौटने के प्रयास में भाग लेती हुई नहीं दिखाई देती हैं। उन्हें राम के लीला-विधान और निर्णय पर पूर्ण विश्वास था। वे भरत की भावना की रक्षा के लिए साथ जाकर भी मौन रहीं।

चौदह वर्ष की लम्बी अवधि में उनका एक और चित्र पुनः उभकर सामने आता है, जब लंका के रणांगण में मूर्च्छित मृत्यु के सन्निकट पहुंचे हुए लक्ष्मण का समाचार उन्हें ज्ञात होता है। सुमित्रा अम्बा के स्थान पर यदि कोई अन्य मां होती तो उसके मन में राम के प्रति उपालम्भ का भाव जाग्रत् होता, उसके मन में आक्रोश उमड़ता और वह सोचती कि उसके लाड़ले पुत्र को राम ने मृत्यु के मुख में ढकेल दिया। यदि ऐसे भाव सुमित्रा अम्बा के मन में आते तो मानवीय दृष्टि से उन्हें अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता था। किन्तु उनका हृदय उस अथाह समुद्र के समान है जिसकी गहराई को नाप पाना असम्भव है। इस समाचार को सुनकर सुमित्रा अम्बा के हृदय में उठने वाले भावों का बड़ा ही मार्मिक शब्द-चित्र गीतावली रामायण में प्रस्तुत किया गया है :

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामि काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन - सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति - भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात,छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपि सौं कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात! जाहु कपि संग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुज गति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

लक्ष्मण ने स्वामिकार्य के लिए स्वयं को रणभूमि में समर्पित कर दिया है, इस समाचार से उन्हें अपार सन्तोष की अनुभूति हुई। उन्हें वन जाते समय लक्ष्मण को दिए गए उस उपदेश की स्मृति हो आई जिसमें उन्होंने कहा था कि "जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू।" लक्ष्लण ने पूरी तरह इस उपदेश को चरितार्थ कर दिखाया। ऐसे पुत्र की माता होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ, इस भावना से वे स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगीं। पर इस समय कठिन अवसर पर राघवेन्द्र बन्धु रहित हो गये, यह स्मृति उन्हें व्यथा से भर देती है। पर मां को तत्काल उपाय सूझता है कि वे तो दो पुत्रों की माता हैं और दूसरा पुत्र उनका आदेश पाने के लिए कटिबद्ध खड़ा है। यह दृश्य उन्हें उत्साहित कर

देता है। वे शत्रुघ्न को बन्धु के पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इस दृश्य को देखकर भरत और हनुमान जैसे भक्त भी स्वयं में ग्लानि का अनुभव करने लगे। उन्हें लगा कि इस माता के प्रेम की तुलना में हम लोगों के हृदय सर्वथा स्नेह-शून्य हैं। स्वयं मां सुमित्रा ही उन्हें इस स्थिति से निकाल कर सचेत करती हैं।

भरत और हनुमान जैसे भक्तों का लज्जित होना सुमित्रा अम्बा के अतुलनीय गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण है। लंका का युद्ध विजय-पर्व के रूप में समाप्त हुआ। प्रभु अपनी प्रिया और प्रिय अनुज के साथ अयोध्या में पधारते हैं। लक्ष्मण गद्गद हृदय से सुमित्रा अम्बा के चरणों में नमन करते हैं किन्तु मां उन्हें आशीर्वाद के स्थान पर हृदय से लगा लेती हैं और ऐसा लगा कि जैसे अपने हृदय से दूर करना ही नहीं चाहतीं। बहुतों को लगा होगा कि मां का वात्सल्य उमड़ रहा होगा, बिछुड़े हुए पुत्र को पाकर किस मां का हृदय विह्वल न हो जाएगा। किन्तु यह सोचना वास्तविकता से परे था। मां उस समय भी एक भिन्न भावना में ही डूबी हुई थीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि तीनों माताओं में एकमात्र सुमित्रा ही ऐसी थीं जिन्हें राम के ईश्वरत्व पर पूर्ण विश्वास था। नाट्यमंच पर लीला में भले ही वे माता के रूप में व्यवहार का निर्वाह करती हुई दिखाई दें किन्तु अन्तःकरण से वे अनन्यायनुरागी रामभक्त हैं। अतः उनके हृदय में एक बलवती आकांक्षा राघवेन्द्र के चरण स्पर्श की थी जो व्यवहार की भूमि पर सम्भव न थी। लक्ष्मण को हृदय से लगाकर उन्होंने उस अतृप्त भावना की पूर्ति का मार्ग ढूंढ़ लिया। वे यह भली-भांति जानती हैं कि लक्ष्मण निरन्तर श्री राम के चरणों को हृदय मे सटाए रखते हैं। अतः उन्हें हृदय से लगाकर वे रामभद्र के चरणों के संस्पर्श का सुख प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी भावमयी मां के चरणों में कोटि-कोटि नमन।

• • •

बिरला अकादमी ऑफ
आर्ट एण्ड कल्चर